

आधुनिक कथा साहित्य

(Modern Fiction)

सूरज कुमार

आधुनिक कथा साहित्य

आधुनिक कथा साहित्य (Modern Fiction)

सूरज कुमार

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5588-5

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

आज की हिंदी कहानी ने अब भी गांव में घूमते ग्रामीण परिवेश को ही अपनी कथावस्तु बना लिया है। गांव से लेकर कस्बे की या फिर 'देश काल रहित' इन कहानियों में, अमानवीकरण के खतरे से लेकर संवेदनशून्यता का ठंडा स्वीकार, सारा कुछ मौजूद तो है पर इन सबके बावजूद शहर अपने परिवेश सहित जैसे यहां अनुपस्थित है और यह तब जब अब भी ज्यादातर कथाकार शहरों में हैं, छुट्टियों में गांव भले ही जाते हों! तो क्या इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि कुछ दिन मात्र गांव में बसने वाले साहित्यकार द्वारा उत्कृष्ट कथा साहित्य का सृजन हो पाता है?

कहानी साहित्यिक विधा में अत्यंत प्रसिद्ध एवं रोचक विधा है। जैसे-जैसे समय बदलता गया कथा साहित्य में भी यथासंभव रुख बदलता गया। कहानी के रूप का परिमार्जन और उसकी सामर्थ्य का विस्तार पिछली कई शताब्दियों में हुआ है। आज के कहानीकार की सफलता या असफलता का निर्णय इस आधार पर होगा कि वह उस शताब्दियों की विरासत का सही उपयोग करता हुआ उसमें समृद्धि ला सका है या नहीं और शायद नए कथाकार इस शताब्दी में कहानी के क्षेत्र में सफल हुए हैं।

आज के कहानीकार मानो बहुत ही सोच समझकर कथावस्तु का चयन करते हैं। आज का कहानीकार आसपास के जीवन की मांसल भूमि को छोड़कर किसी वास्तविक संकेतों में नहीं भटकना चाहता, इसलिए उसकी कहानी स्थूल

है। यथार्थ की प्रामाणिकता के साथ सांकेतिक प्रभावान्विति के समन्वय के सभी प्रयत्न सफल हुए हों, ऐसा नहीं। परन्तु कई कहानियाँ हैं, जिनमें इन विशेषताओं का निर्वाह बहुत सफलतापूर्वक हुआ है। भीष्म साहनी की 'भाग्यरेखा', राजेन्द्र यादव की 'नया मकान और प्रश्नवाचक पेड़', कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' और शेखर जोशी की 'बदबू' आदि कहानियाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। कहीं कहानी मानव-मन की विकृतियों का चित्रण करके उस वातावरण की भयावहता का संकेत देती है, जो उन विकृतियों को जन्म देता है, कहीं असुन्दर के विश्लेषण द्वारा सुन्दर के प्रति आस्था को व्यक्त करती है। कहानी के क्षेत्र में 'भाग्य रेखा', 'डेक', 'परिन्दे', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'राजा निरबंसिया', 'डिप्टी कलक्टरी', 'बदबूदार गली', 'गुलरा के बाबा' 'शहीद' और 'कोसी का घटवार' जैसी रचनाओं ने नए मूल्यों की स्थापना का श्रेय प्राप्त किया है।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

—लेखक

अनुक्रम

| | |
|--|-----|
| प्रस्तावना | v |
| 1. आधुनिक कथा साहित्य | 1 |
| 2. निर्मल वर्मा | 15 |
| प्रारंभिक जीवन | 16 |
| प्रकाशन | 17 |
| कव्चे और काला पानी | 39 |
| 3. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' | 81 |
| जीवनी | 81 |
| कार्य | 82 |
| भाषा-शैली | 84 |
| आज के युग में गुलेरी जी की प्रासंगिकता | 85 |
| पाठशाला | 87 |
| उसने कहा था | 88 |
| धर्मपरायण रीछ | 99 |
| 4. प्रेमचंद | 105 |
| जीवन परिचय | 106 |
| कार्यक्षेत्र | 107 |
| प्रेमचंद के जीवन संबंधी विवाद | 112 |

| | |
|-------------------------------------|------------|
| मुंशी के विषय में विवाद | 113 |
| विरासत | 113 |
| 5. अज्ञेय | 116 |
| जीवन परिचय | 116 |
| कार्यक्षेत्र | 117 |
| प्रमुख कृतियाँ | 117 |
| अज्ञेय रचनावली | 118 |
| 6. भीष्म साहनी | 129 |
| प्रमुख रचनाएँ | 130 |
| झूमर | 154 |
| 7. फणीश्वर नाथ 'रेणु' | 179 |
| जीवनी | 179 |
| लेखन-शैली | 180 |
| साहित्यिक कृतियाँ | 180 |
| 8. ज्ञानरंजन | 213 |
| कहानियों के अनुवाद एवं अन्य गतिविधि | 215 |
| संपादन | 215 |
| अमरूद का पेड़ | 232 |

1

आधुनिक कथा साहित्य

कहा जाता है कि 'यथार्थ को संजोते हुए जीवन की वास्तविकता का चित्रण कर समाज की गतिशीलता को बनाये रखने का मर्म ही कहानी है।' लेकिन उम्मीदों पर खरा नहीं उतर पा रहा है आधुनिक कथा साहित्य, क्योंकि जीवन के वास्तविक तथ्यों से कुछ हटकर ही आधुनिक कथा साहित्य ने रूप धारण कर लिया है। जिनसे उम्मीद सी बंधती थी कि इस दौरान कुछ ऐसी कहानियाँ आयेंगी जिनकी गूँज इस सदी के अंत तक सुनाई पड़ेगी, पर यहाँ ऐसा कुछ न था जो हिंदी कहानी की रचनात्मक सत्ता स्थापित करने की निर्मल इच्छा से भरा हो और अक्सर चर्चा के केंद्र में रचना से ज्यादा रचनेतर चीजें हावी रहीं हैं। महाभारत और महाबीर के दौर में विशेषांक के पहले 'महा' विशेषण जोड़ने की मौलिक कल्पना वाले रवीन्द्र कालिया ने छियासठ कहानियों के एकत्रीकरण करके आधुनिक जीवन की वास्तविकता को दर्शाने का प्रयास किया है और जब कालियाजी को कृष्णा सोबती की 'ऐ लड़की' कहानी ने इतना प्रभावित किया कि उन्होंने संपादकीय सिरों में भी इसका उल्लेख किया है। तब एक पाठक ने लिखा कि वे ऐ लड़की पढ़कर इतना डर गये कि गायत्री मंत्र का जाप करने लगे।

आज की हिंदी कहानी ने अब भी गांव में घूमते ग्रामीण परिवेश को ही अपना कथावस्तु बना लिया है। गांव से लेकर कस्बे की या फिर 'देश काल रहित' इन कहानियों में, अमानवीकरण के खतरे से लेकर संवेदनशून्यता का ठंडा

स्वीकार, सारा कुछ मौजूद तो है पर इन सबके बावजूद शहर अपने परिवेश सहित जैसे यहां अनुपस्थित है और यह तब जब अब भी ज्यादातर कथाकार शहरों में हैं, छुट्टियों में गांव भले ही जाते हों! तो क्या इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि कुछ दिन मात्र गांव में बसने वाले साहित्यकार द्वारा उत्कृष्ट कथा साहित्य का सृजन हो पाता है?

कहानी साहित्यिक विधा में अत्यंत प्रसिद्ध एवं रोचक विधा है। जैसे-जैसे समय बदलता गया कथा साहित्य में भी यथासंभव रुख बदलता गया। कहानी के रूप का परिमार्जन और उसकी सामर्थ्य का विस्तार पिछली कई शताब्दियों में हुआ है। आज के कहानीकार की सफलता या असफलता का निर्णय इस आधार पर होगा कि वह उस शताब्दियों की विरासत का सही उपयोग करता हुआ उसमें समृद्धि ला सका है या नहीं और शायद नए कथाकार इस शताब्दी में कहानी के क्षेत्र में सफल हुए हैं।

आज के कहानीकार मानो बहुत ही सोच समझकर कथावस्तु का चयन करते हैं। आज का कहानीकार आसपास के जीवन की मांसल भूमि को छोड़कर किसी वास्तविक संकेतों में नहीं भटकना चाहता, इसलिए उसकी कहानी स्थूल है। यथार्थ की प्रामाणिकता के साथ सांकेतिक प्रभावान्विति के समन्वय के सभी प्रयत्न सफल हुए हों, ऐसा नहीं। परन्तु कई एक कहानियाँ हैं, जिनमें इन विशेषताओं का निर्वाह बहुत सफलतापूर्वक हुआ है। भीष्म साहनी की 'भाग्यरेखा', राजेन्द्र यादव की 'नया मकान और प्रश्नवाचक पेड़', कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' और शेखर जोशी की 'बदबू' आदि कहानियाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। कहीं कहानी मानव-मन की विकृतियों का चित्रण करके उस वातावरण की भयावहता का संकेत देती है, जो उन विकृतियों को जन्म देता है, कहीं असुन्दर के विश्लेषण द्वारा सुन्दर के प्रति आस्था को व्यक्त करती है। कहानी के क्षेत्र में 'भाग्य रेखा', 'डेक', 'परिन्दे', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'राजा निरबंसिया', 'डिप्टी कलक्टरी', 'बदबूदार गली', 'गुलरा के बाबा' 'शहीद' और 'कोसी का घटवार' जैसी रचनाओं ने नए मूल्यों की स्थापना का श्रेय प्राप्त किया है।

आज की कहानी की अनुपलब्धियों के बारे में सोचे तो सबसे पहले यही बात ध्यान में आती है कि आज की कहानी समकालीन जीवन के यथार्थ का सही प्रतिनिधित्व नहीं कर पा रही, क्योंकि खंडगत जीवन के बहुत-से चित्रों के अन्दर आज के अखंड जीवन की परिकल्पना नहीं कर पा रहे हैं। कुछ लेखकों

के दिमाग में यह बात समायी है कि आज का नागरिक जीवन इस तरह के दलदलों में फँसा है कि वहाँ स्वस्थ मानव के दर्शन नहीं हो सकते।

हाँ हमें यह मानकर भी चलना है कि आज कोई कहानी की स्थिति बिगड़ गयी है ऐसी बात तो कतई नहीं, बल्कि आधुनिक कहानी में कविता की तरह अनेक नए-नए प्रयोग हो रहे हैं और एक स्वीकार करने वाली बात है कि प्रेमचंद, यशपाल, अज्ञेय युगीन कहानी की भाँति ही आज भी अच्छी कहानियाँ लिखी जा रही हैं, पढ़ी जा रही हैं इसमें कोई संदेह नहीं है। हम चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, भीष्म साहनी, धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव, मोहन चोपड़ा, कमल जोशी, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, अमरकान्त कृष्णा सोबती, रवींद्र कालिया आदि का नाम उल्लेख कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई नाम लिये जा सकते हैं, परन्तु नामों की परिगणना करना हमारा उद्देश्य नहीं है। आज की कहानी लेखकों की यह नई पीढ़ी कहानी के लिए निरन्तर नए-नए धरातल खोज रही है और इस नाते निरन्तर प्रयोगशील भी है।

हमारा देश ही गांवों में बसता है, तो यह तय है कि साहित्य का केंद्रबिंदु भी ग्रामीण जीवन ही ज्यादातर होता है, पर आजकल तो बदलाव या विकास के नाम पर साहित्य भी शहरी जीवन तक ही सीमित हो रहा है और साहित्य शहरी जीवन के आस-पास ही घिरकी मार रहा है। इससे भविष्य में आतंक निश्चय ही पैदा हो सकता है। सो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज की कहानी में हुए कुछ प्रयोगों के आधार पर जीवन के यथार्थ के सम्बन्ध में अपनी धारणा को संकुचित बनाकर हम जीवन के उत्तरोत्तर विकासमान रूप के साथ न्याय नहीं हो रहा है। जहाँ यह आवश्यक है कि लेखक अपने अनुभव-क्षेत्र से प्रेरणा ग्रहण करे, जिससे उसकी रचना जीवन के प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत कर सके।

नकली एवं आडंबरपूर्ण शहरी जीवन से बाहर आकर अनुभूति के आधार पर कथा साहित्य को पूर्ववत् अपना स्थान देने का प्रयत्न करें।

कथा साहित्य के मूल्यांकन की कई प्रविधियाँ हमारे सामने हैं। हर पद्धति भले ही वैचारिक रूप से भिन्न हो किंतु उसे भाषा का आश्रय लेना ही पड़ता है। पर प्रायः यह देखने में आता है कि आलोचना की पद्धतियों में भाषा को उचित स्थान नहीं दिया जाता। कथा भाषा की सही समझ भी उनमें नहीं होती। जाहिर है कि बिना भाषा की सही समझ के केवल विचारधारा के आधार पर बेढंगे मूल्यांकन कर लिए जाते हैं। आलोचना के नाम पर हमारे यहाँ ऐसा बहुत सा कूड़ा इकट्ठा हो चुका है। अतः आवश्यक है कि आधुनिक हिंदी कथा भाषा

की एक स्पष्ट समझ उपलब्ध हो ताकि आलोचनाएँ संयत रहें। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इसी समझ को सामने रखना है।

कथा-भाषा से हमारा आशय आधुनिक गद्य के कल्पना प्रधान रूपों-उपन्यास एवं कहानी-की भाषा से है। भाषा का प्रकार्य एवं गठन दोनों ही विधाओं में लगभग समान है। प्रभाव में, अंतर यह है कि औपन्यासिक भाषा समूची जीवन दृष्टि विकसित कर सकती है, जबकि कहानी की भाषा जीवन के कुछ संगत क्षणों का चुनाव करके उन्हें आलोकित करती है। इसलिए नहीं कि दोनों के आकार में अंतर है, बल्कि दोनों का विधान फर्क है विशेषतः परंपरागत रूप में। कहानी सर्जनात्मक गद्य का आद्य रूप और अधिकतर एक कोशकीय विधान है। उपन्यास का चरित्र द्वंद्वत्मक है, जहाँ जीवन दृष्टि के विकास की संभावना अधिक है। वैसे इधर कहानी भी यथार्थ के बहुस्तरीय व्यंजन की ओर अग्रसर है।

कथा का अस्तित्व, भारत में, ऋग्वेद से ही प्राप्त होता है। शास्त्र इसे 'विकल्प' के रूप में देखता रहा है—'कर्विमनीशी परिभूः स्वयम्भूः' (इशोपनिषद्)। किंतु 'आधुनिक कथा' एक निश्चित समय एवं संदर्भ से जुड़ी है, विशेषतः बीसवीं सदी से। इस प्रसंग को आ. रामचंद्र शुक्ल ने 'नई' एवं 'पुरानी' कथा के रूप में देखा है—

'पुराने ढंग की कथा कहानियों में कथा का प्रवाह अखंड गति से एक ओर चला चलता था जिसमें घटनाएँ पूर्वापर क्रम से जुड़ती सीधी चली जाती थीं.. नई कथाओं में घटनाओं की शृंखला सीधी न जाकर इधर उधर गुंफित होती चलती है।.. घटनाओं के विन्यास की यह वक्रता आधुनिक कहानियों की प्रत्यक्ष विशेषता है।' (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 336-37)

पर आधुनिक कथा एवं उसकी भाषा का स्पष्ट दर्शन शुक्ल जी के चिंतन में नहीं है। यह दृष्टि आजादी के बाद विकसित हुई। कथा रूपों को लेकर वर्तमान में कई शोध उपलब्ध हैं जिनमें राजेंद्र यादव, नामवर सिंह और मैनेजर पांडेय की दृष्टियाँ उल्लेखनीय हैं।

किंतु आधुनिक हिंदी कथा का विन्यास एवं विकास आधुनिक कथा भाषा से भी संबद्ध है—इस दृष्टि से अध्ययन न के बराबर है। रामस्वरूप चतुर्वेदी की पुस्तक 'हिंदी गद्य: विन्यास और विकास' इस प्रसंग में उल्लेखनीय है, किंतु यह अधूरा अध्ययन है। प्रस्तुत लेखन का उद्देश्य इस दृष्टि की ही परख एवं उसका विस्तारण है।

पश्चिमी साहित्य में रूपवादी माने गए रोमन याकोब्सन ने कथा भाषा की बहस शुरू की। (मेटानिमिक और मेटाफोरिक, क्लोसिंग स्टेटमेंट, 1975) बाद में, अँग्रेजी में, डेविड लाज ने 'लैंग्वेज ऑफ फिक्सन 1978' में कथा भाषा को स्वतंत्र रूपाकार देने की कोशिश की। उनके चिंतन का पर्यवसान 'टूवार्ड्स ए पोएटिक्स ऑफ फिक्सन' के रूप में होता है अर्थात् भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका के आधार पर कथा के काव्य शास्त्र का निर्माण।

वस्तुतः, आदि कथाओं-रानी केतकी की कहानी, भाग्यवती आदि-में भाषा का जो रूप हम देखते हैं, वही-ग्यारह वर्ष का समय, गोदान आदि-का नहीं है। गठन एवं प्रभाव में दोनों भाषाएँ जमीन-आसमान की तरह भिन्न हैं। यह भिन्नता क्रमशः बनी। निरंतर सर्जनात्मकता की चाह ने आधुनिक कथा भाषा को रूपाकार दिया। यह चाह आधुनिक मनुष्य को ठीक से रचने की रही।

सर्वप्रथम हिंदी कथा भाषा की आरंभिक स्थिति पर दृष्टिपात करें। प्रारंभ में दोनों ही कल्पना प्रधान रूपों (उपन्यास, कहानी) में भाषा का एक सामान्य, अव्यस्थित तथा स्थूल प्रयोग दिखता है। भाग्यवती, परीक्षागुरु, श्यामा स्वप्न, चंद्रकांता तथा रानी केतकी की कहानी जैसी कथाओं में भाषा का उपर्युक्त स्तर नजर आता है। कुछ अंश देखें -

'पर कुँवर जी का रूप क्या कहूँ... न खाना न पीना न मग चलना... वह कुँवर उदैभान जिससे तुम्हारे घर का उजाला है इन दिनों में कुछ उसके बुरे तेवर और बडोल आँखें दिखाई देती हैं।' (रानी केतकी की कहानी, पृ.?)

'मैं कहाँ तक उस सुंदर देश का वर्णन करूँ... जहाँ की निरझणी... जिनके तीर वानीर से भरे, मदकल कूजित विहंग में से शोभित है।.. धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो।' (श्यामा स्वप्न, 1888)

यह दरअसल गद्य की आद्य स्थिति है, जिसे सर्जनात्मक गद्य कहने में भी संकोच होता है। संकोच इसलिए कि यह इतिवृत्तपरक, कला-कल्पनाहीन एवं अर्थ सघनताहीन है। घटना वैचित्र्यता यहाँ लक्ष्य है तथा वर्णन मात्र ही प्रधान। हो, सो जैसे शब्द संकेत करते हैं कि गद्य का विन्यास भी स्थिर नहीं है। भाषा वस्तुतः यहाँ द्वितीयक है। शैली भी स्थिर नहीं। देवकीनंदन खत्री जी जहाँ हिंदुस्तानी में लिखते थे तो वहीं गोस्वामी जी अधिकांशतः संस्कृत प्रायः समास बहुला में। कथा-गद्य का यह स्वरूप देखकर ही आ. शुक्ल असमंजस में हैं। कहीं न कहीं भाषा का अस्थिर परिदृश्य उनकी आलोचनात्मक चेतना को प्रभावित भी करता है। वे खत्री जी को मौलिक उपन्यासकार मानते हुए भी

साहित्य की दृष्टि से दूसरे स्थान पर टरका देते हैं और किशोरीलाल गोस्वामी को पहला उपन्यासकार मान लेते हैं। तर्क देखिए—‘दूसरे मौलिक उपन्यासकार पं. किशोरीलाल गोस्वामी हैं, जिनकी रचनाएँ साहित्य कोटि में आती हैं। साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिंदी का प्रथम उपन्यासकार कहना चाहिए।’ (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 443) अब जब शैली स्थिर नहीं, भाषा का स्वरूप अधर में है तो किस कारण से गोस्वामी जी पहले मौलिक उपन्यासकार हुए? क्या अधिक उपन्यास लिख देने के कारण? पर शायद कुछ दूसरे कारणों, जैसे कि रस संचार, भावाविभूति या चरित्र चित्रण, यथार्थ चित्रण (शब्द शुक्ल जी के) आदि से शुक्ल जी इस स्थिति को देख रहे थे। लेकिन इस आधार पर तो चंद्रकांता गोस्वामी जी के तमाम उपन्यासों पर भारी पड़ती है। क्या लोकप्रियता का रस संचार, भावाविभूति से विरोध है? और क्या चंद्रकांता यथार्थहीन उपन्यास है? आज चंद्रकांता में अभिव्यक्त यथार्थ को आँकने के लिए साहित्यिक आलोचना को ही क्या समृद्ध नहीं होना पड़ेगा? क्या ऐयारों के परिवर्तनशील चरित्र में तब का मानव और साम्राज्यवादी शक्ति का परिवर्तनशील और छद्म चरित्र शामिल नहीं है। वास्तव में चंद्रकांता में युगीन यथार्थ का एक भयानक छायारूप अभिव्यक्त है, जो एक दूसरे स्तर पर इसे नितान्त साहित्यिक बनाता है। हाँ इसकी भाषा वर्णन बहुला जरूर है। शैली भी स्थिर या आज की दृष्टि में मानक नहीं है। दरअसल भाषा के इसी रूप को शुरू में ही चतुर्वेदी जी के कथन के माध्यम से ‘मिट्टी का प्रभाव’ बतला आए हैं। खैर, तो प्रारंभिक कथा-भाषा में यही वर्णन बहुलता, इतिवृत्तिपरकता और अर्थसघनहीनता दिखाई देती है। भाषा प्रयोग का संस्कार भी पूरी तरह से जम नहीं पाया है। शैली हिंदुस्तानी और संस्कृत बहुला के इधर या उधर। वास्तव में घटनापरकता, मनोरंजन तथा नीतिपरकता के प्रभाव ने भाषा को बनने ही नहीं दिया। कुल मिलाकर भाषा का यह रूप असर्जनात्मक है।

लेकिन यह एक आधार है, एक प्रेरणा, एक नींव। चंद्रकांता जैसी कृतियों में व्यक्त यथार्थ ने तदनु रूप भाषा का मार्ग प्रशस्त किया। स्वाभाविक विकास के क्रम में आधुनिक कथा-भाषा ने एक रूपाकार लिया—उपन्यास और कहानी दोनों में। आ. शुक्ल, गुलेरी जी, की कथाओं में आरंभिक विन्यास और प्रेमचंद, आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, जैनेंद्र, अज्ञेय और फणीश्वरनाथ रेणु के कथा साहित्य में आधुनिक कथा-भाषा के स्वरूप का आगे विकास होता है।

आधुनिक होने के तमाम अर्थों में एक महान अर्थ है—वयस्कता का। मौलिकता, समाज सापेक्षता, गंभीरता, ऐहिकता, सर्जनात्मक कल्पनाशीलता आदि

भाव इसमें शामिल हैं। इस आधार पर देखें तो प्रेमचंद में पहुँच कर हिंदी उपन्यास अपनी भाषा में वयस्क या आधुनिक होता है। वहीं कहानी में यह 'इंदुमति' (किशोरी लाल गोस्वामी, सरस्वती, 1900), ग्यारह वर्ष का समय (आ. शुक्ल, सरस्वती, 1903) से आती है। ब्रज भाषा के प्रभाव से मुक्त, अँग्रेजी अनुवादों से मुक्त, पूर्व प्रचलित संस्कृत कथाओं के अनुकरण से मुक्त खड़ी बोली की अपनी भंगिमा यहाँ से दिखाई देने लगती है—

‘उन्होंने चट अपना हाथ फैला दिया, जिस पर एक काला तिल दिखाई दिया। स्त्री कुछ काल तक उसी की ओर देखती रही, फिर मुँह ढाँप कर सिर नीचा करके बैठ रही। लज्जा का प्रवेश हुआ। क्योंकि यह एक हिंदू रमणी का उसके पति के साथ प्रथम संयोग था।’ (ग्यारह वर्ष का समय, आ. शुक्ल-सरस्वती, 1903)

‘वहाँ खूब रौनक और सफाई है। प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे, उनमें बड़े-बड़े तख्त बिछे हुए थे। अधिकांश घरों में सफेदी हो गई थी... चौतरे पर बैठे हुए चौधरी रामायण पढ़ रहे थे और स्त्रियाँ बैठी सुन रही थीं।’ (प्रेमाश्रम, प्रेमचंद, 1921)

सर्वप्रथम कथा-गद्य का विधान, उसका विन्यास बदला। कथा का आद्य वाक्य-विन्यास, ‘कर्ता-कर्म-क्रिया’ अर्थात् ‘एक राजा था’-इसमें परिवर्तन आया। इस विन्यास के बदलने से ही राजा का होना या उसके होने का ढंग बदला। तो विन्यास का यह बदलाव आधुनिक कथा-भाषा की पहली विशेषता है। गद्य तो शुरू से ही आधुनिक था, पर कथा गद्य इस रूप में ही आधुनिक हुआ-अर्थात् सर्जनात्मकता का उदय। शंखर (1941) में अज्ञेय लिखना शुरू करते हैं ‘सबसे पहले तुम, शशि।’ विन्यास का यह रूप अन्य कथाकारों में भी हम देखते हैं, पर प्रेमचंद में कम। क्योंकि कहानी, सुनाने का आदर्श उनके यहाँ लिखने से अधिक है। हालाँकि इसके भी सकारात्मक-नकारात्मक पक्ष हैं। वैसे कफन और गोदान में विन्यास का यह रूप हम कतिपय देख सकते हैं।

विन्यास के इस बदलाव ने वर्णन पर निर्भरता को समाप्त कर दिया। कर्ता-कर्म-क्रिया का रूप उल्टा-पल्टा, बिना क्रिया के वाक्यों के प्रयोग का चलन हुआ, फलतः कथा भाषा में भावात्मकता और अर्थसघनता आई। यह सर्जनात्मकता का दूसरा स्तर हुआ। यह वस्तुतः वर्णन और अनुभव का सम्मिलन है, जो आधुनिक कथा-भाषा की दूसरी विशेषता है। जैनंद्र के त्यागपत्र (1937) का शुरूआती अंश ही देखें -

‘हम लोगों का असली घर पछाँह की ओर था। पिता प्रतिष्ठावाले थे और माता अत्यंत कुशल गृहणी थीं। जैसी कुशल थीं वैसे कोमल भी होतीं तो?’

‘इस होती तो?’ में वर्णन से आगे बढ़कर अनुभव की अभिव्यक्ति की आकांक्षा है, पर यहाँ वह पूर्ण नहीं, कोशिश मात्र है, केवल व्यंजना है। लेकिन आधुनिक कथा-भाषा का यह प्रस्थान बिंदु है। अनुभव की अभिव्यक्तियाँ आगे चलकर और भी समृद्ध हुईं।

यह मिट्टी के जड़ और स्थूल वर्णन से पानी के अनुभवगत वैविध्य गति और कल्पनाशीलता का एक रासायनिक घोल है, जो आधुनिक कथा भाषा का प्रधान स्वरूप सामने लाता है। अज्ञेय शेखर में लिखते हैं—‘अभिमान से बड़ा एक दर्द है और दर्द से भी बड़ा एक विश्वास’ या ‘अहंकार स्वाभाविक होता है, विनय सीखनी ही पड़ती है।’ वस्तुतः यह भाषा के साथ अनुभव की संपृक्ति है। इसलिए ये वाक्यांश सूत्र रूप में बन गए हैं। संशय नहीं कि बड़े अनुभव की भाषा, अपने आकार में बड़ी नहीं हो सकती। चिंतन विस्तार देता है पर जहाँ अनुभूति योग हो जाय, वहाँ यह पूरा योग जालों को साफकर संकुचित होकर पारदर्शी बन जाता है और इस तरह भाषा ग्रंथ नहीं बनाती, केवल शब्द बनाती है, जैसे कि गीता, मानस, राम की शक्ति पूजा आदि।

कथा के इस आधुनिक गद्य में भाषा भी अपना एक स्वरूप धारण करती है। आ. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक संस्कार भर दिया था, इधर प्रेमचंद भी इसको लगभग साध चुके थे। कुल मिलाकर एक परिनिष्ठित हिंदी का रूप चल पड़ा था। यह रूप प्रकृति में सर्वसमावेशी तथा चरित्र में जनतांत्रिक था। इसने आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी से भी अपना प्रयोग करवा लिया। वाणभट्ट की आत्मकथा (1946) में तत्सम बहुला भाषा के बीच ‘निउनिया, बंड, फक्कड़ बच्चू तथा लौ गुरू, पौ बारह हैं तुम्हारे’ जैसे प्रयोग दिखते हैं। कथा-गद्य लेखन की इस नई शैली में हम देखते हैं कि धीरे-धीरे तत्सम पदावली बुनी जाती है और उसके बीच एकाएक कोई लोक प्रयोग डालकर भंग कर दिया जाता है, मानो पंडित और सामान्य जन दोनों को विश्वास में लेने का इरादा हो। उधर प्रेमचंद और जैनेंद्र में यह शैली अपने उभार पर है। गोदान में गोबर कहता है—‘मैं तो अपने हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी न मारूँगा,’ वहीं जैनेंद्र त्यागपत्र में लिखते हैं—‘मन में एक गाँठ सी पड़ती जाती है या नींव ढीली ही होगी और ऐसे हाथ में अपने आने वाला कुछ नहीं है।’ हम देख सकते हैं कि प्रेमचंद में जहाँ प्रचलित प्रसंगमूलक मुहावरों का प्रयोग अधिक है तो वहीं जैनेंद्र में बोलचाल का ठेठ मुहाविरा है। वस्तुतः यह भाषा को

अलग-अलग अंतर्भुक्त कर रचने की रचना प्रक्रिया है। अतः शैली में विविधता देख सकते हैं पर भाषा विधान सम पर ही बना हुआ है।

इस आदर्श को कायम रखते हुए भी रेणु 'मैला आँचल' (1954) में आधुनिक कथा-भाषा के उक्त स्वरूप में कुछ नया जोड़ देते हैं। समावेसन हेतु परिनिष्ठित हिंदी में चंचलता भर देते हैं और इस तरह भाषा में गति तथा वैविध्यता जोड़ देते हैं। हमारा संकेत वस्तुतः अंचल की बोली, भाषा की ओर है। यह कथा-भाषा में अनुभव को बाँटना तथा जोड़ना एक साथ है। इस अंतर्क्रिया ने आधुनिक कथा भाषा को समृद्ध ही बनाया। सम भाषा विधान के साथ ही चंचलता गति तथा वैविध्यता का यह रंग देखें -

'पियारे भाइयों! कोठारिन साहेब जितना बात बोलीं, सब ठीक है। लेकिन सबसे बड़ा दोशी हम हैं। हमारे कारण ही गाँव में लड़ाई झगड़ा हो रहा है।.. हम कोई विद्वान नहीं हैं, शास्त्र पुराण नहीं पढ़े हैं। गरीब आदमी है, मुख है। (मैला आँचल, पाँच)

वस्तुतः यह वर्णन से अनुभव को जोड़ने की कोशिश ही नहीं है अपितु भाषा के विधान को ही रससिक्त कर देने की चेष्टा है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि वेदों में मैं सामवेद हूँ क्योंकि उसमें ज्ञान और रस दोनों हैं। यह आदर्श, संशय नहीं, साहित्य से भी जुड़ा हुआ है। इसको प्राप्त करने के कई तरीके हो सकते हैं। पर एक उपाय है विशिष्ट की सामान्य के रूप में पहचान कराना। अंचल विशिष्ट है, पर रेणु इस अनुभूति का प्रसार कर देते हैं। आधुनिक कथा-भाषा का मूल स्वरूप निःसंदेह इस आदर्श से संबद्ध है।

गद्य और पद्य का सम्मिलन भी कथा-भाषा के आधुनिक स्वरूप के साथ संबद्ध है। वस्तुतः पद्य का योग भी कथा की भाषा को अर्थसंघनता और इस तरह सर्जनात्मकता की ओर ले गया। वैसे गद्य से पद्य का यह जुड़ाव हमें गद्य कविता की ओर भी ले गया जो लगभग निराला के समय से ही अस्तित्वमान है। पर पद्य का जो रूप कथा-गद्य ने अर्जित किया वह दरअसल दूसरे तरह का है। पाश्चात्य रोमांटिकों ने गद्य और पद्य में भेद स्थापित करने के लिए दो रूपकों का सहारा लिया। गद्य के बारे में उनका विचार था -

'गद्य अर्थात् घूमना (वाकिंग), जिसका सदैव एक निश्चित उद्देश्य होता है। यह एक क्रिया है, एक निश्चित मंजिल की ओर जहाँ हम पहुँचना चाहते हैं। हमारी इच्छा, हमारा शरीर, राह की स्थिति आदि हमें नियमित करती हैं, इस तक पहुँचने में।'

वहीं पद्य के बारे में उनकी राय थी -

‘पद्य नृत्य की तरह है, जो गद्य से नितांत भिन्न है। निश्चित ही यह क्रियाओं की व्यवस्था है, लेकिन जिनका लक्ष्य इन क्रियाओं में है। यह कहीं नहीं जाता। अगर यह कुछ द्योतित करता है तो वह है एक मानसिक, भावात्मक वस्तु, एक उल्लास, एक पुष्प का आभास हाने का सर्वोत्तम रूप।’

तो गद्य के चिंतन मनन में पद्य अपने नृत्य रूप में प्रकट हुआ और इसकी चाल को बदल दिया। आश्चर्य नहीं कि इस प्रभाव ने गद्य के चलन को भी बदला। क्या कहना जरूरी है कि आधुनिक यथार्थ की बहुस्तरीयता को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द नृत्य की यह भंगिमा जरूरी थी। इस प्रसंग को विस्तृत रूप से समझने के लिए आधुनिक युग में भाषा और यथार्थ के बारे में बनी नई समझ का संक्षिप्त निरूपण जरूरी होगा।

वस्तुतः यथार्थ बहुस्तरीय, बहुरूप होता है। अज्ञेय लिखते हैं—‘लेकिन यथार्थ एक साधारण दृष्य स्तर पर होता है और एक दूसरे स्तर पर भी घटित होता है।’ (अज्ञेय, अपने बारे में पृ. 70) इसीलिए यथार्थ की पहचान की विभिन्न प्रणालियों को उसकी ऐंद्रिक और भाषिक पहचानों को एक ही वर्ग में नहीं रखा जा सकता। यदि माध्यम यथार्थ की नई रचना करता है तो मानना होगा कि यथार्थ के उतने ही प्रकार संभव है, जितने प्रकार के माध्यमों से हम उसे पहचानने का उपक्रम करते हैं। इसलिए विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों की तरह साहित्य के विविध रूप भी यथार्थ की पहचान की इस प्रक्रिया में उसकी रचना के विविध स्वायत्त माध्यम हैं। स्वायत्त इसलिए कि यथार्थ की जो रचना वे करते हैं वह अन्य माध्यमों के अनुशासन से नियंत्रित नहीं है। उसकी सर्जनात्मकता उनके माध्यम की अपनी प्रकृति में ही अंतर्भुक्त है। साहित्य के प्रत्येक रूप की इसलिए प्रत्येक कथा रूप का औचित्य इस बोध में निहित है कि वह यथार्थ की ऐसी रचना करता है और पहचान भी करवाता है, जो अन्य किसी भी प्रकार से संभव नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो साहित्य, प्राकृतिक या सामाजिक विज्ञान एक रूप होते।

अतः संशय नहीं कि जो माध्यम हम अपनाते हैं, यथार्थ की हमारी पहचान उसी से अनिवार्यतः प्रभावित होती है। यदि इस तर्क को हम स्वीकार करें तो मानना पड़ेगा कि भाषा, जो केवल अभिधात्मक या सूचनात्मक नहीं, जिसके अनेक रूप और बोलियाँ हैं, जो जानकारी का ही नहीं विचार अनुभव और चेतना के विकास का भी माध्यम हो सकती है, जिसकी सर्जनात्मक संभावनाएँ असीम

हैं तो अनिवार्यतः हमें यह मानना होगा कि साहित्य के विविध रूप भाषा की बहुआयामी अर्थ रूपगर्भिता के आधार पर विकसित होते हैं और इन विधाओं का हर नया रूप यथार्थ की नई रचना करता है।

कथा, भाषा का ही एक विशिष्ट रूपाकार है और इसलिए यथार्थ की रचना और उसकी पहचान का एक विशिष्ट माध्यम भी जिसका पहला एवं अंतिम आधार भाषा का स्वभाव है। इस संदर्भ में डेविड लाज लिखते हैं—‘कथाकार का माध्यम भाषा है, वह जो भी करता है, भाषा के ही आधार पर करता है।’ तो इस प्रकार कथाकार किसी पूर्व निर्धारित अर्थ को भाषा नहीं देता बल्कि भाषा के जरिए भाषा की अपनी प्रकृति के निर्देशानुसार उसी में अर्थ की तलाश करता है। इसलिए कथा भी यथार्थ तक पहुँचने की एक विशिष्ट प्रणाली है, जो अपने तरीके से यथार्थ की अलग रचना करती है—इस विशिष्ट प्रणाली का अनुभव या बोध पाठक तक संप्रेषित करना ही कथाकार के लिए अपेक्षित है क्योंकि उसके और पाठक के लिए वह प्रणाली ही अधिक महत्वपूर्ण है, वही यथार्थ का स्वरूप निर्धारित करती है। इसलिए कथा में स्थूल घटनाओं या ब्यौरों की विश्वसनीयता साहित्यगत यथार्थ की विश्वसनीयता की कसौटी नहीं है क्योंकि कथा साहित्येत्तर घटनाओं का बोध नहीं बल्कि भाषा के एक विशिष्ट सर्जनात्मक प्रकार के माध्यम से कथात्मक यथार्थ का बोध है। अतः बाह्य यथार्थ की तब तक कथा में कोई जगह नहीं है, जब तक वह उसके किसी आंतरिक प्रयोजन को पूरा नहीं करता है। फैंटेसी जैसी विधियाँ इस बात का प्रमाण हैं, जिसमें स्थूल घटनाओं की विश्वसनीयता का तो अतिक्रमण किया जा सकता है पर भाषिक विश्वसनीयता का नहीं।

इसलिए कथा-भाषा के विविध रूप और शैलियाँ यथार्थ की रचना की विविध शैलियाँ या प्रणालियाँ हैं। इन विविध शैलियों के माध्यम से यथार्थ का जो स्वरूप उजागर होता है, उनमें भी भिन्नताएँ होती हैं। ये भिन्नताएँ सतही नहीं होतीं, बल्कि वे भाषा की एक गहरी संरचना को अभिव्यक्त करती हैं। स्पष्ट है कि ठीक यही बात भाषा में यथार्थ की रचना और उसके संप्रेषण के विविध रूपों के बारे में कही जा सकती है। इसलिए उन्हें किसी साहित्येत्तर यथार्थ की उपज मात्र मानना गलत होगा क्योंकि इनके बदले जाने पर भी उनमें निहित दृष्टि और यथार्थ का बोध अप्रासंगिक नहीं हो जाता। आश्चर्य नहीं कि स्वयं कार्ल मार्क्स के सामने कठिनाई थी कि परिस्थितियों के बदल जाने पर भी ग्रीक

महाकाव्य कलात्मक आनंद क्यों देते हैं। स्पष्टतः यह गुण भाषा के अपने स्वभाव और विशिष्ट सर्जनात्मक गुणों की वजह से है।

लेकिन भाषा की अपनी प्रकृति की वजह से ही कथा लेखक या कहे सर्जनात्मक गद्य लेखक के सम्मुख कई समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। भाषा का एक निश्चित सार्वजनिक अर्थ होता है और गद्य इस अर्थ को संगति में व्यक्त करता है। इधर कथा-गद्य की विवक्षता यह है कि उसे वाक्यों के संगतिमूलक संसर्ग पर निर्भर रहना पड़ता है, जिसका साहित्यिक परिणाम यह होता है कि वाक्यों की इस संशक्ति के कारण इनके माध्यम में रचे जा रहे यथार्थ में भी एक संगति या क्रम-व्यवस्था रच जाती है। स्पष्ट है कि यह क्रम-व्यवस्था देशगत और कालगत होती है, जबकि अनुभूति या रचना के क्षण देश और काल की सीमाओं की अयथार्थता में ही संभव है। इस दबाव की ही वजह से कथा-गद्य में लाक्षणिकता का विकास हुआ, जिसने तार्किक गद्य से इसे अलग कर दिया। यह वस्तुतः आधुनिक कथा-भाषा का आविर्भाव था। लेकिन यह लाक्षणिकता भी कविता की कोटि तक नहीं पहुँच सकती-क्योंकि अंततः इसे वाक्य संगति या कहे संसर्गमूलक होना ही पड़ता है।

तो संशय नहीं, जब सख्तिष्ट यथार्थ की रचना और संप्रेषण का प्रश्न आता है तो कथा-भाषा के सामने समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। डेविड लाज ने कथा की समस्याओं पर विचार करते हुए यही निष्कर्ष निकाला कि 'कथा की केंद्रीय समस्या यह है कि कोई भी यथार्थ अब इकहरा नहीं है।' अतः सब कुछ को एक साथ व्यक्त कर पाना आधुनिक कथा-भाषा की प्रमुख चुनौती है। यथार्थ के इस रूप को ही अज्ञेय ने 'क्रमहीन सहवर्तिता' कहा है।

आश्चर्य नहीं कि ऐसी स्थिति में कथा-भाषा काव्य भाषा के पास आई। इसने रूपकात्मकता को विकसित करने की चेष्टा की। शब्दों के पुनराव के माध्यम से काव्यात्मक संश्लिष्ट यथार्थ को रचने का प्रयास किया। पश्चिम में मार्सेल प्रूस्त ने उपन्यास को एक स्मृति की तरह परिभाषित किया तथा उसके लिए रूपक विधान को आवश्यक माना। इधर हिंदी में प्रेमचंद और रेणु के बीच इसी संदर्भ में हम फर्क देख सकते हैं। प्रेमचंद में वृत्तांत की शैली ज्यादा है, रूपकात्मकता कम जबकि रेणु में चित्रण शैली अधिक है। वे पूरे गाँव को एक सख्तिष्ट अनुभव की तरह रचते हैं, जो रूपकात्मक भाषा में ही संभव है। वस्तुतः ये यथार्थ के प्रति दो एप्रोच हैं, जो भाषा के जरिए रची जा सकती है। यहाँ कथा

भाषा की कुछ समस्याओं का समाधान हो जाता है। उधर अज्ञेय की कथा-भाषा में भी रूपकात्मकता का यह गुण है तथा वह शब्दों के पुनराव से एक काव्यात्मक प्रभाव उत्पन्न करती है—

‘दोपहर में, उस घर के सूने आँगन में, पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँडरा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, असंपृष्य किंतु फिर भी बोझिल और प्रकंपमय और घना सा फैल रहा था।’ (रोज कहानी से)

यह संपृक्त विधान रेणु में भी दिखाई देता है, पर जरा दूसरे रूप में। नृत्यमय गद्य तो है ही पर संगीत लहरी भी है यहाँ और संगीत भी कैसा?—लोक संगीत, आँचल का नाद, अटखेलियाँ खेलता हुआ -

डा डिग्गा, डा डिग्गा।

सथाल टोला में दो दिनों से दिन रात मादल बजता रहता है। डा डिग्गा, डा डिग्गा औरतें गाती हैं, नाचती हैं—झुमुर झुमुर। दरखास्त नामंजूर हो गई। जमींदार जमीन छीन लेगा। कोठी के जंगल में, जामुन और गूलर में बहुत फल लगे हैं इस बार। जंगली सुअर के बच्चे भी बिलबिल कर रहे हैं। हल के फाल को तीर बनाओ। लोहा महँगा है। रे। हाय रे हाय डिग्गा, डा डिग्गा...।

‘रिंग रिंग ता धिन ता

डा डिग्गा, डा डिग्गा।’ (मैला आँचल, 5)

तो यही है आधुनिक हिंदी कथा-भाषा का एक विशिष्ट स्वरूप। सर्जनात्मक, अर्थसघन... विराट। विन्यास का हठ नहीं है, भाषा बोलियों में अंतर्क्रिया है, शब्दों का संकेत ही नहीं, अनुमान भी है, शब्द नृत्य है, ध्वनि है।
. और क्यों न हों -

‘न भाषा का शिकंजा, न भाव का। दोनों किसी कोड के नियमों में बंध कर नहीं रह सकते। जिसे बढ़ाना है, वैसी कोई भी चीज शिकंजे में कसी नहीं रह सकती। शिकंजे में कस दोगे तो वह नहीं बढ़ेगी, लुंज रह जाएगी। हम उसी को सुंदरता मानने लग जाएँ तो बात दूसरी, पर दुनिया की स्पर्धा और दौड़ में वह कहीं की नहीं रह सकती। जैसे चीनी स्त्रियों के पैर। हिंदी भाषा-भाषियों और भाषा लेखकों को यह सत्य, पूरे हर्ष से और बिना ईर्ष्या के माना लेना और अपना लेना चाहिए। भाषा का और दुनिया का हित इसी में है।’ (जैनेंद्र कुमार, परख, भूमिका से)

निष्कर्षतः, 20वीं सदी के आरंभिक दशकों में हिंदी की आधुनिक कथा भाषा का स्वरूप उभर कर आ चुका था। उन दशकों के भारतीय यथार्थ, स्वतंत्रता एवं जनतंत्र के सपनों के अनुरूप यह भाषा बनती गई एवं इसमें हिंदी में कथा कहने की नई शैली ने जन्म लिया। इसकी उत्प्रेरक शक्ति से महान विधाओं-उपन्यास एवं कहानी-ने आधुनिक पाठक के मन से, पुरा कथाओं को धीरे-धीरे धुँधला दिया और आधुनिक मनुष्य की कथा कही।

2

निर्मल वर्मा

निर्मल वर्मा (3 अप्रैल 1929-25 अक्टूबर 2005) हिन्दी के आधुनिक कथाकारों में एक मूर्धन्य कथाकार और पत्रकार थे। शिमला में जन्मे निर्मल वर्मा को मूर्तिदेवी पुरस्कार (1995), साहित्य अकादमी पुरस्कार (1985) उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान पुरस्कार और ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। परिदे से प्रसिद्धि पाने वाले निर्मल वर्मा की कहानियां अभिव्यक्ति और शिल्प की दृष्टि से बेजोड़ समझी जाती हैं। ब्रिटिश भारत सरकार के रक्षा विभाग में एक उच्च पदाधिकारी श्री नंद कुमार वर्मा के घर जन्म लेने वाले आठ भाई बहनों में से पांचवें निर्मल वर्मा की संवेदनात्मक बुनावट पर हिमांचल की पहाड़ी छायाएं दूर तक पहचानी जा सकती हैं। हिन्दी कहानी में आधुनिक-बोध लाने वाले कहानीकारों में निर्मल वर्मा का अग्रणी स्थान है।

उन्होंने कम लिखा है परंतु जितना लिखा है उतने से ही वे बहुत ख्याति पाने में सफल हुए हैं। उन्होंने कहानी की प्रचलित कला में तो संशोधन किया ही, प्रत्यक्ष यथार्थ को भेदकर उसके भीतर पहुंचने का भी प्रयत्न किया है। हिन्दी के महान साहित्यकारों में से अज्ञेय और निर्मल वर्मा जैसे कुछ ही साहित्यकार ऐसे रहे हैं जिन्होंने अपने प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर भारतीय और पश्चिम की संस्कृतियों के अंतर्द्वंद्व पर गहनता एवं व्यापकता से विचार किया है।

प्रारंभिक जीवन

इनका जन्म 3 अप्रैल 1929 को शिमला में हुआ था। दिल्ली के सेंट स्टीफेंस कालेज से इतिहास में एम ए करने के बाद कुछ दिनों तक उन्होंने अध्यापन किया। इन्हें वर्ष 1959 से 1972 तक यूरोप में प्रवास करने का अवसर मिला था और इस दौरान उन्होंने लगभग समूचे यूरोप की यात्रा करके वहाँ की भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का नजदीक से परिचय प्राप्त किया था। 1959 से प्राग (चेकोस्लोवाकिया) के प्राच्य विद्या संस्थान में सात वर्ष तक रहे। उसके बाद लंदन में रहते हुए टाइम्स ऑफ इंडिया के लिये सांस्कृतिक रिपोर्टिंग की। 1972 में स्वदेश लौटे। 1977 में आयोवा विश्व विद्यालय (अमरीका) के इंटरनेशनल राइटर्स प्रोग्राम में हिस्सेदारी की। उनकी कहानी माया दर्पण पर फिल्म बनी जिसे 1973 का सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फिल्म का पुरस्कार प्राप्त हुआ। वे इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज (शिमला) के फेलो (1973), निराला सृजनपीठ भोपाल (1981-83) और यशपाल सृजनपीठ (शिमला) के अध्यक्ष रहे (1989)। 1988 में इंग्लैंड के प्रकाशक रीडर्स इंटरनेशनल द्वारा उनकी कहानियों का संग्रह द वर्ल्ड एल्सव्हेयर प्रकाशित। इसी समय बीबीसी द्वारा उन पर डाक्यूमेंट्री फिल्म प्रसारित हुई थी। फेफड़े की बीमारी से जूझने के बाद 76 वर्ष की अवस्था में 26 अक्टूबर, 2005 को दिल्ली में उनका निधन हो गया।

अपनी गंभीर, भावपूर्ण और अवसाद से भरी कहानियों के लिए जाने-जाने वाले निर्मल वर्मा को आधुनिक हिंदी कहानी के सबसे प्रतिष्ठित नामों में गिना जाता रहा है, उनके लेखन की शैली सबसे अलग और पूरी तरह निजी थी। निर्मल वर्मा को भारत में साहित्य का शीर्ष सम्मान ज्ञानपीठ 1999 में दिया गया। 'रात का रिपोर्टर', 'एक चिथड़ा सुख', 'लाल टीन की छत' और 'वे दिन' उनके बहुचर्चित उपन्यास हैं। उनका अंतिम उपन्यास 1990 में प्रकाशित हुआ था--अंतिम अरण्य। उनकी एक सौ से अधिक कहानियाँ कई संग्रहों में प्रकाशित हुई हैं जिनमें 'परिंदे', 'कौवे और काला पानी', 'बीच बहस में', 'जलती झाड़ी' आदि प्रमुख हैं। 'धुंध से उठती धुन' और 'चीड़ों पर चाँदनी' उनके यात्रा वृतांत हैं जिन्होंने लेखन की इस विधा को नए मायने दिए हैं। निर्मल वर्मा को सन 2002 में भारत सरकार द्वारा साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया था।

अपने निधन के समय निर्मल वर्मा भारत सरकार द्वारा औपचारिक रूप से नोबेल पुरस्कार के लिए नामित थे !

प्रकाशन

उपन्यास

वे दिन
एक चिथड़ा सुख
लाल टीन की छत
रात का रिपोर्टर
अंतिम अरण्य

कहानी संग्रह

परिंदे
जलती झड़ी
पिछली गर्मियों में
कच्चे और काला पानी
सूखा और अन्य कहानियां

निबन्ध

चीड़ों पर चाँदनी (1964)
हर बारिश में (1970)
शब्द और स्मृति (1976)
कला का जोखिम (1981)
ढलान से उतरते हुए (1985)
भारत एयर यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र में(1991)
शताब्दी के ढलते वर्षों में(1995)
दूसरे शब्दों में(1997)
आदि अंत और आरम्भ(2001).

एक दिन का मेहमान

उसने अपना सूटकेस दरवाजे के आगे रख दिया। घंटी का बटन दबाया और प्रतीक्षा करने लगा। मकान चुप था। कोई हलचल नहीं—एक क्षण के लिए भ्रम हुआ कि घर में कोई नहीं है और वह खाली मकान के आगे खड़ा है। उसने

रूमाल निकाल कर पसीना पोंछा, अपना एयर-बैग सूटकेस पर रख दिया। दोबारा बटन दबाया और दरवाजे से कान सटा कर सुनने लगा, बरामदे के पीछे कोई खुली खिड़की हवा में हिचकोले खा रही थी।

वह पीछे हट कर ऊपर देखने लगा। वह दुर्मजिला मकान था-लेन के अन्य मकानों की तरह-काली छत, अंग्रेजी 'वी' की शक्ति में दोनों तरफ से ढलुआँ और बीच में सफेद पत्थर की दीवार, जिसके माथे पर मकान का नंबर एक काली बिंदी-सा टिमक रहा था। ऊपर की खिड़कियाँ बंद थीं और परदे गिरे थे। कहाँ जा सकते हैं इस वक्त?

वह मकान के पिछवाड़े गया-वही लॉन, फेंस और झाड़ियाँ थीं, जो उसने दो साल पहले देखी थीं, बीच में विलो अपनी टहनियाँ झुकाए एक काले, बूढ़े रीछ की तरह ऊँघ रहा था। लेकिन गैराज खुला और खाली पड़ा था, वे कहीं कार ले कर गए थे, संभव है, उन्होंने सारी सुबह उसकी प्रतीक्षा की हो और अब किसी काम से बाहर चले गए हों। लेकिन दरवाजे पर उसके लिए एक चिट तो छोड़ ही सकते थे?

वह दोबारा सामने के दरवाजे पर लौट आया। अगस्त की चुनचुनाती धूप उनकी आँखों पर पड़ रही थी। सारा शरीर चू रहा था। वह बरामदे में ही अपने सूटकेस पर बैठ गया। अचानक उसे लगा, सड़क के पार मकानों की खिड़कियों से कुछ चेहरे बाहर झाँक रहे हैं, उसे देख रहे हैं। उसने सुना था, अंग्रेज लोग दूसरों की निजी चिंताओं में दखल नहीं देते, लेकिन वह मकान के बाहर बरामदे में बैठा था, जहाँ प्राइवैसी का कोई मतलब नहीं था, इसलिए वे निस्संकोच, नंगी उन्मुक्तता से उसे घूर रहे थे। लेकिन शायद उनके कौतूहल का एक दूसरा कारण था, उस छोटे, अंग्रेजी कस्बाती शहर में लगभग सब एक-दूसरे को पहचानते थे और वह न केवल अपनी शक्ति-सूरत में, बल्कि झूलते-झालते हिंदुस्तानी सूट में काफी अद्भुत प्राणी दिखाई दे रहा होगा। उसकी तुड़ी-मुड़ी वेशभूषा और गर्द और पसीने में लथपथ चेहरे से कोई यह अनुमान भी नहीं लगा सकता था कि अभी तीन दिन पहले फ्रेंकफर्ट की कान्फ्रेंस में उसने पेपर पढ़ा था। 'मैं एक लुटा-पिटा एशियन इमीग्रेंट दिखाई दे रहा हूँगा' ...उसने सोचा और अचानक खड़ा हो गया-मानो खड़ा हो कर प्रतीक्षा करना ज्यादा आसान हो। इस बार बिना सोचे-समझे उसने दरवाजा जोर से खटखटाया और तत्काल हकबका कर पीछे हट गया-हाथ लगते ही दरवाजा खट-से खुल गया। जीने पर पैरों की आवाज सुनाई दी-और दूसरे क्षण वह चौखट पर उसके सामने खड़ी थी।

वह भागते हुए सीढ़ियाँ उतर कर नीचे आई थी और उससे चिपट गई थी। इससे पहले वह पूछता, क्या तुम भीतर थीं? और वह पूछती, तुम बाहर खड़े थे? उसने अपने धूल-भरे लस्तम-पस्तम हाथों से उसके दुबले कंधों को पकड़ लिया और लड़की का सिर नीचे झुक आया और उसने अपना मुँह उसके बालों पर रख दिया।

पड़ोसियों ने एक-एक करके अपनी खिड़कियाँ बंद कर दीं।

लड़की ने धीरे से उसे अपने से अलग कर दिया, 'बाहर कब से खड़े थे?'

'पिछले दो साल से।'

'वाह!' लड़की हँसने लगी। उसे अपने बाप की ऐसी ही बातें बौड़म जान पड़ती थीं।

'मैंने दो बार घंटी बजाई-तुम लोग कहाँ थे?'

'घंटी खराब है, इसलिए मैंने दरवाजा खुला छोड़ दिया था।'

'तुम्हें मुझे फोन पर बताना चाहिए था-मैं पिछले एक घंटे से आगे-पीछे दौड़ रहा था।'

'मैं तुम्हें बताने वाली थी, लेकिन बीच में लाइन कट गई... तुमने और कैसे क्यों नहीं डाले?'

'मेरे पास सिर्फ दस पैसे थे... वह औरत काफी चुड़ैल थी।'

'कौन औरत?' लड़की ने उसका बैग उठाया।

'वही, जिसने हमें बीच में काट दिया।'

आदमी अपना सूटकेस बीच ड्राइंगरूम में घसीट लाया। लड़की उत्सुकता से बैग के भीतर झाँक रही थी-सिगरेट के पैकेट, स्काँच की लंबी बोतल, चॉकलेट के बंडल-वे सारी चीजें, जो उसने इतनी हड़बड़ी में फ्रेंकफर्ट के एयरपोर्ट पर ड्यूटी-फ्री दुकान से खरीदी थीं, अब बैग से ऊपर झाँक रही थीं।

'तुमने अपने बाल कटवा लिए?' आदमी ने पहली बार चैन से लड़की का चेहरा देखा।

'हाँ... सिर्फ छुट्टियों के लिए। कैसे लगते हैं?'

'अगर तुम मेरी बेटी नहीं होतीं तो मैं समझता, कोई लफंगा घर में घुस आया है।'

'ओह, पापा!' लड़की ने हँसते हुए बैग से चाकलेट निकाली, रैपर खोला, फिर उसके आगे बढ़ा दी।

‘स्विस चाकलेट,’ उसने उसे हवा में डुलाते हुए कहा।

‘मेरे लिए एक गिलास पानी ला सकती हो?’

‘ठहरो, मैं चाय बनाती हूँ।’

‘चाय बाद में...’ वह अपने कोट की अंदरूनी जेब में कुछ टटोलने लगा—नोटबुक, वालेट, पासपोर्ट—सब चीजें बाहर निकल आईं, अंत में उसे टेबलेट्स की डिब्बी मिली, जिसे वह ढूँढ़ रहा था।

लड़की पानी का गिलास ले कर आई तो उससे पूछा, ‘कैसी दवाई है?’

‘जर्मन,’ उसने कहा, ‘बहुत असर करती है।’ उसने टेबलेट पानी के साथ निगल ली, फिर सोफे पर बैठ गया। सब कुछ वैसा ही था, जैसा उसने सोचा था। वही कमरा, शीशे का दरवाजा, खुले हुए परदों के बीच वही चौकोर, हरे रूमाल—जैसा लॉन, टी.वी. के स्क्रीन पर उड़ती पक्षियों की छाया, जो बाहर उड़ते थे और भीतर होने का भ्रम देते थे...।

वह किचन की देहरी पर आया। गैस के चूल्हों के पीछे लड़की की पीठ दिखाई दे रही थी। कार्डराय की काली जींस और सफेद कमीज, जिसकी मुड़ी स्लीव्स बाँहों की कुहनियों पर झूल रही थीं। वह बहुत हल्की और छुई-मुई-सी दिखाई दे रही थी।

‘मामा कहाँ हैं?’ उसने पूछा। शायद उसकी आवाज इतनी धीमी थी कि लड़की ने उसे नहीं सुना, किंतु उसे लगा, जैसे लड़की की गर्दन कुछ ऊपर उठी थी। ‘मामा क्या ऊपर हैं?’ उसने दोबारा कहा और लड़की वैसे ही निश्चल खड़ी रही और तब उसे लगा, उसने पहली बार भी उसके प्रश्न को सुन लिया था। ‘क्या वह बाहर गई हैं?’ उसने पूछा। लड़की ने बहुत धीरे, धुँधले ढंग से सिर हिलाया, जिसका मतलब कुछ भी हो सकता था।

‘तुम पापा, कुछ मेरी मदद करोगे?’

वह लपक कर किचन में चला आया, ‘बताओ, क्या काम है?’

‘तुम चाय की केतली ले कर भीतर जाओ, मैं अभी आती हूँ।’

‘बस!’ उसने निराश स्वर में कहा।

‘अच्छा, प्याले और प्लेटें भी लेते जाओ।’

वह सब चीजें ले कर भीतर कमरे में चला आया। वह दोबारा किचन में जाना चाहता था, लेकिन लड़की के डर से वह वहीं सोफा पर बैठा रहा। किचन से कुछ तलने की खुशबू आ रही थी। लड़की उसके लिए कुछ बना रही थी—और वह उसकी कोई भी मदद नहीं कर पा रहा था। एक बार इच्छा हुई,

किचन में जा कर उसे मना कर आए कि वह कुछ नहीं खाएगा—किंतु दूसरे क्षण भूख ने उसे पकड़ लिया। सुबह से उसने कुछ नहीं खाया था। यूस्टन स्टेशन के कैफेटेरिया में इतनी लंबी 'क्यू' लगी थी कि वह टिकट ले कर सीधा ट्रेन में घुस गया था। सोचा था, वह डायनिंग-कार में कुछ पेट में डाल लेगा, किंतु वह दुपहर से पहले नहीं खुलती थी। सच पूछा जाए, तो उसने अंतिम खाना कल शाम फ्रेंकफर्ट की एयरपोर्ट में खाया था और जब रात को लंदन पहुँचा था, तो अपने होटल की बॉर में पीता रहा था। तीसरे गिलास के बाद उसने जेब से नोटबुक निकाली, नंबर देखा और बॉर के टेलीफोन बूथ में जा कर फोन मिलाया था।.. पहली बार में पता नहीं चला, उसकी पत्नी की आवाज है या बच्ची की। उसकी पत्नी ने फोन उठाया होगा, क्योंकि कुछ देर तक फोन का सन्नाटा उसके कान में झनझनाता रहा, फिर उसने सुना, वह ऊपर से बच्ची को बुला रही है और तब उसने घड़ी देखी, उसे अचानक ध्यान आया, इस समय वह सो रही होगी और वह फोन नीचे रखना चाहता था, किंतु उसी समय उसे बच्ची का स्वर सुनाई दिया, वह आधी नींद में थी। उसे कुछ देर तक पता ही नहीं चला कि वह इंडिया से बोल रहा है या फ्रेंकफर्ट से या लंदन से. .. वह उसे अपनी स्थिति समझा ही रहा था कि तीन मिनट खत्म हो गए और उसके पास इतनी 'चेंज' भी नहीं थी कि वह लाइन को कटने से बचा सके, तसल्ली सिर्फ इतनी थी कि वह नींद, घबराहट और नशे के बीच यह बताने में सफल हो गया कि वह कल उनके शहर पहुँच रहा है।.. कल यानी आज।

वे अच्छे क्षण थे। बाहर इंग्लैंड की पीली और मुलायम धूप फैली थी। वह घर के भीतर था। उसके भीतर गरमाई की लहरें उठने लगी थीं। हवाई अड्डों की भाग-दौड़, होटलों की हील-हुज्जत, ट्रेन-टैक्सियों की हड़बड़ाहट—वह सबसे परे हो गया था। वह घर के भीतर था, उसका अपना घर न सही, फिर भी एक घर—कुर्सियाँ, परदे, सोफा, टी.वी.। वह अर्स से इन चीजों के बीच रहा था और हर चीज के इतिहास को जानता था। हर दो-तीन साल बाद जब वह आता था, तो सोचता था—बच्ची कितनी बड़ी हो गई होगी और पत्नी? वह कितनी बदल गई होगी! लेकिन ये चीजें उस दिन से एक जगह ठहरी थीं, जिस दिन उसने घर छोड़ा था, वे उसके साथ जाती थीं, उसके साथ लौट आती थीं...

'पापा, तुमने चाय नहीं डाली?' वह किचन से दो प्लेटें ले कर आई, एक में टोस्ट और मक्खन थे, दूसरे में तले हुए सॉसेज।

‘मैं तुम्हारा इंतजार कर रहा था।’

‘चाय डालो, नहीं तो बिल्कुल ठंडी हो जाएगी।’

वह उसके साथ सोफा पर बैठ गई। ‘टी.वी. खोल दूँ... देखोगे?’

‘अभी नहीं... सुनो, तुम्हें मेरे स्टैंप्स मिल गए थे?’

‘हाँ, पापा, थैंक्स!’ वह टोस्ट्स पर मक्खन लगा रही थी।

‘लेकिन तुमने चिट्ठी एक भी नहीं लिखी!’

‘मैंने एक लिखी थी, लेकिन जब तुम्हारा टेलीग्राम आया, तो मैंने सोचा, अब तुम आ रहे हो तो चिट्ठी भेजने की क्या जरूरत?’

‘तुम सचमुच गागा हो।’

लड़की ने उसकी ओर देखा और हँसने लगी। यह उसका चिढ़ाऊ नाम था, जो बाप ने बरसों पहले उसे दिया था, जब वह उसके साथ घर में रहता था, वह बहुत छोटी थी और उसने हिंदुस्तान का नाम भी नहीं सुना था।

बच्ची की हँसी का फायदा उठाते हुए वह उसके पास झुक आया जैसे कोई चंचल चिड़िया हो, जिसे केवल सुरक्षा के भ्रामक क्षण में ही पकड़ा जा सकता है, ‘ममी कब लौटेंगी?’

प्रश्न इतना अचानक था कि लड़की झूठ नहीं बोल सकी, ‘वह ऊपर अपने कमरे में हैं।’

‘ऊपर? लेकिन तुमने तो कहा था।..’

किरच, किरच, किरच-वह चाकू से जले हुए टोस्ट को कुरेद रही थी मानो उसके साथ-साथ वह उसके प्रश्न को भी काट डालना चाहती हो। हँसी अब भी थी, लेकिन अब वह बर्फ में जमे कीड़े की तरह उसके होंठों पर चिपकी थी।

‘क्या उन्हें मालूम है कि मैं यहाँ हूँ?’

लड़की ने टोस्ट पर मक्खन लगाया, फिर जैम-फिर उसके आगे प्लेट रख दी।

‘हाँ, मालूम है।’ उसने कहा।

‘क्या वह नीचे आ कर हमारे साथ चाय नहीं पिएँगी?’

लड़की दूसरी प्लेट पर सॉसेज सजाने लगी-फिर उसे कुछ याद आया। वह रसोई में गई और अपने साथ मस्टर्ड और कैंचुप की बोतलें ले आई।

‘मैं ऊपर जा कर पूछ आता हूँ।’ उसने लड़की की तरफ देखा, जैसे उससे अपनी कार्यवाही का समर्थन पाना चाहता हो। जब वह कुछ नहीं बोली, तो वह जीने की तरफ जाने लगा।

‘प्लीज, पापा!’

उसके पाँव ठिठक गए।

‘आप फिर उनसे लड़ना चाहते हैं?’ लड़की ने कुछ गुस्से में उसे देखा।

‘लड़ना!’ वह शर्म से भीगा हुआ हँसने लगा, ‘मैं यहाँ दो हजार मील उनसे लड़ने आया हूँ?’

‘फिर आप मेरे पास बैठिए।’ लड़की का स्वर भरा हुआ था। वह अपनी माँ के साथ थी, लेकिन बाप के प्रति क्रूर नहीं थी। वह उसे पुरचाती निगाहों से निहार रही थी, ‘मैं तुम्हारे पास हूँ, क्या यह काफी नहीं है?’

वह खाने लगा, टोस्ट, सॉसेज, टिन के उबले हुए मटर। उसकी भूख उड़ गई थी, लेकिन लड़की की आँखें उस पर थीं। वह उसे देख रही थी और कुछ सोच रही थी, कभी-कभी टोस्ट का एक टुकड़ा मुँह में डाल लेती और फिर चाय पीने लगती। फिर उसकी ओर देखती और चुपचाप मुस्कराने लगती, उसे दिलासा-सी देती, सब कुछ ठीक है, तुम्हारी जिम्मेदारी मुझ पर है और जब तक मैं हूँ, डरने की कोई बात नहीं।

डर नहीं था। टेबलेट का असर रहा होगा, या यात्रा की थकान-वह कुछ देर के लिए लड़की की निगाहों से हटना चाहता था। वह अपने को हटाना चाहता था। ‘मैं अभी आता हूँ’ उसने कहा। लड़की ने सशक्त आँखों से उसे देखा, ‘क्या बाथरूम जाएँगे?’ वह उसके साथ-साथ गुसलखाने तक चली आई और जब उसने दरवाजा बंद कर लिया, तो भी उसे लगता रहा, वह दरवाजे के पीछे खड़ी है।..

उसने बेसिनी में अपना मुँह डाल दिया और नलका खोल दिया। पानी झर-झर उसके चेहरे पर बहने लगा-और वह सिसकने-सा लगा, आधे बने हुए शब्द उसकी छाती के खोखल से बाहर निकलने लगे, जैसे भीतर जमी हुई काई उलट रहा हो, उलटी, जो सीधी दिल से बाहर आती है-वह टेबलेट जो कुछ देर पहले खाई थी, अब पीले चूरे-सी बेसिनी के संगमरमर पर तैर रही थी। फिर उसने नल बंद कर दिया और रूमाल निकाल कर मुँह पोंछा। बाथरूम की खूँटी पर स्त्री के मैले कपड़े टँगे थे-प्लास्टिक की एक चौड़ी बाल्टी में अंडरवियर और ब्रेसियर साबुन में डूबे थे... खिड़की खुली थी और बाग का पिछवाड़ा धूप में चमक रहा था। कहीं किसी दूसरे बाग से घास कटने की उर्नीदी-सी घुर्र-घुर्र पास आ रही थी...

वह जल्दी से बाथरूम का दरवाजा बंद करके कमरे में चला आया। सारे घर में सन्नाटा था। वह किचन में आया, तो लड़की दिखाई नहीं दी। वह ड्राइंगरूम में लौटा, तो वह भी खाली पड़ा था। उसे संदेह हुआ कि वह ऊपरवाले कमरे में अपनी माँ के पास बैठी है। एक अजीब आतंक ने उसे पकड़ लिया। घर जितना शांत था, उतना ही खतरे से अटा जान पड़ा। वह कोने में गया, जहाँ उसका सूटकेस रखा था, वह जल्दी-जल्दी उसे खोलने लगा। उसने अपने कान्फ्रेंस के नोट्स और कागज अलग किए, उनके नीचे से वह सारा सामान निकालने लगा, जो वह दिल्ली से अपने साथ लाया था—एंपोरियम का राजस्थानी लहंगा (लड़की के लिए), ताँबे और पीतल के ट्रिकेट्स, जो उसने जनपथ पर तिब्बती लामा हिप्पियों से खरीदे थे, पशमीने की कश्मीरी शॉल (बच्ची की माँ के लिए), एक लाल गुजराती जरीदार स्लीपर, जिसे बच्ची और माँ दोनों पहन सकते थे, हैंडलूम के बेडकवर, हिंदुस्तानी टिकटों का अल्बम—और एक बहुत बड़ी सचित्र किताब 'बनारस: द एटर्नल सिटी।' फर्श पर धीरे-धीरे एक छोटा-सा हिंदुस्तान जमा हो गया था जिसे वह हर बार यूरोप आते समय अपने साथ ढो लाता था।

सहसा उसके हाथ ठिठक गए। वह कुछ देर तक चीजों के ढेर को देखता रहा। कमरे के फर्श पर बिखरी हुई वे बिल्कुल अनाथ और दयनीय दिखाई दे रही थीं। एक पागल-सी इच्छा हुई कि वह उन्हें कमरे में जैसे का तैसा छोड़ कर भाग खड़ा हो। किसी को पता भी न चलेगा, वह कहाँ चला गया? लड़की थोड़ा-बहुत जरूर हैरान होगी, किंतु बरसों से वह उससे ऐसे ही अचानक मिलती रही थी और बिना कारण बिछुड़ती रही थी, 'यू आर ए कर्मिंग मैन एंड ए गोइंग मैन', वह उससे कहा करती थी, पहले विषाद में और बाद में कुछ-कुछ हँसी में... उसे कमरे में न बैठा देख कर लड़की को ज्यादा सदमा नहीं पहुँचेगा। वह ऊपर जाएगी और माँ से कहेगी, 'अब तुम नीचे आ सकती हो, वह चले गए।' फिर वे दोनों एक-साथ नीचे आएँगी और उन्हें राहत मिलेगी कि अब उन दोनों के अलावा घर में कोई नहीं है।

'पापा!'

वह चौंक गया, जैसे रँगें हाथों पकड़ा गया हो। खिसियानी-सी मुस्कराहट में लड़की को देखा—वह कमरे की चौखट पर खड़ी थी और खुले हुए सूटकेस को ऐसे देख रही थी, जैसे वह कोई जादू की पिटारी हो, जिसने अपने पेट से अचानक रंग-बिरंगी चीजों को उगल दिया हो, लेकिन उसकी आँखों में कोई

खुशी नहीं थी, एक शर्म-सी थी, जब बच्चे अपने बड़ों को कोई ऐसी ट्रिक करते हुए देखते हैं जिसका भेद उन्हें पहले से मालूम होता है, वे अपने संकोच को छिपाने के लिए कुछ ज्यादा ही उत्सुक हो जाते हैं।

‘इतनी चीजें?’ वह आदमी के सामने कुर्सी पर बैठ गई, ‘कैसे लाने दी? सुना है, आजकल कस्टमवाले बहुत तंग करते हैं!’

‘नहीं, इस बार उन्होंने कुछ नहीं किया,’ आदमी ने उत्साह में आ कर कहा, ‘शायद इसलिए कि मैं सीधे फ्रेंकफर्ट से आ रहा था। उन्हें सिर्फ एक चीज पर शक हुआ था।’ उसने मुस्कराते हुए लड़की की ओर देखा।

‘किस चीज पर?’ लड़की ने इस बार सच्ची उत्सुकता से पूछा।

उसने अपने बैग से दालबीजी का डिब्बा निकाला और उसे खोल कर मेज पर रख दिया। लड़की ने झिझकते हुए दो-चार दाने उठाए और उन्हें सूँघने लगी, ‘क्या है यह?’ उसने जिज्ञासा से आदमी को देखा।

‘वे भी इसी तरह सूँघ रहे थे,’ वह हँसने लगा, ‘उन्हें डर था कि कहीं इसमें चरस-गाँजा तो नहीं है।’

‘हैश?’ लड़की की आँखें फैल गई, ‘क्या इसमें सचमुच हैश मिली है?’
‘खा कर देखो।’

लड़की ने कुछ दालमोठ मुँह में डाले और उन्हें चबाने लगी, फिर हलाट-सी हो कर सी-सी करने लगी।

‘मिचें होंगी-थूक दो!’ आदमी ने कुछ घबरा कर कहा।

किंतु लड़की ने उन्हें निगल लिया और छलछलाई आँखों से बाप को देखने लगी।

‘तुम भी पागल हो... सब निगल बैठीं।’ आदमी ने जल्दी से उसे पानी का गिलास दिया, जो वह उसके लिए लाई थी।

‘मुझे पसंद है।’ लड़की ने जल्दी से पानी पिया और अपनी कमीज की मुड़ी हुई बाँहों से आँखें पोछने लगी। फिर मुस्कराते हुए आदमी की ओर देखा, ‘आई लव इट।’ वह कई बातें सिर्फ आदमी का मन रखने के लिए करती थी। उनके बीच बहुत कम मुहलत रहती थी और वह उसके निकट पहुँचने के लिए ऐसे शॉर्टकट लेती थी, जिसे दूसरे बच्चे महीनों में पार करते हैं।

‘क्या उन्होंने भी इसे चख कर देखा था?’ लड़की ने पूछा।

‘नहीं, उनमें इतनी हिम्मत कहाँ थी! उन्होंने सिर्फ मेरा सूटकेस खोला, मेरे कागजों को उल्टा-पलटा और जब उन्हें पता चला कि मैं कान्फ्रेंस से आ रहा हूँ तो उन्होंने कहा, ‘मिस्टर, यू मे गो।’

‘क्या कहा उन्होंने?’ लड़की हँस रही थी।

‘उन्होंने कहा, ‘मिस्टर यू मे गो, लाइक एन इंडियन क्रो!’ आदमी ने भेदभरी निगाहों से उसे देखा। ‘क्या है यह?’

लड़की हँसती रही—जब वह बहुत छोटी थी और आदमी के साथ पार्क में घूमने जाती थी, तो वे यह सिरफिरा खेल खेलते थे। वह पेड़ की ओर देख कर पूछता था, ओ डियर, इज देयर एनीथिंग टू सी? और लड़की चारों तरफ देख कर कहती थी, येस डियर, देयर इज ए क्रो ओवर द ट्री। आदमी विस्मय से उसकी ओर देखता। क्या है यह? और वह विजयोल्लास में कहती—पोयम!

ए पोयम! बढ़ती हुई उम्र में छूटते हुए बचपन की छाया सरक आई—पार्क की हवा, पेड़, हँसी। वह बाप की उँगली पकड़ कर सहसा एक ऐसी जगह आ गई, जिसे वह मुद्दत पहले छोड़ चुकी थी, जो कभी—कभी रात को सोते हुए सपनों में दिखाई दे जाती थी...

‘मैं तुम्हारे लिए कुछ इंडियन सिक्के लाया था।.. तुमने पिछली बार कहा था न!’

‘दिखाओ, कहाँ हैं?’ लड़की ने कुछ जरूरत से ज्यादा ही ललकते हुए पूछा।

आदमी ने सलमे—सितारों से जड़ी एक लाल थैली उठाई—जिसे हिप्पी लोग अपने पासपोर्ट के लिए खरीदते थे। लड़की ने उसे उसके हाथ से छीन लिया और हवा में झुलाने लगी। भीतर रखी चवन्नियाँ, अठन्नियाँ चहचहाने लगीं, फिर उसने थैली का मुँह खोला और सारे पैसों को मेज पर बिखेर दिया।

‘हिंदुस्तान में क्या सब लोगों के पास ऐसे ही सिक्के होते हैं?’

वह हँसने लगा, ‘और क्या सबके लिए अलग—अलग बनेंगे?’ उसने कहा।

‘लेकिन गरीब लोग?’ उसने आदमी को देखा, ‘मैंने एक रात टी.वी. में उन्हें देखा था।..।’ वह सिक्कों को भूल गई और कुछ असमंजस में फर्श पर बिखरी चीजों को देखने लगी। तब पहली बार आदमी को लगा—वह लड़की जो उसके सामने बैठी है, कोई दूसरी है। पहचान का फ्रेम वही है, जो उसने दो साल पहले देखा था लेकिन बीच की तस्वीर बदल गई है। किंतु वह बदली नहीं थी, वह सिर्फ कहीं और चली गई थी। वे माँ—बाप जो अपने बच्चों के साथ हमेशा नहीं रहते, उन गोपनीय मंजिलों के बारे में कुछ नहीं जानते जो उनके अभाव की नींव पर ऊपर ही ऊपर बनती रहती हैं, लड़की अपने बचपन की बेसमेंट में जा कर ही पिता से मिल पाती थी... लेकिन कभी—कभी उसे

छोड़ कर दूसरे कमरों में चली जाती थी, जिसके बारे में आदमी को कुछ भी मालूम नहीं था।

‘पापा!’ लड़की ने उसकी ओर देखा, ‘क्या मैं इन चीजों को समेट कर रख दूँ?’

‘क्यों, इतनी जल्दी क्या है?’

‘नहीं, जल्दी नहीं... लेकिन मामा आ कर देखेंगी तो...!’ उसके स्वर में हल्की-सी घबराहट थी, जैसे वह हवा में किसी अदृश्य खतरे को सूँघ रही हो।

‘आएँगी तो क्या?’ आदमी ने कुछ विस्मय से लड़की की ओर देखा।

‘पापा, धीरे बोलो...!’ लड़की ने ऊपर कमरे की तरफ देखा, ऊपर सन्नाटा था, जैसे घर की एक देह हो, दो में बँटी हुई, जिसका एक हिस्सा सुन्न और निस्पन्द पड़ा हो, दूसरे में वे दोनों बैठे थे और तब उसे भ्रम हुआ कि लड़की कोई कठपुतली का नाटक कर रही है। ऊपर के धागे से बँधी हुई, जैसे वह खिंचता है, वैसे वह हिलती है, लेकिन वह न धागे को देख सकता है, न उसे, जो उसे हिलाता है।..

वह उठ खड़ा हुआ। लड़की ने आतंकित हो कर उसे देखा, ‘आप कहाँ जा रहे हैं?’

‘वह नीचे नहीं आएँगी?’ उसने पूछा।

‘उन्हें मालूम है, आप यहाँ हैं।’ लड़की ने कुछ खीज कर कहा।

‘इसीलिए वह नहीं आना चाहती?’

‘नहीं...।’ लड़की ने कहा, ‘इसीलिए वह कभी भी आ सकती हैं।’

कैसे पागल हैं! इतनी छोटी-सी बात नहीं समझ सकते। ‘आप बैठिए, मैं अभी इन सब चीजों को समेट लेती हूँ।’

वह फर्श पर उकड़ूँ बैठ गई, बड़ी सफाई से हर चीज को उठा कर कोने में रखने लगी। मखमल की जूती, पशमीने की शॉल, गुजरात एंपोरियम का बेडकवर। उसकी पीठ पिता की ओर थी, किंतु वह उसके हाथ देख सकता था, पतले और साँवले, बिल्कुल अपनी माँ की तरह, वैसे ही निस्संग और ठंडे, जो उसकी लाई चीजों को आत्मीयता से पकड़ते नहीं थे, सिर्फ अनमने भाव से अलग ठेल देते थे। वे एक ऐसी बच्ची के हाथ थे, जिसने सिर्फ माँ के सीमित और सुरक्षित स्नेह को छूना सीखा था, मर्द के उत्सुक और पीड़ित उन्माद को नहीं जो पिता के सेक्स की काली कंदरा से उमड़ता हुआ बाहर आता है।

अचानक लड़की के हाथ ठिठक गए। उसे लगा, कोई दरवाजे की घंटी बजा रहा है, लेकिन दूसरे ही क्षण फोन का ध्यान आया जो जीने के नीचे कोटर में था और जंजीर से बँधे पिल्ले की तरह जोर-जोर से चीख रहा था। लड़की ने चीजें वैसे ही छोड़ दीं और लपकते हुए सीढ़ियों के पास गई, फोन उठाया, एक क्षण तक कुछ सुनाई नहीं दिया। फिर वह चिल्लाई -

‘मामा, आपका फोन!’

बच्ची बेनिस्टर के सहारे खड़ी थी, हाथ में फोन झुलाती हुई। ऊपर का दरवाजा खुला और जीना हिलने लगा। कोई नीचे आ रहा था, फिर एक सिर लड़की के चेहरे पर झुका, गुँथा हुआ जूड़ा और फोन के बीच एक पूरा चेहरा उभर आया...

‘किसका है?’ औरत ने अपने लटकते हुए जूड़े को पीछे धकेल दिया और लड़की के हाथ से फोन खींच लिया। आदमी कुर्सी से उठा... लड़की ने उसकी ओर देखा। ‘हलो,’ औरत ने कहा। ‘हलो, हलो,’ औरत की आवाज ऊपर उठी और तब उसे पता चला, कि यह उस स्त्री की आवाज है, जो उसकी पत्नी थी, वह उसे बरसों बाद भी सैकड़ों आवाजों की भीड़ में पहचान सकता था।.. ऊँची पिच पर हल्के-से काँपती हुई, हमेशा से सख्त, आहत, परेशान, उसकी देह की एकमात्र चीज, जो देह से परे आदमी की आत्मा पर खून की खरोंच खींच जाती थी... वह जैसे उठा था, वैसे ही बैठ गया।

लड़की मुस्करा रही थी।

वह हैंगर के आईने से आदमी का चेहरा देख रही थी-और वह चेहरा कुछ वैसा ही बेडौल दिखाई दे रहा था जैसे उम्र के आईने से औरत की आवाज-उल्टा, टेढ़ा, पहेली-सा रहस्यमय! वे तीनों व्यक्ति अनजाने में चार में बँट गए थे-लड़की, उसकी माँ, वह और उसकी पत्नी... घर जब गृहस्थी में बदलता है, तो अपने-आप फैलता जाता है।..

‘तुम जेनी से बात करोगी?’ औरत ने लड़की से कहा और बच्ची जैसे इसी क्षण की प्रतीक्षा कर रही थी। वह उछल कर ऊपरी सीढ़ी पर आई और माँ से टेलीफोन ले लिया, ‘हलो जेनी, इट इज मी!’

वह दो सीढ़ियाँ नीचे उतरी, अब आदमी उसे पूरा-का-पूरा देख सकता था।

‘बैठो...’ आदमी कुर्सी से उठ खड़ा हुआ। उसके स्वर में एक बेबस-सा अनुनय था, मानो उसे डर हो कि कहीं उसे देख कर वह उल्टे पाँव न लौट जाए।

वह एक क्षण अनिश्चय में खड़ी रही। अब वापस मुड़ना निरर्थक था, लेकिन इस तरह उसके सामने खड़े रहने का भी कोई तुक नहीं था। वह स्टूल खींच कर टी.वी. के आगे बैठ गई।

‘कब आए?’ उसका स्वर इतना धीमा था कि आदमी को लगा, टेलीफोन पर कोई दूसरी औरत बोल रही थी।

‘काफी देर हो गई... मुझे तो पता भी न था कि तुम ऊपर के कमरे में हो!’

स्त्री चुपचाप उसे देखती रही।

आदमी ने जब से रूमाल निकाला, पसीना पोंछा, मुस्कराने की कोशिश में मुस्कराने लगा। ‘मैं बहुत देर तक बाहर खड़ा रहा, मुझे पता नहीं था, घंटी खराब है। गैरेज खाली पड़ा था, मैंने सोचा, तुम दोनों कहीं बाहर गए हो... तुम्हारी कार?’ उसे मालूम था, फिर भी उसने पूछा।

‘सर्विसिंग के लिए गई है!’ स्त्री ने कहा। वह हमेशा से उसकी छोटी, बेकार की बातों से नफरत करती आई थी, जबकि आदमी के लिए वे कुछ ऐसे तिनके थे, जिन्हें पकड़ कर डूबने से बचा जा सकता था। कम-से-कम कुछ देर के लिए...

‘तुम्हें मेरा टेलीग्राम मिल गया था? मैं फ्रेंकफर्ट आया था, उसी टिकट पर यहाँ आ गया, कुछ पौंड ज्यादा देने पड़े। मैंने तुम्हें वहाँ से फोन भी किया, लेकिन तुम दोनों कहीं बाहर थे...’

‘कब?’ औरत ने हल्की जिज्ञासा से उसकी ओर देखा, ‘हम दोनों घर में थे।’

‘घंटी बज रही थी, लेकिन किसी ने उठाया नहीं। हो सकता है, आपरेटर मेरी अंग्रेजी नहीं समझ सकी और गलत नंबर दे दिया हो! लेकिन सुनो।’ वह हँसने लगा, ‘एक अजीब बात हुई। हीथ्रो पर मुझे एक औरत मिली, जो पीछे से बिल्कुल तुम्हारी तरह दिखाई दे रही थी, यह तो अच्छा हुआ, मैंने उसे बुलाया नहीं... हिंदुस्तान के बाहर हिंदुस्तानी औरतें एक जैसी ही दिखाई देती हैं...।’ वह बोले जा रहा था। वह उस आदमी की तरह था जो आँखों पर पट्टी बाँध कर हवा में तनी हुई रस्सी पर चलता है, स्त्री कहीं बहुत नीचे थी, एक सपने में, जिसे वह बहुत पहले कभी जानता था, किंतु अब उसे याद नहीं आ रहा था कि वह उसके सामने क्यों बैठा था?

वह चुप हो गया। उसे ख्याल आया, इतनी देर से वह सिर्फ अपनी आवाज सुन रहा है, उसके सामने बैठी स्त्री बिल्कुल चुप बैठी थी। उसकी ओर बहुत ठंडी और हताश निगाहों से देख रही थी।

‘क्या बात है?’ आदमी ने कुछ भयभीत-सा हो कर पूछा।

‘मैंने तुमसे मना किया था, तुम समझते क्यों नहीं?’

‘किसके लिए? तुमने किसके लिए मना किया था?’

‘मैं तुमसे कुछ नहीं चाहती... मेरे घर तुम ये सब क्यों लाते हो? क्या फायदा है इनका?’

पहले क्षण वह नहीं समझा, कौन-सी चीजें? फिर उसकी निगाहें फर्श पर गई... ‘शांति-निकेतन का पर्स, डाक टिकटों का अल्बम, दालबीजी का डिब्बा-वे अब बिल्कुल लुटी-पिटी दिखाई दे रही थीं, जैसे वह कुर्सी पर बैठा हुआ था, वैसी वे फर्श पर बिखरी हुई। ‘कौन-सी ज्यादा हैं?’ उसने खिसियाते हुए कहा, ‘इन्हें न लाता तो आधा सूटकेस खाली पड़ा रहता।’

‘लेकिन मैं तुमसे कुछ नहीं चाहती... तुम क्या इतनी-सी बात नहीं समझ सकते?’

स्त्री की आवाज काँपती हुई ऊपर उठी, जिसके पीछे न जाने कितनी लड़ाइयों की पीड़ा, कितने नरकों का पानी भरा था, जो बाँध टूटते ही उसके पास आने लगा, एक-एक इंच आगे बढ़ता हुआ। उसने जेब से रूमाल निकाला और अपने लथपथ चेहरे को पोंछने लगा।

‘क्या तुम्हें इतनी देर के लिए आना भी बुरा लगता है?’

‘हाँ...।’ उसका चेहरा तन गया, फिर अजीब हताशा में वह ढीली पड़ गई, ‘मैं तुम्हें देखना नहीं चाहती-बस!’

क्या यह इतना आसान है? वह जिद्दी लड़के की तरह उसे देखने लगा, जो सवाल समझ लेने के बाद भी बहाना करता है कि उसे कुछ समझ में नहीं आया।

‘बुक्कू!’ उसने धीरे से कहा, ‘प्लीज!’

‘मुझे माफ करो...।’ औरत ने कहा।

‘तुम चाहती क्या हो?’

‘लीव मी अलोन...। इससे ज्यादा मैं कुछ और नहीं चाहती।’

‘मैं बच्ची से भी मिलने नहीं आ सकता?’

‘इस घर में नहीं, तुम उससे कहीं बाहर मिल सकते हो?’

‘बाहर!’ आदमी ने हकबका कर सिर उठाया, ‘बाहर कहाँ?’

उस क्षण वह भूल गया कि बाहर सारी दुनिया फैली है, पार्क, सड़कें, होटल के कमरे-उसका अपना संसार-बच्ची कहाँ-कहाँ उसके साथ घिसटेगी?

वह फोन पर हँस रही थी। कुछ कह रही थी, ‘नहीं, आज मैं नहीं आ सकती। डैडी घर में हैं, अभी-अभी आ रहे हैं... नहीं, मुझे मालूम नहीं। मैंने पूछा नहीं...!’ क्या नहीं मालूम? शायद उसकी सहेली ने पूछा था, वह कितने दिन रहेगा? सामने बैठी स्त्री भी शायद यह जानना चाहती थी, कितना समय, कितनी घड़ियाँ, कितनी यातना अभी और उसके साथ भोगनी पड़ेगी?

शाम की आखिरी धूप भीतर आ रही थी। टी.वी. का स्क्रीन चमक रहा था, लेकिन वह खाली था और उसमें सिर्फ स्त्री की छाया बैठी थी, जैसे खबरें शुरू होने से पहले एनाउंसर की छवि दिखाई देती है, पहले कमजोर और धुँधली, फिर धीरे-धीरे ‘ब्राइट’ होती हुई... वह साँस रोके प्रतीक्षा कर रहा था कि वह कुछ कहेगी हालाँकि उसे मालूम था कि पिछले वर्षों से सिर्फ एक न्यूज-रील है, जो हर बार मिलने पर एक पुरानी पीड़ा का टेप खोलने लगती है, जिसका संबंध किसी दूसरी ज़िंदगी से है।.. चीजें और आदमी कितनी अलग हैं! बरसों बाद भी घर, किताबें, कमरे वैसे ही रहते हैं, जैसा तुम छोड़ गए थे, लेकिन लोग? वे उसी दिन से मरने लगते हैं, जिस दिन से अलग हो जाते हैं... मरते नहीं, एक दूसरी ज़िंदगी जीने लगते हैं, जो धीरे-धीरे उस ज़िंदगी का गला घोट देती है, जो तुमने साथ गुजारी थी...

‘मैं सिर्फ बच्ची से नहीं...’ वह हकलाने लगा, ‘मैं तुमसे भी मिलने आया था।’

‘मुझसे?’ औरत के चेहरे पर हँसी, हिकारत, हैरानी एक साथ उमड़ आई, ‘तुम्हारी झूठ की आदत अभी तक नहीं गई!’

‘तुमसे झूठ बोल कर अब मुझे क्या मिलेगा?’

‘मालूम नहीं, तुम्हें क्या मिलेगा-मुझे जो मिला है, उसे मैं भोग रही हूँ।’ उसने एक ठहरी ठंडी निगाह से बाहर देखा। ‘मुझे अगर तुम्हारे बारे में पहले से ही कुछ मालूम होता, तो मैं कुछ कर सकती थी।’

‘क्या कर सकती थी?’ एक ठंडी-सी झुरझुरी ने आदमी को पकड़ लिया।

‘कुछ भी। मैं तुम्हारी तरह अकेली नहीं रह सकती, लेकिन अब इस उम्र में... अब कोई मुझे देखता भी नहीं।’

‘बुक्कू...!’ उसने हाथ पकड़ लिया।

‘मेरा नाम मत लो... वह सब खत्म हो गया।’

वह रो रही थी, बिल्कुल निस्संग, जिसका गुजरे हुए आदमी और आने वाली उम्मीद-दोनों से कोई सरोकार नहीं थी। आँसू, जो एक कारण से नहीं, पूरा पत्थर हट जाने से आते हैं, एक ढलुआ जिंदगी पर नाले की तरह बहते हुए औरत बार-बार उन्हें अपने हाथ से झटक देती थी...

बच्ची कब से फोन के पास चुप बैठी थी। वह जीने की सबसे निचली सीढ़ी पर बैठी थी और सूखी आँखों से रोती माँ को देख रही थी। उसके सब प्रयत्न निष्फल हो गए थे, किंतु उसके चेहरे पर निराशा नहीं थी। हर परिवार के अपने दुःस्वप्न होते हैं, जो एक अनवरत पहिए में घूमते हैं, वह उसमें हाथ नहीं डालती थी। इतनी कम उम्र में वह इतना बड़ा सत्य जान गई थी कि मनुष्य के मन और बाहर की सृष्टि में एक अद्भुत समानता है—वे जब तक अपना चक्कर पूरा नहीं कर लेते, उन्हें बीच में रोकना बेमानी है।।

वह बिना आदमी को देखे माँ के पास गई, कुछ कहा, जो उसके लिए नहीं था औरत ने उसे अपने पास बैठा लिया, बिल्कुल अपने से सटा कर। काउच पर बैठी वे दोनों-सी लग रही थीं। वे उसे भूल गई थीं। कुछ देर पहले जो ज्वार उठा था, उसमें घर डूब गया था, लेकिन अब पानी वापस लौट गया था और अब आदमी वहाँ था, जहाँ उसे होना चाहिए था—किनारे पर। उसे यह ईश्वर का वरदान जैसा जान पड़ा, वह दोनों के बीच बैठा है—अदृश्य! बरसों से उसकी यह साध रही थी कि वह माँ और बेटी के बीच अदृश्य बैठा रहे। सिर्फ ईश्वर ही अपनी दया में अदृश्य होता है—यह उसे मालूम था। किंतु जो आदमी गढ़हे की सबसे निचली सतह पर जीता है, उसे भी कोई नहीं देख सकता। माँ और बच्ची ने उसे अलग छोड़ दिया था, यह उसकी उपेक्षा नहीं थी। उसकी तरफ से मुँह मोड़ कर उन्होंने उसे अपने पर छोड़ दिया था—ठीक वहीँ—जहाँ उसने बरसों पहले घर छोड़ा था।

लड़की माँ को छोड़ कर उसके पास आ कर बैठ गई।

‘हमारा बाग देखने चलोगे?’ उसने कहा।

‘अभी?’ उसने कुछ विस्मय से लड़की को देखा। वह कुछ अधीर और उतावली-सी दिखाई दे रही थी, जैसे वह उससे कुछ कहना चाहती हो, जिसे कमरे के भीतर कहना असंभव हो।

‘चलो,’ आदमी ने उठते हुए कहा, ‘लेकिन पहले इन चीजों को ऊपर ले जाओ।’

‘हम इन्हें बाद में समेट लेंगे।’

‘बाद में कब?’ आदमी ने कुछ सशक्त हो कर पूछा।

‘आप चलिए तो!’ लड़की ने लगभग उसे घसीटते हुए कहा।

‘इनसे कहो, अपना सामान सूटकेस में रख लें।’ स्त्री की आवाज सुनाई दी।

उसे लगा, किसी ने अचानक पीछे से धक्का दिया हो। वह चमक कर पीछे मुड़ा, ‘क्यों?’

‘मुझे इनकी कोई जरूरत नहीं है।’

उसके भीतर एक लपलपाता अंधड़ उठने लगा, ‘मैं नहीं ले जाऊँगा, तुम चाहो तो इन्हें बाहर फेंक सकती हो।’

‘बाहर?’ स्त्री की आवाज थरथरा रही थी, ‘मैं इनके साथ तुम्हें भी बाहर फेंक सकती हूँ।’ रोने के बाद उसकी आँखें चमक रही थीं, गालों का गीलापन सूखे काँच-सा जम गया था, जो पोंछे हुए नहीं, सूखे हुए आँसुओं से उभर कर आता है।

‘क्या हम बाग देखने नहीं चलेंगे?’ बच्ची ने उसका हाथ खींचा-और वह उसके साथ चलने लगा। वह कुछ भी नहीं देख रहा था। घास, क्यारियाँ और पेड़ एक गूँगी फिल्म की तरह चल रहे थे। सिर्फ उसकी पत्नी की आवाज एक भुतैली कमेंट्री की तरह गूँज रही थी-बाहर, बाहर!

‘आप ममी के साथ बहस क्यों करते हैं?’ लड़की ने कहा।

‘मैंने बहस कहाँ की?’ उसने बच्ची को देखा-जैसे वह भी उसकी दुश्मन हो।

‘आप करते हैं।’ लड़की का स्वर अजीब-सा हठीला हो आया था। वह अंग्रेजी में ‘यू’ कहती थी, जिसका मतलब प्यार में ‘तुम’ होता था और नाराजगी में ‘आप’। अंग्रेजी सर्वनाम की यह संदिग्धता बाप-बेटी के रिश्ते को हवा में टाँगे रहती थी, कभी बहुत पास, कभी बहुत पराया-जिसका सही अंदाज उसे सिर्फ लड़की की टोन में टटोलना पड़ता था। एक अजीब-से भय ने आदमी को पकड़ लिया। वह एक ही समय में माँ और बच्ची दोनों को नहीं खोना चाहता था।

‘बड़ा प्यारा बाग है,’ उसने फुसलाते हुए कहा, ‘क्या माली आता है?’

‘नहीं, माली नहीं।’ लड़की ने उत्साह से कहा, ‘मैं शाम को पानी देती हूँ और छुट्टी के दिन ममी घास काटती हैं... इधर आओ, मैं तुम्हें एक चीज दिखाती हूँ।’

वह उसके पीछे-पीछे चलने लगा। लॉन बहुत छोटा था-हरा, पीला, मखमली। पीछे गैराज था और दोनों तरफ झाड़ियों की फेंस लगी थी। बीच में एक घना, बूढ़ा, विलो खड़ा था। लड़की पेड़ के पीछे छिप-सी गई, फिर उसकी आवाज सुनाई दी, 'कहाँ हो तुम?'

वह चुपचाप, दबे-पाँवों से पेड़ के पीछे चला आया और हैरान-सा खड़ा रहा। विलो और फेंस के बीच काली लकड़ी का बाड़ा था, जिसके दरवाजे से एक खरगोश बाहर झाँक रहा था, दूसरा खरगोश लड़की की गोद में था। वह उसे ऐसे सहला रही थी, जैसे वह ऊन का गोला हो, जो कभी भी हाथ से छूट कर झाड़ियों में गुम हो जाएगा।

'ये हमने अभी पाले हैं... पहले दो थे, अब चार।'

'बाकी कहाँ हैं?'

'बाड़े के भीतर... वे अभी बहुत छोटे हैं।'

पहले उसका मन भी खरगोश को छूने के लिए हुआ, किंतु उसका हाथ अपने-आप बच्ची के सिर पर चला गया और वह धीरे-धीरे उसके भूरे, छोटे बालों से खेलने लगा। लड़की चुप खड़ी रही और खरगोश अपनी नाक सिकोड़ता हुआ उसकी ओर ताक रहा था।

'पापा?' लड़की ने बिना सिर उठाए धीरे से कहा, 'क्या आपने डे-रिटर्न का टिकट लिया है?'

'नहीं, क्यों?'

'ऐसे ही, यहाँ वापसी का टिकट बहुत सस्ता मिल जाता है।'

क्या उसने यही पूछने के लिए उसे यहाँ बुलाया था? उसने धीरे से अपना हाथ लड़की के सिर से हटा लिया।

'आप रात को कहाँ रहेंगे?' लड़की का स्वर बिल्कुल भावहीन था।

'अगर मैं यहीं रहूँ तो?'

लड़की ने धीरे से खरगोश को बाड़े में रख दिया और खट से दरवाजा बंद कर दिया।

'मैं हँसी कर रहा था,' उसने हँस कर कहा, 'मैं आखिरी ट्रेन से लौट जाऊँगा।'

लड़की ने मुड़ कर उसकी ओर देखा, 'यहाँ दो-तीन अच्छे होटल भी हैं..। मैं अभी फोन करके पूछ लेती हूँ।' बच्ची का स्वर बहुत कोमल हो आया। यह जानते ही कि वह रात को घर में नहीं ठहरेगा, वह माँ से हट कर आदमी

के साथ हो गई, धीरे से उसका हाथ पकड़ा, उसे वैसे ही सहलाने लगी, जैसे अभी कुछ देर पहले खरगोश को सहला रही थी। लेकिन आदमी का हाथ पसीने से तरबतर था।

‘सुनो, मैं अगली छुट्टियों में इंडिया आऊँगी-इस बार पक्का है।’

उसे कुछ आश्चर्य हुआ कि आदमी ने कुछ नहीं कहा, सिर्फ बाड़े में खरगोशों की खटर-पटर सुनाई दे रही थी।

‘पापा... तुम कुछ बोलते क्यों नहीं?’

‘तुम हर साल यही कहती हो।’

‘कहती हूँ... लेकिन इस बार मैं आऊँगी, डोंट यू बिलीव मी?... भीतर चलें? ममी हैरान हो रही होंगी कि हम कहाँ रह गए।’

अगस्त का अँधेरा चुपचाप चला आया था। हवा में विलो की पत्तियाँ सरसरा रही थीं। कमरों के परदे गिरा दिए गए थे, लेकिन रसोई का दरवाजा खुला था। लड़की भागते हुए भीतर गई और सिंक का नल खोल कर हाथ धोने लगी। वह उसके पीछे आ कर खड़ा हो गया, सिंक के ऊपर आईने में उसने अपना चेहरा देखा-रूखी गर्द और बड़ी हुई दाढ़ी और सुर्ख आँखों के बीच उसकी ओर हैरत में ताकता हुआ-नहीं, तुम्हारे लिए कोई उम्मीद नहीं।

पापा, क्या तुम अब भी अपने-आपसे बोलते हो?’ लड़की ने पानी में भीगा अपना चेहरा उठाया-वह शीशे में उसे देख रही थी।

‘हाँ, लेकिन अब मुझे कोई सुनता नहीं...।’ उसने धीरे से बच्ची के कंधे पर हाथ रखा, ‘क्या फ्रिज में सोडा होगा?’

‘तुम भीतर चलो, मैं अभी लाती हूँ।’

कमरे में कोई न था। उसकी चीजें बटोर दी गई थीं। सूटकेस कोने में खड़ा था, जब वे बाग में थे, उसकी पत्नी ने शायद उन सब चीजों को देखा होगा, उन्हें छुआ होगा। वह उससे चाहे कितनी नाराज क्यों न हो-चीजों की बात अलग थी। वह उन्हें ऊपर नहीं ले गई थी, लेकिन दुबारा सूटकेस में डालने की हिम्मत नहीं की थी... उसने उन्हें अपने भाग्य पर छोड़ दिया था।

कुछ देर बाद जब बच्ची सोडा और गिलास ले कर आई, तो उसे सहसा पता नहीं चला कि वह कहाँ बैठा है। कमरे में अँधेरा था-पूरा अँधेरा नहीं-सिर्फ इतना, जिसमें कमरे में बैठा आदमी चीजों के बीच चीज-जैसा दिखाई देता है, ‘पापा... तुमने बत्ती नहीं जलाई?’

‘अभी जलाता हूँ...।’ वह उठा और स्विच को ढूँढ़ने लगा, बच्ची ने सोडा और गिलास मेज पर रख दिया और टेबुल लैप जला दिया।

‘ममी कहाँ हैं?’

‘वह नहा रही हैं, अभी आती होंगी।’

उसने अपने बैग से व्हिस्की निकाली, जो उसने फ्रेंकफर्ट के एयरपोर्ट पर खरीदी थी... गिलास में डालते हुए उसके हाथ ठिठक गए, ‘तुम्हारी जिंजर-एल कहाँ है?’

‘मैं अब असली बियर पीती हूँ।’ लड़की ने हँस कर उसकी ओर देखा, ‘तुम्हें बर्फ चाहिए?’

‘नहीं... लेकिन तुम जा कहाँ रही हो?’

‘बाड़े में खाना डालने... नहीं तो वे एक-दूसरे को मार खाएँगे।’

वह बाहर गई तो खुले दरवाजे से बाग का अँधेरा दिखाई दिया-तारों की पीली तलछट में झिलमिलाता हुआ। हवा नहीं था। बाहर का सन्नाटा घर की अदृश्य आवाजों के भीतर से छन कर आता था। उसे लगा, वह अपने घर में बैठा है और जो कभी बरसों पहले होता था, वह अब हो रहा है। वह शॉवर के नीचे गुनगुनाती रहती थी और जब वह बालों पर तौलिया साफे की तरह बाँध कर बाहर निकलती थी, तब पानी की बूँदें बाथरूम से ले कर उसके कमरे तक एक लकीर बनाती जाती थीं-पता नहीं वह लकीर कहाँ बीच में सूख गई? कौन-सी जगह, किस खास मोड़ पर वह चीज हाथ से छूट गई, जिसे वह कभी दोबारा नहीं पकड़ सका?

उसने कुछ और व्हिस्की डाली, हालाँकि गिलास अभी खाली नहीं हुआ था। उसे कुछ अजीब लगा कि पिछली रात भी यही घड़ी थी जब वह पी रहा था, लेकिन तब वह हवा में था। जब उसे एयर-होस्टेज की आवाज सुनाई दी कि हम चैनल पार कर रहे हैं तो उसने हवाई जहाज की खिड़की से नीचे देखा-कुछ भी दिखाई नहीं देता था-न समुद्र, न लाइटहाउस, सिर्फ अँधेरा, अँधेरे में बहता हुआ अँधेरा-फिर कुछ भी नहीं और तब नीचे अँधेरे में झाँकते हुए उसे ख्याल आया कि वह चैनल जो नीचे कहीं दिखाई नहीं देता था, असल में कहीं भीतर है-उसकी एक जिंदगी से दूसरी जिंदगी तक फैला हुआ, जिसे वह हमेशा पार करता रहेगा, कभी इधर, कभी उधर, कहीं का भी नहीं, न कहीं से आता हुआ, न कहीं पहुँचता हुआ...।

‘बिंदु कहाँ है?’ उसने चौंक कर ऊपर देखा, वह वहाँ कब से खड़ी थी, उसे पता नहीं चला था। ‘बाहर बाग में,’ उसने कहा, ‘खरगोशों को खाना देने।’

वह अलग खड़ी थी, बेनिस्टर के नीचे। नहाने के बाद उसने एक लंबी मैक्सी पहन ली थी...। बाल खुले थे। चेहरा बहुत धुला और चमकीला-सा लग रहा था। वह मेज पर रखे उसके गिलास को देख रही थी। उसका चेहरा शांत था, शॉवर ने जैसे न केवल उसके चेहरे को, बल्कि उसके संताप को भी धो डाला था।

‘बर्फ भी रखी है।’ उसने कहा।

‘नहीं, मैंने सोडा ले लिया, तुम्हारे लिए एक बना दूँ?’

उसने सिर हिलाया, जिसका मतलब कुछ भी था, उसे मालूम था कि गर्म पानी से नहाने के बाद उसे कुछ ठंडा पीना अच्छा लगता था। अर्से बाद भी वह उसकी आदतें नहीं भूला था, बल्कि उन आदतों के सहारे ही दोनों के बीच पुरानी पहचान लौट आती थी। वह रसोई में गया और उसके लिए एक गिलास ले आया। उसमें थोड़ी-सी बर्फ डाली। जब व्हिस्की मिलाने लगा, तो उसकी आवाज सुनाई दी, ‘बस, इतनी काफी है।’

वह धुली हुई आवाज थी, जिसमें कोई रंग नहीं था, न स्नेह का, न नाराजगी का-एक शांत और तटस्थ आवाज। वह सीढ़ियों से हट कर कुर्सी के पास चली आई थी।

‘तुम बैठोगी नहीं?’ उसने कुछ चिंतित हो कर पूछा।

उसने अपना गिलास उठाया और वहीं स्टूल पर बैठ गई, जहाँ दुपहर को बैठी थी। टी.वी. के पास लेकिन टेबुल-लैप से दूर-जहाँ सिर्फ रोशनी की एक पतली-सी झ़ाँई, उस तक पहुँच रही थी।

कुछ देर तक दोनों में से कोई कुछ नहीं बोला, फिर स्त्री की आवाज सुनाई दी, ‘घर में सब लोग कैसे हैं?’

‘ठीक हैं... ये सब चीजें उन्होंने ही भेजी हैं।’

‘मुझे मालूम है,’ औरत ने कुछ थके स्वर में कहा, ‘क्यों उन बेचारों को तंग करते हो? तुम ढो-ढो कर इन चीजों को लाते हो और वे यहाँ बेकार पड़ी रहती हैं।’

‘वे यही कर सकते हैं,’ उसने कहा, ‘तुम बरसों से वहाँ गई नहीं, वे बहुत याद करते हैं।’

‘अब जाने का कोई फायदा है?’ उसने गिलास से लंबा घूँट लिया, ‘मेरा अब उनसे कोई रिश्ता नहीं।’

‘तुम बच्ची के साथ तो आ सकती हो, उसने अभी तक हिंदुस्तान नहीं देखा।’

वह कुछ देर चुप रही... फिर धीरे से कहा, ‘अगले साल वह चौदह वर्ष की हो जाएगी... कानून के मुताबिक तब वह कहीं भी जा सकती है।’

‘मैं कानून की बात नहीं कर रहा, तुम्हारे बिना वह कहीं नहीं जाएगी।’ स्त्री ने गिलास की भीगी सतह से आदमी को देखा, ‘मेरा बस चले तो उसे वहाँ कभी न भेजूँ।’

‘क्यों?’ आदमी ने उसकी ओर देखा।

वह धीरे से हँसी, ‘क्या हम दो हिंदुस्तानी उसके लिए काफी नहीं हैं?’ वह बैठा रहा। कुछ देर बाद रसोई का दरवाजा खुला, लड़की भीतर आई, चुपचाप दोनों को देखा और फिर जीने के पास चली गई जहाँ टेलीफोन रखा था।

‘किसे कर रही हो?’ औरत ने पूछा।

लड़की चुप रही, फोन का डायल घुमाने लगी।

आदमी उठा, उसकी ओर देखा, ‘थोड़ा-सा और लोगी?’

‘नहीं...।’ उसने सिर हिलाया। आदमी धीरे-धीरे अपने गिलास में डालने लगा।

‘क्या बहुत पीने लगे हो?’ औरत ने कहा।

‘नहीं...।’ आदमी ने सिर हिलाया, ‘सफर में कुछ ज्यादा ही हो जाता है।’

‘मैंने सोचा था, अब तक तुमने घर बसा लिया होगा।’

‘कैसे?’ उसने स्त्री को देखा, ‘तुम्हें यह कैसे भ्रम हुआ?’

औरत कुछ देर तक नीरव आँखों से उसे देखती रही, ‘क्यों, उस लड़की का क्या हुआ? वह तुम्हारे साथ नहीं रहती?’ स्त्री के स्वर में कोई उत्तेजना नहीं थी, न क्लेश की कोई छ्छाया थी... जैसे दो व्यक्ति मुद्दत बाद किसी ऐसी घटना की चर्चा कर रहे हों जिसने एक झटके से दोनों को अलग छोरों पर फेंक दिया था।

‘मैं अकेला रहता हूँ... माँ के साथ।’ उसने कहा।

औरत ने तनिक विस्मय से उसे देखा, ‘क्या बात हुई?’

‘कुछ नहीं... मैं शायद साथ रहने के काबिल नहीं हूँ।’ उसका स्वर असाधारण रूप से धीमा हो आया, जैसे वह उसे अपनी किसी गुप्त बीमारी के बारे में बता रहा हो, ‘तुम हैरान हो? लेकिन ऐसे लोग होते हैं...’ वह कुछ और कहना चाहता था, प्रेम के बारे में, वफादारी के बारे में, विश्वास और धोखे के बारे में, कोई बड़ा सत्य, जो बहुत-से झूठों से मिल कर बनता है, व्हिस्की की धुंध में बिजली की तरह कौंधता है और दूसरे क्षण हमेशा के लिए अँधेरे में लोप हो जाता है।..

लड़की शायद इस क्षण की ही प्रतीक्षा कर रही थी, वह टेलीफोन से उठ कर आदमी के पास आई, एक बार माँ को देखा, वह टेबुल-लैप के पीछे अँधेरे के आधे कोने में छिप गई थीं और आदमी? वह गिलास के पीछे सिर्फ एक डबडबाता-सा धब्बा बन कर रह गया था।

‘पापा,’ लड़की के हाथ में कागज का पुरजा था, ‘यह होटल का नाम है, टैक्सी तुम्हें सिर्फ दस मिनट में पहुँचा देगी।’

उसने लड़की को अपने पास खींच लिया और कागज जेब में रख लिया। कुछ देर तक तीनों चुप बैठे रहे, जैसे बरसों पहले यात्रा पर निकलने से पहले घर के सब प्राणी एक साथ सिमट कर चुप बैठ जाते थे। बाहर बहुत-से तारे निकल आए थे, जिसमें बूढ़ी, विलो, झाड़ियाँ और खरगोशों का बाड़ा एक निस्पंद पीले आलोक में पास-पास सरक आए थे।

उसने अपना गिलास मेज पर रखा, फिर धीरे से लड़की को चूमा, अपना सूटकेस उठाया और जब लड़की ने दरवाजा खोला, तो वह क्षण भर देहरी पर ठिठक गया, ‘मैं चलता हूँ।’ उसने कहा। पता नहीं, यह बात उसने किससे कही थी, किंतु जहाँ वह बैठी थी, वहाँ से कोई आवाज नहीं आई। वहाँ उतनी ही घनी चुप्पी थी, जितनी बाहर अँधेरे में, जहाँ वह जा रहा था।

कव्वे और काला पानी

निर्मल वर्मा

मास्टर साहब पहले व्यक्ति थे, जिनसे मैं उस निर्जन, छोटे, उपेक्षित पहाड़ी कस्बे में मिला था। पहले दिन ही... मैं बस से उतर ही रहा था, तो देखा, सारा शहर पानी में भीग रहा है, भुवाली में धूप, रामगढ़ पर बादल और यहाँ बारिश-हमारी बस ने तीन घंटों के दौरान तीन अलग-अलग मौसम पार कर लिए

थे और अब वह बाजार के बीच खड़ी थी-अपनी छत से मेरा सामान नीचे फट-फट फेंकती हुई, फटीचर सामान, जो मैं दिल्ली से ढो कर वहाँ लाया था-बाबू का एक पुराना होल्डॉल और पुराने जमाने का टीन का ट्रंक, जिस पर पुरानी यात्राओं के लेबल मुर्दा तिलचट्टों-से चिपके थे।

मैं बीच बाजार में खड़ा था-पानी में चका डुब्ब और मेरा सामान किनारे पर पड़ा था अपनी दरिद्रता में भीगता हुआ, पता नहीं कैसे-बारिश में शहर और आदमियों की समूची लुटी-पिटी फटेहाली अपनी थिंगलियाँ खोल बाहर निकल आती हैं। सिर्फ मेरे ब्रीफकेस से लगता था कि मैं बाबू-जाति का हूँ और मैंने भी उसे सभ्यता की अंतिम निशानी की तरह छाती से चिपका कर रख छोड़ा था।.. लेकिन सिर्फ इसलिए नहीं, इसलिए भी कि उस ब्रीफकेस में वह समूचा प्रयोजन छिपा था, जिसे ले कर मैं अपना शहर और घर-गृहस्थी छोड़ कर उस अजनबी, पहाड़ी शहर में आया था।

हिंदुस्तान के छोटे, कस्बाई शहर वैसे ही त्रासदायी लगते हैं-ऊपर से बारिश, ठंड और अँधेरा, जब बस चलने लगी तो, पागल-सा विचार आया कि लपक कर उसमें घुस जाऊँ और कंडक्टर से प्रार्थना करूँ कि मुझे दोबारा भुवाली और हलद्वानी और दिल्ली की तरफ ले जाए... अपनी जिंदगी की जानी और सुरक्षित रोशनी में, जहाँ न अजनबी शहर की बारिश थी, न पहाड़ी ढाबों की गंध-लेकिन बस रुकी नहीं-न वह मुड़ी, उसे कहीं और आगे जाना था, मैं खड़ा-खड़ा उसके पीछे की लाल सुर्ख रोशनी को देखता रहा जो बारिश की धुंध में एक मैले खून के धब्बे-सी दूर तक पीछे सरकती गई।

मैंने आसपास देखा, सामने एक छोटा-सा बाजार था-मोटर रोड से थोड़ा ऊपर उठा हुआ-जिस पर तीन-चार खोखल दिखाई देते थे-पीली लालटेनों में धुँधुआते हुए। सबसे निचली खोह में, बस-स्टेशन से लगभग चिपकी हुई एक चाय की दुकान थी, जहाँ दो-चार लोग टाट की खपरैल के नीचे बैठे थे, मैंने अब अपने ब्रीफकेस को छूते की तरह सिर पर रख लिया था, किंतु मेरे टीन के संदूक और होल्डॉल की हालत बुरी थी, सड़क के किनारे बारिश में भीगते हुए वे मुझसे भी ज्यादा दयनीय दिखाई दे रहे थे।

मैं कुछ देर इस उम्मीद में खड़ा रहा कि चाय की दुकान में बैठा कोई आदमी जरूर मुझ पर रहम करेगा, लेकिन अब वे शायद मुझे देख भी नहीं सकते थे, बारिश की दीवार ने मुझे जैसे अचानक अपनी ओट में बाकी दुनिया से अलग

कर दिया था। मेरे साथ तीन-चार सवारियाँ, जो बस से नीचे उतरी थीं, पता नहीं शहर के किसी अँधेरे कोटर में गायब हो गई थीं।

अचानक मुझे अपने सामने एक छाता दिखाई दिया, वह कुछ देर तक मेरे आगे डोलता रहा, मानो तय न कर पा रहा हो कि मैं कौन हूँ, आदमी या प्रेत? फिर छाते के भीतर से एक पीला, पहाड़ी चेहरा बाहर आया, 'यह आपका सामान है?' उसने मेरे ट्रंक और होल्डॉल की ओर इशारा किया।

'जी...' मैंने कहा।

'और आप?'

'मैं?'

'कहाँ जाना है?' उन्होंने पूछा।

'पास में कोई होटल है?' मैंने लगभग रिरियाते हुए पूछा।

'होटल, यहाँ?' उन्होंने मुझे कुछ ऐसे देखा, जैसे मैं जीते-जी स्वर्ग की कामना कर रहा हूँ।

'कोई भी जगह रहने के लिए,' मैंने कहा।

इस बार उनके चेहरे पर हल्की-सी उत्सुकता चमक आई।

'कितने दिन के लिए?' उन्होंने पूछा।

मैं असमंजस में खड़ा उन्हें देखता रहा, जब घर से चला था, तो दिन-महीनों का कोई हिसाब नहीं जोड़ा था। मैं कुछ कह पाता, इससे पहले ही उन्होंने अपना छाता मेरे ऊपर कर दिया। पहले मैं ही भीग रहा था, अब एक छाते के नीचे हम दोनों आधा-आधा भीगने लगे।

'एक रेस्ट-हाउस है—लेकिन आपको तीन कि.मी. ऊपर चढ़ना पड़ेगा।'

'कोई कुली मिल सकता है?'

'इस वक्त?' उन्होंने बाजार की तरफ देखा, फिर मेरी तरफ—और तब सहसा कुछ सोच कर मेरे संदूक को हैंडिल से पकड़ लिया।

'चलिए, मेरे साथ आइए।'

मैंने उन्हें रोकना चाहा, किंतु वे मेरा संदूक उठा कर आगे बढ़ गए थे, मेरे पास कोई चारा नहीं था, सिवा इसके कि मैं भी अपना होल्डॉल उठा कर उनके पीछे-पीछे चल पड़ूँ। मुझे कुछ हैरानी हुई कि इतना दुबला-पतला आदमी एक हाथ में छाता, दूसरे हाथ में ट्रंक पकड़ कर इतनी तेजी से ऊपर चढ़ सकता है!

बस-स्टेशन पीछे छूट गया। बाजार की दुकानें बहुत नीचे ढुलक गई—और हम ऊपर चढ़ते गए, शायद यह कहना ठीक होगा कि वे ऊपर चढ़ते गए और

मैं उनके पीछे घिसटता रहा। बारिश की चहबच्चों और कीचड़ में मेरे पैर बार-बार रपट जाते थे। एक बार पीछे मुड़ कर उन्होंने मुझे कुछ कहा, जिसे मैं नहीं सुन सका। मैं सिर्फ अपने दिल की धुकधुकी ही सुन पा रहा था, जो हर कदम पर तेज हो जाती थी। माथे पर बहते पानी में कितना पसीना था, कितनी बारिश, इसका पता चलाना भी असंभव था।

उस दिन मैं अपनी यात्रा की थकान और भीतर की बेचैनी के बावजूद अंधाधुंध कितना ऊपर चढ़ गया था, यह सोच कर हैरानी होती है। मैं उम्र में ही ऊपर चढ़ा हूँ, पहाड़ पर नहीं, पहाड़ की चढ़ाई तो दूर, घर का जीना चढ़ते ही भीतर की अलार्म घड़ी रिरियाने लगती है। जिंदगी में पहली बार किसी अनजानी जगह आना हुआ था—अपनी इच्छा से नहीं—अपनी इच्छा होती तो देहरी के परे पाँव नहीं रखता, कम-से-कम इस जगह नहीं लेकिन वह जगह मैंने नहीं चुनी थी, जिन्होंने चुनी थी, मैं उन्हें ही खोजने इतनी दूर चला आया था।

‘आइए, भीतर चले आइए,’ उन्होंने दरवाजा खोल कर मेरी ओर देखा।

पहले क्षण कुछ दिखाई नहीं दिया, मैं देहरी पर खड़ा था, बारिश से बचता हुआ, फिर अचानक कोई चीज भक से जल उठी—लालटेन की रोशनी और तब मुझे पता चला कि वे मुझे किसी होटल या धर्मशाला में नहीं, सीधे अपने घर ले आए हैं। मैं शायद कुछ देर असमंजस में वहीं खड़ा रहता, यदि बाहर से हवा का थपेड़ा मुझे धकेल कर भीतर न ले जाता।

कोई चीज है इच्छा? शायद वह आदमी का सबसे बड़ा माया-मोह है। इच्छा जिस लाइन पर चलती है, उससे कितनी दूर छिटक कर हम घिसटते हैं। वह हमें काट जाती है और हम दो में बँट जाते हैं। मेरा एक हिस्सा घर में पीछे छूट गया था, दूसरा उस शहर में था, पानी और हवा में ठिठुरता हुआ—और शायद तीसरा हिस्सा भी था, जो बेबस-सा खड़ा हमें असंख्य हिस्सों में बँटता हुआ देखता है।

फिर गुस्सा आता है—नपुंसक, बेबस और रुआँसा—जब पता चलता है कि जो हमारे साथ घट रहा है, उस पर हमारी इच्छा का कोई बस नहीं है, जैसे मास्टर साहब मुझे ऊपर ले आए थे, वैसे ही आँधी का झोंका मुझे उनके घर घसीट लाया था, ‘अरे, बैठिए... बाहर क्यों खड़े हैं?’ उन्होंने पलंग की ओर इशारा किया, वे खुद स्टूल पर बैठे थे और अपने चीकट जूतों के तस्मे खोल रहे थे।

‘मैंने आपसे होटल ले जाने के लिए कहा था,’ मैंने कुछ खीज कर कहा।

‘अरे साहब, इसे होटल ही समझ लीजिए, इस मौसम में कहाँ जाएँगे?’ वे हँसने लगे। एकबारगी इच्छा हुई, अपना सामान वहीं छोड़ कर बाहर निकल जाऊँ। उनकी हँसी, लालटेन में हिलता उनका फटीचर कमरा, कीचड़ में लिथड़ी मेरी देह-इनका कोई मतलब था? हाँ, क्यों नहीं, किसी ने मेरे भीतर कहा, तुम यहाँ आए हो, तो तुम्हें अपने पुराने मतलबों की गठरी छोड़नी होगी... और तब सचमुच मैंने अपने पीछे दरवाजा बंद कर दिया। अँधेरा, बारिश, हवा सब पीछे छूट गए और मैं...

मैं भीतर चला गया।

पहली नजर में वह किसी आउटहाउस की धुँधुआती कोठरी जान पड़ती थी-बीच हवा में खुली हुई, जहाँ बादल बिना रोक-टोक के भीतर आते थे, किंतु भीतर का धुआँ बाहर जाने में हिचकिचाता था। कमरे से सटा एक गोदाम था, जहाँ मिट्टी के तेल का स्टोव और कुछ बरतन रखे थे। वही शायद उनकी रसोई थी। कोने में पानी से भरी बाल्टी, लोटा और पट्टा रखा था, जिससे पता चलता था, कि शायद वे नहाते भी रसोई में हैं-दीवार में एक चौकोर सुराख खुला था-जिसके पीछे एक छज्जा दिखाई देता था, वहाँ तार पर उन्होंने कपड़े सुखाने के लिए टाँग रखे थे, जो अब बारिश में भीग भी रहे थे।

वे स्टोव जला रहे थे। बार-बार पीछे मुड़ कर मेरी तरफ देखते जाते थे, मानो उन्हें डर हो कि उनकी आँख बचा कर कहीं अचानक लोप न हो जाऊँ, लेकिन अब मैं उनके पलंग में धँस गया था, मैं कोई भारी आदमी नहीं हूँ, किंतु मेरे बैठते ही उनके पलंग की निवाड़ धूल चाटने लगी थी... मैं पलंग पर बैठा हुआ भी फर्श से चिपका हुआ था।

वे चाय के दो गिलास लाए और सामने चटाई पर बैठ गए।

‘आप पहली बार यहाँ आए हैं?’ उन्होंने पूछा।

‘जी।’

‘वही तो... मैं आपको देखते ही पहचान गया।’

‘कैसे?’ मैंने आश्चर्य से उन्हें देखा। चाय के गर्म धुएँ में उनका लंबा पीला चेहरा पहले कहीं देखा हो, याद नहीं आया।

‘कोई मुश्किल नहीं, देखते ही पता चल जाता है, कौन यहाँ का है, कौन बाहर का। आप बस से उतर कर बारिश में खड़े हो गए, यहाँ का आदमी होता तो सीधा अपने घर की तरफ भागता।’ वे हँसने लगे। दाँत पीले पड़ गए थे,

लेकिन गंदे नहीं लगते थे, उनके पीले, मुरझाए चेहरे पर अपनी जगह फिट जान पड़ते थे।

‘वैसे इस मौसम में यहाँ बहुत कम टूरिस्ट आते हैं।’ उन्होंने मेरी ओर छलछलाती उत्सुकता से देखा, जैसे उनकी बात सुनते ही मैं उन्हें इस अजीब मौसम में आने का कारण बताऊँगा, लेकिन मैं चुप रहा, अपने को रोके रहा। एक बार उनके साथ आने में जो गलती की थी, अब दूसरी बार नहीं दोहराना चाहता था।

‘आप कब से यहाँ हैं?’ मैंने बात बदलते हुए कहा।

‘पाँच साल... नहीं छह साल।’ उन्होंने चाय का गिलास नीचे रख दिया और अँगुलियों पर बीते, पुराने साल जोड़ने लगे, ‘जिस साल शास्त्री जी का ताशकंद में इंतकाल हुआ, मैं यहीं था, मुझे याद है, मैंने यह दुखदाई खबर अस्पताल में सुनी थी।’

‘आप अस्पताल में थे?’ मैंने विनम्र-सी सहानुभूति दिखाई।

‘जी... वैसे अल्मोड़ा में भी डॉक्टरों की कमी नहीं, लेकिन यहाँ मेरे चाचा डॉक्टर थे, उन्होंने मुझे यहीं अस्पताल में दाखिल करवा दिया। जब ठीक हुआ तो पता चला कि यहाँ हाईस्कूल में एक अंग्रेजी टीचर की जरूरत है, बस फिर यहीं टिक गया,’ उन्होंने कुछ मुस्करा कर मेरी ओर देखा, ‘बीमारी ठीक कराने आया था, यह नहीं सोचा था कि बेकारी की समस्या भी हल हो जाएगी।’

‘आपका घर यहाँ नहीं है?’ मैंने पूछा।

‘आप इसे घर कहेंगे?’ उन्होंने सरसरी निगाह अपने कमरे में डाली, मानो उसे पहली बार देख रहे हों। उस शिकायत-भरी निगाह में कुछ रहा होगा कि रसोई में रखी बाल्टी, टिमटिमाती लालटेन, चौके पर रखा स्टोव-और मंजी में धँसा मैं-सब कुछ एकाएक दयनीय-से हो गए।

‘आपको सदी लग रही हो, तो आग जला दूँ?’ उन्होंने कहा।

‘नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूँ।’ मैंने कहा। मैं सचमुच ठीक था, अगर ठीक का मतलब है मंद पड़ जाना, इतना मंद कि थकान भी सिर मार कर पीछे मुड़ जाए। मुझे सिर्फ बाहर की चीजें दिखलाई दे रही थीं, बारिश में भीगती रात और टिपटिपाता उनका घर और भीतर कुछ भी महसूस नहीं हो रहा था। मेरी इस रूखी उदासीनता को देख कर वे कुछ विचलित-से हो गए, मानो अपने घर ला कर उन्होंने कोई अपराध कर डाला हो।

‘यहाँ एक फॉरेस्ट रेस्टहाउस है, अगर आप चाहें...’ उन्होंने मेरी ओर देखा।

‘वहाँ परमिट की जरूरत पड़ेगी-नहीं?’

‘हाँ, यह तो है,’ उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा, ‘लेकिन एक-दो दिन की बात हो, तो चौकीदार हील-हुज्जत नहीं करता... आपको कितने दिन रहना है?’

इस बार उनके स्वर में भेद लेने की उत्सुकता नहीं थी, सिर्फ मेरी मदद करने की इच्छा थी, वे एकटक मेरी ओर देख रहे थे।

उस क्षण शायद मैं उन्हें सब कुछ बता देता-इतनी दूर आने का कारण, वह भी इन सर्दियों में... मेरे बिना बताए भी वे भाँप गए थे कि न मैं कोई तीर्थयात्री हूँ, न सैलानी-टूरिस्टय फिर कौन हूँ मैं? और तब एक अजीब थकान और हताशा ने मुझे जकड़ लिया, मास्टर जी को यह बताने के लिए, कि मैं वहाँ क्यों आया हूँ, मुझे अपने सारे परिवार का इतिहास बताना होगा-और उसके बाद भी क्या वे मेरे आने का कारण समझ पाएँगे?

पता नहीं, उन्होंने आधे धुँधलके में क्या देखा-मेरा चेहरा या अधेड़ उम्र की बदहवासी-कि आगे कुछ नहीं पूछा, मुझे वहीं छोड़ कर वे बाहर छज्जे पर चले गए और अपने भीगे कपड़ों को समेट कर रसोई में ले आए और एक-एक करके उन्हें निचोड़ने लगे।

मैंने चैन की साँस ली, उनका ध्यान मेरी ओर से हट गया था, मैंने अपना बिस्तर खोल कर फर्श पर ही बिछा लिया। लालटेन मेरे सिरहाने के पास तिपाई पर रखी थी, उसकी पीली रोशनी में मैंने ब्रीफकेस के कागज बाहर निकाले.. मैं उन्हें आखिरी बार देख लेना चाहता था-कुछ वैसे ही, जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा से पहले अपने नोट्स पलटता है और अचानक सब कुछ व्यर्थ और अर्थहीन जान पड़ता है-जायदाद के बासी, भुरभुरे कागज जिसे बाबू पीछे छोड़ गए और जो इस कोठरी में और भी अधिक विपन्न दिखाई दे रहे थे, उनके बीच बहुत सँभाल कर तीन पत्र रखे थे-बड़े भाई और छोटी बहन की लिखावट को अलग-अलग से पहचानना मुश्किल नहीं था, किंतु तीसरा मुड़ा-तुड़ा कागज? स्टेशन जाने से पहले माँ ने सबकी आँख बचा कर वह मुझे दिया था और मैंने उसे जल्दी बिना देखे, बिना पढ़े अन्य कागजों के बीच फेंक दिया था-माँ की चिट्ठी? वह जो होंठ फड़फड़ाते हुए कागज पर अक्षर चींथा करती थीं, पता नहीं उन्होंने किस भाषा में अपना संदेश भेजा था? मुझे उस समय भी उसे पढ़ने की इच्छा नहीं हुई, लालटेन की टिमटिमाती रोशनी में मृत पिता के कागज उतने ही मृत जान पड़ रहे थे, जितने जीवित लोगों के पत्र, यदि उन सबको मास्टर साहब के स्टोव में झोंक दूँ, तो पल भर में हमारा मकान, घर और गृहस्थी के लोग,

मरे और जीवित रिश्तों का लेखा-जोखा एक लपट में भस्म हो जाएगा... सिर्फ एक मैं रह जाऊँगा। मैं और वे-वे जिनसे मैं इतनी दूर यहाँ मिलने आया था।

सहसा मास्टर जी की छाया कागजों पर पड़ी, वे चौंके की देहरी पर खड़े थे, हाथ गीले थे और कमीज की आस्तीनें बाजुओं पर चढ़ी थीं।

‘लगता है, आप कोई मुकदमा लड़ने आए हैं।’ वे मुस्करा रहे थे।

मैंने जल्दी-जल्दी सब कागज समेट कर ब्रीफकेस में ठूस दिए, शायद वे ठीक कहते हैं, कल पेशी का दिन होगा, दस साल बाद... पागल-सी इच्छा हुई कि अभी घर पर उनसे मिल लूँ और कल सुबह की बस से दिल्ली लौट जाऊँ किंतु मास्टर जी ने मेरे पागलपन को बीच में ही तोड़ दिया, ‘चलिए, हाथ-मुँह धो लीजिए... पानी गर्म हो गया है।’

उस रात मैं मास्टर जी के कमरे में ही सोया। मैं अपना होल्डॉल साथ लाया था, इसलिए उन्हें कोई परेशानी नहीं हुई-हालाँकि पलंग को ले कर वे थोड़ा बिफर गए। वे खुद फर्श पर सोना चाहते थे और मुझे पलंग देना चाहते थे, मैं उनसे कैसे कहता कि उनकी मंजी पर डोलते हुए मुझे रात-भर भूकंप का भ्रम होता रहेगा, मुझे डर था कि खाने को ले कर एक और भूकंप खड़ा होगा, मेरी पत्नी ने जो टिफिन बाँध कर दिया था, वह सिर्फ बस-यात्रा के लिए नहीं, जीवन-यात्रा के लिए काफी था। मैंने उनसे कहा कि खाना बनाने के बजाय मेरे टिफिन को हल्का कर देना बेहतर होगा, ठंडे मौसम के कारण वह इतना ही ताजा था, एक सुदूर गृहस्थी की चिंता में रसा-बसा भोजन, जो बारह घंटे की चढ़ाई के बावजूद अपना शहरी स्वाद पहाड़ों तक खींच लाया था। मेरे खुले टिफिन को देख कर उनके चेहरे पर एक बीहड़-सी वीरानी उमड़ आई-पूरी, अचार, सब्जी और पुलाव-अलग-अलग कटोरियों में सजे हुए, शायद उन्हें अपनी गलती पर पछतावा भी महसूस हुआ कि मुझ जैसे व्यक्ति पर दया करना कोई बहुत जरूरी नहीं था। किंतु उन्होंने कहा कुछ नहीं, चुपचाप स्टोव जला कर खाना गर्म करने में जुट गए।

उनकी रसोई जितनी साफ-सुथरी थी, कमरा उतना ही अस्त-व्यस्त था, फर्श पर धूल में अँटी किताबों और पुरानी पत्रिकाओं का ढेर लगा था, कोठरी की छत धुएँ की कालिख से पुती हुई थी। दीवार पर एक रंग-उड़ी अलमारी थी, जिसकी अधखुली दराजों से कपड़े बाहर झाँक रहे थे। कमरे में कुछ वैसी ही उजाड़ यतीमी थी, जैसी धर्मशाला के कमरों में होती है। मुझे यह सोच कर कुछ भयावह जान पड़ा कि वे यहाँ दिन-रात, गर्मी-सर्दी में अकेले रहते होंगे,

शायद इसी अकेलेपन से बचने के लिए वे मुझे अपने साथ ले आए थे, उन्हें मेरे बारे में कुछ नहीं मालूम था, इस बात पर मुझे उतना आश्चर्य नहीं था, जितना इस पर कि एक बार लाने के बाद उन्होंने मुझसे यह भी नहीं पूछा था कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ? तब एक अजीब-सा संदेह मुझे कोंचने लगा, शायद उन्हें सब कुछ मालूम है। तभी तो वह बस स्टैंड पर पानी में भीगते खड़े थे और मुझे देखते ही मेरे पास लपक आए, लेकिन किसने उन्हें यह बताया होगा? सिवा उनके, जिनसे मैं मिलने आया था, क्या किसी ने पहले से ही तो मास्टर जी को मेरे आने के बारे में सूचना नहीं दे दी थी?

‘लीजिए, जल्दी खा लीजिए, नहीं तो एक मिनट में सब ठंडा हो जाएगा।’
उन्होंने मेरे टिफिन का खाना थाली में परोस कर सामने रख दिया।

‘आप नहीं खाएँगे?’

‘मैं तो खाने के बाद ही बाहर निकल जाता हूँ, जब तक कुछ देर टहल नहीं लेता, ठीक से नींद नहीं आती... आप खाइए।’

वे मेरे सामने चटाई पर बैठ गए, अकेले खाते हुए मुझे कुछ अजीब-सी वीरानी ने पकड़ लिया, पता नहीं, वे इस घड़ी क्या कर रहे होंगे, पत्नी शायद नीचे माँ के पास होगी और बच्चे अपने कमरों में स्कूल का काम कर रहे होंगे.. मास्टर जी की जर्जर कोठरी और धुँधुआती रोशनी में मुझे अपने घर के लोग किसी दूसरे ग्रह के प्राणी जान पड़ते थे, यह विश्वास करना असंभव था कि अभी बारह घंटे पहले मैं उनके साथ था।..

‘देखिए, पानी रुक गया, कल सुबह तक सब साफ हो जाएगा।’ मास्टर जी के स्वर में बच्चों का उल्लास छलक आया।

मेरे हाथ ठिठक गए, टीन की ढलुआँ छत से पानी की धार नीचे गिर रही थी, किंतु बारिश सचमुच थम गई, छज्जे के बाहर धुंध अब भी थी, लेकिन इतनी हल्की और इकहरी-कि उसके पीछे धुले हुए तारे चमचमा रहे थे।

‘आपका स्कूल कहीं पास में है?’ मैंने पूछा।

‘मैं आपको बताना भूल गया। आप दरअसल स्कूल में ही बैठे हैं।’ वे मुस्कराने लगे।

‘यह स्कूल है?’ मैंने विस्मय से चारों ओर देखा।

‘जी, यह स्कूल का ही हिस्सा है। मुझे अभी तक मकान नहीं मिला, इसीलिए उन्होंने स्कूल का एक कमरा मुझे दे दिया, वैसे भी छुट्टियों में सारे कमरे खाली पड़े रहते हैं...’

‘आप छुट्टियों में कहीं नहीं जाते?’

‘एक-आध दिन के लिए अल्मोड़ा उतर जाता हूँ लेकिन वहाँ मेरा मन घुटता है, वही पुराने लोग आ घेरते हैं, जिनसे मैं बचना चाहता हूँ।’

‘यहाँ अकेला नहीं लगता?’

वे कुछ देर चुप रहे, फिर कुछ सोचते हुए कहा, ‘यहाँ अकेला रहता हूँ तो भी वैसी ऊब नहीं होती जैसी अल्मोड़े में—फिर जब मन करता है, तो बाबा के पास जा बैठता हूँ।’

‘बाबा कौन?’

उन्होंने मेरी ओर देखा, अपनी टोहती आँखों से, फिर एक छोटी-सी मुस्कराहट उनके चेहरे पर फैल गई, ‘एक ही तो हैं और कौन!’

इस बार मैं अपने को नहीं रोक पाया, ‘क्या उन्होंने आपसे कुछ कहा था?’

उन्होंने विस्मय से मुझे देखा, ‘किस बारे में?’

‘मेरे यहाँ आने के...’

‘क्यों? आप उनसे मिलने आए हैं?’ इस बार उनकी आँखों में विस्मय था।

‘सुना है, बहुत दूर-दूर से लोग उनके दर्शन करने आते हैं।’ मैंने कहा।

‘हाँ... लेकिन इस मौसम में?’ वे फँसी आँखों से मुझे निहार रहे थे।

‘मैं यहाँ छुट्टी पर आया था, सोचा, उनके दर्शन भी कर लूँ। क्या बहुत दूर रहते हैं?’

वे कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे, फिर अनमने भाव से बोले, ‘ज्यादा दूर नहीं... एक-डेढ़ कि.मी. की चढ़ाई होगी।’

मुझे लगा, वे मुझसे कुछ नाराज हैं, शायद उन्होंने मुझ पर विश्वास भी नहीं किया, कौन ऐसा पागल है, जो सर्दियों में अपना घर-बार छोड़ कर इतनी दूर आता है—और वह भी एक अज्ञात पहाड़ी शहर के लोकल महात्मा से मिलने?

वे उठ खड़े हुए और मेरे बरतन बटोरने लगे। कुछ देर तक रसोई में लोटे-बाल्टी की खनखनाहट के अलावा कुछ सुनाई नहीं दिया।

फिर उस रात उनके बारे में कोई चर्चा नहीं हुई।

सोने की तैयारी भी चुपचाप हुई, उन्होंने दोबारा और अंतिम बार जरूर आग्रह किया कि मैं उनके पलंग पर सो जाऊँ, लेकिन मैं पहले से फर्श पर अपना होल्डॉल बिछा चुका था और फिर वे चुप ही रहे, सिर्फ इतना पूछा कि क्या वे लालटेन जला कर पढ़ सकते हैं और वे देर तक कोई अंग्रेजी का उपन्यास पढ़ते रहे, जिसके लेखक का नाम मैंने कहीं पढ़ा-सुना नहीं था।

मैं ब्रीफकेस को सिरहाने रख कर लेट गया, लेकिन नींद देर तक नहीं आई। इतनी लंबी जिंदगी में यह पहला मौका था कि किसी अजनबी के घर मैंने रात काटी हो और वह सचमुच रात को 'काटना' था, जहाँ एक तरफ मैं था, दूसरी तरफ मेरा घर-बार, नौकरी, गृहस्थी, जिसे मैं पहली बार छोड़ कर अकेला बाहर आया था। मेरी पत्नी को पता चलता कि घर छोड़ते ही मैं पहला पड़ाव किसी स्कूल-मास्टर की कोठरी में डालूँगा, तो उसे सचमुच हैरानी होती, वह मुझे हमेशा घर-घीसू कहती थी और उसे हमेशा यही सदमा सताता था कि इतनी लंबी विवाहित जिंदगी में मैं कहीं उसके साथ यात्रा पर नहीं गया, कामचलाऊ सफर बहुत किए, किंतु छुट्टी ले कर किसी तीर्थस्थान या पहाड़ी स्टेशन जाना नहीं हुआ।

और अब यह जगह? पहाड़, लेकिन हिल-स्टेशन नहीं और तीर्थस्थान के नाम पर पशुओं का अस्पताल, एक शिव का मंदिर, जहाँ वह रहते थे... क्यों-अब भी रहते हैं। मुझे अजीब-सा लगा कि दिल्ली की आदत अब भी मेरे साथ चिपकी थी, जहाँ सब लोग उन्हें 'अतीत' में याद करते थे। ज्योंही कोई व्यक्ति हमें छोड़ कर चला जाता है, हम उसे 'अतीत' में फेंक कर बदला चुका लेते हैं, बिना यह जाने कि वह अब भी मौजूद है, जीवित है, अपने वर्तमान में जी रहा है, लेकिन हमारे समय से बाहर है।

उस रात मुझे देर तक नींद नहीं आई। हवा के थपेड़ों से कोठरी की छत और दीवारें थरथराने लगती थीं, नीचे मोटर-रोड पर कोई बस या लारी गुजरती, तो उसकी हेडलाइट्स में फँसे पेड़ और झाड़ियाँ दीवार पर सरकते हुए निकल जाते। पहियों की घुरघुराहट देर तक पहाड़ियों के बीच गूँजती रहती। कभी किसी बस के गुजरने के बाद मास्टर साहब किताब से सिर उठा कर घड़ी को देखते और लंबी साँस खींच कर कहते, 'यह भुवाली की बस है,' या कुछ देर बाद जब दोबारा बस की पों-पों बजती, तो कहते, 'यह रामनगर जा रही है।' मैं आँखें मूँदे सोने का बहाना किए पड़ा रहा, फिर न जाने कब यह बहाना किसी नींद के सपने में उलझ कर दूर तक घिसटता गया। आधी रात को आँख खुली, तो लालटेन बुझ गई थी और मास्टर साहब करवट ले कर सो रहे थे, समूची कोठरी में अँधेरा था, एक लंबे क्षण तक मुझे याद नहीं आया कि पास पलंग पर कौन सो रहा है और मैं वहाँ क्या कर रहा हूँ?

सुबह उठा तो धूप का चकत्ता बिस्तर पर बैठा था। ठंडी, धुली हुई रोशनी कोठरी में फैली थी। मास्टर जी की मंजी खाली पड़ी थी-रसोई में पानी की

बाल्टी और लोटा रखे थे। चूल्हे के पास चाय का सामान था, बाहर हवा में थपथपाती खट-खट की आवाज आ रही थी-शायद उसकी आवाज सुन कर ही मैं जाग गया था।

घड़ी देखी, तो अचरज हुआ-दस बजे थे, शायद ही कभी मैं इतनी देर तक सोता हूँ। जल्दी-जल्दी हाथ-मुँह धोया, थर्मस और गिलास थैले में रखे, ब्रीफकेस को खोल कर चिट्ठियाँ बाहर निकालीं, जिनमें पोस्टकार्ड भी था, जो उन्होंने पंद्रह दिन पहले भेजा था, उन सबको समेट कर कोट की अंदरूनी जेब में रखा। मास्टर जी को देखने बाहर आया तो आँखें जिस चीज पर पड़ीं, वह पहाड़ था।

पहली बार ज्ञान हुआ कि यह पहाड़ है, सड़क पर चलता पहाड़ नहीं, जो कल बस की खिड़की से देखा था-लेकिन एक जगह ठहरा हुआ, बाजार के ऊपर, शहर को छाँह देता हुआ, कल अँधेरे और बारिश में उसे नहीं देखा था। अब पहली बार विश्वास हुआ कि मैं घर के बाहर हूँ, यह महज यात्रा का स्टेशन नहीं, पूरी जगह है, एक अलग-थलग दुनिया, वह एकांत जंगल नहीं था, जैसा मैं दिल्ली में सोचा करता था, वह एक पूरी बस्ती थी, जहाँ बाजार था, बस का स्टेशन, अस्पताल, एक मंदिर, एक स्कूल...

स्कूल मैदान में था, बाजार के ऊपर और नीचे पेड़ों का पीला झुरमुट था और वहीं टहनियों के बीच अकस्मात दिखाई दिए मास्टर जी... और तब मुझे उस खट-खट का रहस्य समझ में आया, वह कुल्हाड़ी से पेड़ों की शाखें काटते जाते थे और टहनियाँ छपाछप करती हुई नीचे गिर जाती थीं...

मैं उसी पगडंडी से नीचे उतरने लगा, जिसके सहारे कल ऊपर चढ़ा था। धीरे-धीरे बाजार की छतें दिखाई देने लगीं, साँवले, सलेटी पत्थरों से ढकी धूप में चमचमाती हुई, लोगों का शोर और दुकानों का धुआँ एक साथ ऊपर उठ रहे थे। बाजार के नाम पर कुछ भिनभिनाते ढाबे थे, वहीं मैं एक बेंच पर खुली हवा में बैठ गया, धूप सिर्फ माया थी, असली ब्रह्म सर्दी में व्याप रहा था, मैंने एक चाय माँगी, तो दूसरी बेंच पर दो आँखें ऊपर उठीं, केसर-सी लाल और मस्ती में धुत्त... साह जी, बस एक ही?’

नंग-धड़ंग महात्मा मेरी ओर निहार रहे थे।

मैंने दूसरी चाय मँगवाई, तो वे मुस्कराए, दाँतों के बीच लाल मसूढ़े दाढ़ की कटी फाँक से खुल गए।

‘कल ही पधारे हो?’

‘जी।’

अब तक वह दूसरे ढाबे की बेंच पर बैठे थे, मेरे ‘जी’ कहते ही वह अपनी मेज का मोह त्याग कर मेरी बेंच पर आ विराजे, ‘क्यों, हमारे मास्टर के यहाँ ठहरे हो?’

वे अंतर्यामी जान पड़े, मुझे लगा, उनके सामने ‘जी’ कहने के अलावा मैं और कुछ नहीं कह सकूँगा। उसके बाद अगर वे यह बताते कि मैं दो बच्चों का बाप हूँ और दिल्ली से आया हूँ तो भी मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। किंतु उसके बाद वे एकदम चुप्पी साध गए, चाय पीने में ऐसे मगन हो गए जैसे सिर्फ उसी को पाने के लिए उन्होंने परिचय बाँधा था।

‘आप कहाँ से आ रहे हैं?’ कुछ देर बाद मैंने ही पूछा।

चाय के गिलास को बेंच पर रख कर उन्होंने कुहनी से अपनी दाढ़ी पोंछी। ‘यह पूछिए, कहाँ जा रहा हूँ, यहाँ तो सिर्फ कुछ दिनों के लिए ठहरा हूँ।’ उनकी सुर्ख आँखों में एक रूखी-सी लापरवाही झलक आई।

‘कहाँ डेरा लगाया है बाबा ने?’

उन्होंने अँगुली से ऊपर इशारा किया, पहले मैं ‘ऊपर’ का मतलब ईश्वर समझा, लेकिन सौभाग्य से उनकी अँगुली ईश्वर से कुछ नीचे बैठी, बाजार के पीछे पहाड़ी गोमड पर, जो धुंध और धूप के झिलमिले से बाहर निकल रहा था।

‘शिव के मंदिर में?’ पहली बार मेरे भीतर एक जिज्ञासु उत्सुकता जागी।

‘शिव नहीं, महाकाल का मंदिर कहिए,’ उन्होंने हल्की हिकारत से मुझे देखा, ‘कभी वहाँ नहीं गए?’

‘मैं पहली बार आया हूँ।’

‘पहली बार?’ वे हँस पड़े, ‘आपको कैसे मालूम, आप पहली बार आ रहे हैं... पहली बार कुछ नहीं होता...’

‘मैंने आपको भी पहली बार देखा है।’ मैंने कहा।

‘सचमुच?’ उन्होंने मेरी ओर देखा, ‘और इसको,’ उन्होंने पाइन की ओर इशारा किया जो सड़क के किनारे नीचे खड्ड से ऊपर उठा था, हवा में डोल रहा था।

‘पेड़?’ मैंने जिज्ञासा से उन्हें देखा, ‘इसमें क्या है?’

‘और मैं?’ उन्होंने लँगोट से बीड़ी निकाली और भट्ठी के सुलगाते हुए कोयले पर उसे लगा दिया, ‘मुझमें क्या है?’

बीड़ी सुलग रही थी और धुएँ की तीखी लट ऊपर उठ रही थी।

मैंने उनकी नंगी देह को देखा, एक-एक हड्डी सर्दी की सफेद धूप में चमक रही थी, ठिठुरती, कृशकाय देह नहीं, बल्कि ऐसा पिंजर जो देह को अपनी ठठरी-गठरी में गरमाए रखता है।.. नहीं, मैंने उन्हें पहले नहीं देखा था, लेकिन उन्हें देखते हुए मुझे अचानक अपने पिता की अस्थियाँ याद हो आईं, जिन्हें गठरी में बाँध कर मैं दिल्ली से कनखल ले गया था-जैसे अगर रेल की खड़खड़ाहट में उनकी अस्थियाँ जुड़ जातीं, तो वे सामने वाली देह की तरह एक बार फिर उठ कर खड़ी होती... और तब मुझे लगा, चेहरा पहले न भी देखा हो, किसी का होना उसकी याद दिला सकता है, जो पहले कभी जीवित था और अब नहीं है।

‘घूमने आए हो?’ उनकी तरेरती आँखें मुझ पर टिकी थीं। मुझे चुप देख कर वे कुछ आगे सरक आए, ‘बाबा के दर्शन करने आए हो-क्यों, ठीक कहा?’

‘जी?’ मैंने उनकी ओर देखा।

‘रास्ता मालूम है?’ उन्होंने पूछा। इस बार उनके स्वर में न खीज थी, न चिड़चिड़ाहट, सिर्फ एक मुलायम-सी नम्रता थी।

‘मंदिर के रास्ते पर है,’ उन्होंने कहा, ‘सीढ़ियाँ छोड़ कर पगडंडी पकड़ लेनाय सीधी वहाँ जाती है।’

‘इस समय दर्शन देंगे?’ मैंने पूछा।

‘देख आओ, अगर बाहर बैठे हुए तो दर्शन होंगे ही लेकिन भीतर हुए तो रहने देना... आजकल थोड़ा बीमार चलते हैं।’

‘बीमारी कैसी?’

मेरे स्वर में कुछ रहा होगा कि वे झुँझला उठे। अधबुझी बीड़ी को फेंक दिया, ‘बीमारी क्या, अंदर की अवस्था है, बनती-बिगड़ती रहती है।’

उनके स्वर में कुछ ऐसा नहीं था, जो मुझे चिंतित करता, किंतु थोड़ी-सी हैरानी जरूर हुई, अपनी चिट्ठी में उन्होंने बीमारी के बारे में एक शब्द भी नहीं लिखा था, क्या उन्हें डर था कि मैं अपने साथ माँ को घसीट लाऊँगा, मुझे उनके डर पर हँसी आने लगी... वे जो घर की सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकतीं, बस में धक्के खाते हुए 2100 कि.मी. ऊँचाई पर आएँगी?

उसके बाद मैंने उनसे कुछ नहीं पूछा। बेंच से उठ खड़ा हुआ, अघोर बाबा ने कुछ आश्चर्य से मुझे देखा, ‘क्या अभी जा रहे हो?’

‘जी... ऊपर पहुँचने में कितनी देर लगेगी?’

‘पूरी उम्र!’ वे हँसने लगे, ‘लेकिन तुम भटकने नहीं तो आधे घंटे में पहुँच जाओगे!’

मैंने दुकान से अपने थर्मस में पानी भरवाया। जब चाय के पैसे देने के लिए बटुआ निकाला तो सहसा उनकी आवाज सुनाई दी, ‘तीन गिलासों के, मैं एक और लूँगा।’ मैंने पीछे मुड़ कर भी नहीं देखा, पैसे दिए और ऊपर चढ़ने लगा।

चढ़ाई खड़ी हथेली की तरह उठी थी, चारों तरफ जंगल थे, लेकिन सड़क पर एक पेड़ नहीं जो छाया दे सके। पहाड़ी पसीना परनालों की तरह देह पर बह सकता है, ऐसा कभी सोचा भी न था। मुझे अपने ब्लडप्रेसर का डर था और दिल की धुकधुकी अलग से छाती को खटखटा रही थी।

बाजार बहुत नीचे छूट गया था, लेकिन उसकी आवाजें और बसों के हॉर्न अब भी एक उनींदी गुनगुनाहट की तरह सुनाई दे जाते थे। कुछ देर बाद वे आवाजें भी गुम हो गईं... और मुझे लगा जैसे वहाँ मेरे अलावा कोई नहीं है—न जानवर, न हवा, न आदमी। अगर मैं कई कि.मी. इसी तरह चलता जाऊँ तो न मैं खत्म होऊँगा, न रास्ता खत्म होगा। मैं इसी तरह ऊपर चढ़ता रहूँगा पसीने में नहाया हुआ, न कुछ देखता हुआ, न सोचता हुआ—लेकिन तभी पाँव ठिठक गए, जैसे मुझसे कह रहे हों, अगर तुम निढाल हो तो हमें कोई परवाह नहीं।

आगे एक तिराहा था, उठी हुई हथेली पर तीन अँगुलियों की तरह खुला हुआ, दाईं पगडंडी पर काला बोर्ड दिखाई दिया, जिस पर सफेद खड़िया से एक तीर बना था और तीर की नोक से बिंधे चार अक्षर मेरी तरफ ताक रहे थे—टु द फॉरेस्ट रेस्ट हाउस और तब मुझे अघोरी बाबा की अँगुली याद आई—ईश्वर की तरफ उठी हुई, जहाँ महाकाल का मंदिर था, अगर नीचे की पगडंडी फॉरेस्ट हाउस की तरफ जाती है, तो बीच की सड़क जरूर मंदिर की ओर चढ़ती होगी। .. मैंने वही बीच का रास्ता पकड़ लिया। वह रास्ता भी नहीं था, सिर्फ एक उठान थी।

शायद बहुत पहले वहाँ सीढ़ियाँ रही होंगी, लेकिन अब वहाँ सिर्फ पत्थर थे, कोई और घास में लिथड़े हुए, उन पर पाँव रखते ही जूते फिसलने लगते। हर पत्थर पर साँस अटकने लगती, एक रस्सी की तरह मेरे पैरों को ऊपर खींचती और जब मैं दूसरा कदम उठाता तो लगता जैसे मैं अपने पीछे सारी उम्र का बोझ घसीट रहा हूँ। लेकिन वह बोझ उसके सामने कुछ भी नहीं था, जो मैं लाद कर अपने साथ लाया था—घर के कागज और घरवालों के संदेश। उन्हें ढोता हुआ मैं खुद अपनी यात्रा का लदा-फदा संदेशा जान पड़ता था, मुझे तब एक अजीब-सा

ख्याल आया, अगर उन तक संदेश पहुँचाना है तो मेरा जाना क्यों जरूरी है? मैं यदि सारे कागज-पत्र, चिट्ठी-संदेशे मास्टर साहब को सौंप कर शाम की बस से लौट जाऊँ, तो कोई भी अंतर नहीं पड़ेगा। वे उन्हें सुरक्षित उनके पास पहुँचा देंगे-फिर वे जैसा चाहें, करें। लेकिन इतने पास पहुँच कर ऐसे ही रूखे-सूखे लौट जाना? वे दस साल से यहाँ रह रहे हैं और मैं पहले ही दिन इतना हताश हो गया? वे भी तो पहले दिन ऐसे ही ऊपर चढ़े होंगे, लेकिन उनकी उम्र तब काफी कम रही होगी, मुझे अब भी उनकी फोटो याद है, जो पिताजी ने (तब वे जीवित थे) अखबारों में दिया था-एक हँसता हुआ चेहरा, जिसे अंग्रेजी में चियरफुल कहा जाता है।.. और फोटो के नीचे बाबू के हाथ का लिखा टेक्स्ट-‘प्लीज, कम...’ लेकिन न वे आए, न अपना पता भेजा और तब स्टेशन और अस्पतालों के चक्कर शुरू हुए... पुलिस के साथ मार्चुअरी में जाते मुर्दों की कतार में उन्हें पहचानने की कोशिश करते, जो एक दिन सहसा पहचान के परे चले गए थे...

अचानक, बीच रास्ते में मैं ठिठक गया। क्या अब मैं उन्हें पहचान सकूँगा?

सिर का पसीना माथे पर बहता हुआ आँखों पर चिर-चिर चूने लगा, वह जैसे पानी का पर्दा था, जिसके पीछे सारा जंगल झिलमिला रहा था। आखिर वह मंदिर दिखाई दिया-सफेद और शीतल-और उसकी शीतलता मेरी थकान को सींचने लगी। हवा में पसीना सूखने लगा-मैं वहीं, सीढ़ियों पर बैठ गया। आसपास बिल्कुल सन्नाटा था-न कोई भक्त, न पुजारी, न कोई साधु-संन्यासी-सिर्फ मंदिर की बगल में बांज के डोलते बाजू पर एक लंगूर बैठा था, अपनी मीटर-भर लंबी पूँछ को हिलाता हुआ, उसने एक क्षण मेरी ओर घूरा और फिर छपाक से मंदिर की छत पर कूद गया। एक छपाक और, पेड़ की झर-झर और कुछ भी नहीं, जंगल की अथाह नीरवता में जैसे मैं और वह लंगूर एक साथ उस महाकाल के शरणार्थी हों, कभी-कभी जानवर देवताओं की तरह अचानक हमारी दुनिया में प्रकट हो कर हमारी सब दुविधाओं को झाड़ देते हैं-उस लंगूर ने भी जैसे अपनी पूँछ से मेरे सब संशयों को बुहार दिया-और जब मैं आगे बढ़ा, तो सहसा मेरे पैर हल्के हो गए थे।

उसके बाद ज्यादा नहीं चलना पड़ा, चढ़ाई खत्म हो गई थी और पेड़ों के बीच एक साफ-सुथरी, समतल पगडंडी चलने लगी थी। आगे-पीछे चीड़ों का हरा समंदर लहरें खाता था-झर-झर सुइयाँ नीचे गिरती थीं और एक खुशक, नशीली गंध ऊपर उठती थी। अघोरी बाबा की बात सच निकली, सौ मीटर

चलने के बाद मैं एक खुली, सपाट जगह पर चला आया जो घने जंगल में अचानक खुल जाती है—एक खुला, खाली—सा आँगन—जहाँ सिर्फ घास और पत्थर थे, मैं कुछ आगे बढ़ा ही था कि बाईं तरफ एक चट्टान दिखाई दी... किंतु दूसरे क्षण ही अपनी गलती पता चली और मेरे पाँव अपने-आप ठिठक गए।

वह चट्टान नहीं, एक पथरीला टूट था, जिसकी ढलुआँ छत नीचे झुकी थी, एक गुफा की तरह, जिसका ऊपरी खंड पहाड़ी से चिपका था और निचला हिस्सा धरती में धँसा था, बीच में तीन पत्थर एक-दूसरे के ऊपर रखे थे, ऊपर काठ का दरवाजा था। एक चित्र-पहेली की तरह पहली नजर में जो चट्टान जान पड़ी थी—अब वह एक कोठरी दिखाई दे रही थी, काठ, मिट्टी और पत्थर की इमारत, जिसे देख कर पता नहीं चलता था कि उसका कौन-सा हिस्सा आदमी ने बनाया है और कितना सिर्फ प्रकृति का अंग है।.. क्या यह संभव है कि वहाँ कोई रहता होगा?

मैं पास आया, सफेद पत्थरों की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ दरवाजे के आगे ठहर गया, लकड़ी के दो पल्लों पर खुली साँकल लटक रही थी, भीतर कोई आहट, कोई हलचल नहीं थी, दरवाजे के भीतर सँकरे सुराख से मैंने भीतर झाँका—पहले क्षण कुछ भी दिखाई नहीं दिया, अँधेरे पर सिर्फ एक सफेद झाँक—सी गिर रही थी, वह कहीं बाहर से आ रही थी—लेकिन भीतर कोई खिड़की दिखाई नहीं दी और तब मुझे पता चला कि जिस सुराख से मैं झाँक रहा हूँ, वहाँ से रोशनी भी आ रही है—धूप का मैला धब्बा—जिसे सूरज वहाँ फेंक गया था और फिर उठाना भूल गया था।..

वे शायद सो रहे थे, या सिर्फ बीमार थे और कहीं नीचे लेटे थे, संभव है, उन्हें मेरी चिट्ठी भी न मिली हो, उन्हें शायद यह भी नहीं मालूम कि मैं यहाँ हूँ। वे शायद कल शाम से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों और अब सोच लिया हो कि किसी कारण मेरा आना टल गया... यह सोचना था कि मेरा हाथ साँकल पर चला गया—गर्म काठ के दरवाजे पर साँकल हिल रही थी, मेरे अनजाने छूने से या भीतर दरवाजे के खुलने से, यह सोचना भी व्यर्थ था, क्योंकि दूसरे क्षण ही फटाक से दरवाजा खुल गया—वे खड़े थे मुझसे बहुत ऊपर और मैं एक सीढ़ी नीचे उतर आया, जैसे आखिरी क्षण मैं उनसे बचना चाहता था, लेकिन यह भी संभव है कि डर की जगह केवल उत्सुकता थी, जो मुझे एक सीढ़ी नीचे घसीट लाई थी, ताकि मैं उन्हें पूरा देख सकूँ जैसे कुछ पीछे हट कर दीवार पर टँगी तस्वीर को पूरा-का-पूरा देखना चाहता हूँ। लेकिन इस बीच उन्होंने मेरे हाथ को

पकड़ लिया और मुझे लगा, वे मुझे ऊपर खींच रहे हों, जबकि मैं नीचे जा रहा था और इस खींचतान में मेरा ब्रीफकेस हाथ से छूट गया, सीढ़ियों पर लुढ़कता हुआ ठक से नीचे आ गिरा और गिरते ही उसने एक हिचकी में अपने भीतर के बोझ को बाहर उगल दिया। कागज, चिट्ठियाँ, मकान के दस्तावेज: सब एक-एक करके बाहर निकल आए और हवा में उड़ने लगे। शर्म में बौखलाया अपने को कोसता हुआ मैं सीढ़ी पर ही बैठ गया और जल्दी-जल्दी उन्हें बीनने लगा। वे भी मेरे साथ नीचे बैठ गए थे और कागजों को चुन-चुन कर मुझे दे रहे थे और मैं जल्दी-जल्दी उन्हें ब्रीफकेस में ठूस रहा था, बिना कुछ देखे, मैली-सी बदहवासी में, जबकि उन्होंने अपना हाथ मेरे उठे हुए घुटने पर रख दिया, जो पता नहीं कब से काँप रहा था।

सहसा मैंने देखा, उनका चेहरा नहीं, सिर्फ उनके हाथ, दस वर्ष बाद पहली बार उनके हाथ दिखाई दिए।

कितनी देर हम ऐसे बैठे रहे? धीरे-धीरे सिर उठाया, तो वे दिखाई दिए! वही चेहरा-मुझे निहारती आँखें-मैं यह भी भूल गया कि उन्हें दाढ़ी में पहले कभी नहीं देखा था, सफेद-काली छितरी हुई लटों में वे संन्यासी और भाई के बीच कोई पहचाने-से अजनबी जान पड़ते थे।

लेकिन घुटने पर रखा उनका हाथ? उसमें बीता हुआ घर था और समूचा जमा हुआ अतीत-जो जरा-सा छूने पर बूँद-बूँद बहने लगता है।

वे थोड़ा-सा नीचे झुके, सीढ़ी पर रखे ब्रीफकेस को उठा लिया, 'आओ, भीतर बैठेंगे!'

मैं उनके पीछे कोठरी के भीतर चला आया।

'बैठो,' उन्होंने धीरे से मेरे कंधे को छुआ। मैंने असमंजस में उन्हें देखा।

'इधर,' उन्होंने दरी की ओर इशारा किया और स्वयं दीवार के सहारे बैठ गए। कुछ मिनट इसी तरह बीत गए, वे मेरे सामने थे, मैं उनकी कुटिया में था, इन सबके रहते भी मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि मेरी यात्रा का अंत आ पहुँचा है।

'आपको मेरा कार्ड मिल गया था?'

'हाँ, लेकिन तुम्हें तो कल आना था।'

'मैं कल ही आया था-बस तीन घंटे लेट थी।'

'कहाँ ठहरे हो?'

'मास्टर जी के यहाँ, वे ही मुझे अपने साथ घर ले आए।'

इच्छा हुई, उनसे पूछूँ, क्या उन्होंने ही मास्टर जी को बस-स्टेशन पर भेजा था, लेकिन उनके नीरव, निर्व्यक्त चेहरे को देख कर चुप रह गया। उनके आसपास एक घेरा था, मैं उतना ही पास आ सकता था, जितना वे आने देते थे—कुछ देर पहले देहरी पर उनकी छुअन से जो कुछ भीतर पिघला था, वह सिर्फ एक सतह थी—नीचे की सारी परतें सूखी पड़ी थीं। शायद इस सूखे से बचने के लिए ही उन्होंने मौन तोड़ा।

‘यहाँ आने में कोई मुश्किल तो नहीं पड़ी?’

‘नहीं... सीधा चला आया, बाजार में चाय पीने बैठा, तो एक बाबा मिल गए... उन्होंने सब कुछ बता दिया।’

‘सब कुछ?’ उनके चेहरे पर हल्की-सी जिज्ञासा चमक आई, ‘और क्या कहते थे?’

‘कुछ और नहीं...’ मैंने एक क्षण उनकी ओर देखा, ‘क्या आप इन दिनों कुछ बीमार रहते हैं?’

‘उन्होंने बताया होगा? कुछ खास नहीं... वही पुरानी साँस की तकलीफ है, इन दिनों कुछ ज्यादा बढ़ जाती है।’ उन्होंने कुछ ऐसे कहा, जैसे बीमारी का कष्ट कुछ भी हो, उसके बारे में बताना ज्यादा कष्टमय है।

‘इतनी ऊँचाई पर रहने के कारण तो नहीं है?’

उन्होंने सिर हिलाया, ‘तुम्हें याद होगा, जब घर में था, तब भी बराबर रहती थी।’

घर का नाम पहली बार आया था। हमारे बीच आ कर चुपचाप बैठ गया था। कुछ देर उनकी आँखें मिची रहीं, बाहर एक तिनका भी गिरता तो उसकी आहट भीतर सुनाई दे जाती थी।

‘सब वहाँ ठीक है?’ एक रूखी साँस में उनका स्वर निकला, घर को न छूता हुआ, फिर भी आसपास मँडराता हुआ...

‘जी हाँ,’ मैंने कहा।

‘अब तो नीचे की मंजिल खाली होगी?’

‘क्यों, खाली कैसे?’ मैं तुरंत उनका मतलब नहीं समझ सका, ‘माँ रहती हैं।’ वे कुछ देर हैरत से मुझे देखते रहे।

‘अकेले ही?’ उन्होंने कहा।

‘जी।’

‘वे ऊपर तुम्हारे पास नहीं रहती?’

‘जी नहीं... वे नीचे ही रहती हैं?’

वे मेरी तरफ इस तरह देखने लगे, जैसे पिछले दस साल में जो गुजरा-बदला है, वे उसे नहीं जानते... हालाँकि मैंने चिट्ठी में उन्हें सब कुछ लिख दिया था। किंतु उन्होंने अपनी आँखों से कुछ नहीं देखा था और मैं जो सब कुछ जानता था, पहली बार उनकी नजरों से अपने घर को देखने लगा और तब मुझे उनका आश्चर्य समझ में आने लगा-जिस औरत के तीन लड़के हों, वह मकान के अलग, अकेले कोने में पड़ी रहे, एक अजनबी के लिए इससे ज्यादा आश्चर्य की बात क्या हो सकती है?

बाहर पेड़ों के बीच झनझनाहट हुई, कोई छत पर कूदा और खटाखट दौड़ता चला गया, फर्श पर मिट्टी झरने लगी। वे उठ खड़े हुए और दरवाजे के बाहर चले गए। कुछ देर में उनकी आवाज सुनाई दी-एक बार, दो बार-पहाड़ी सन्नाटे में वह ऊपर उठती थी और फिर अपनी ही गूँज को सहलाती-सी गुम हो जाती थी।

वे भीतर आए तो मैंने पूछा, ‘कौन था?’

‘लंगूर,’ वे मुस्करा रहे थे, ‘मंदिर से उतर कर यहाँ धूप संकने आते हैं.. तुम अभी मंदिर तो नहीं गए?’

‘नहीं... सुना है, बहुत पुराना है?’

‘मंदिर तो बहुत पुराना नहीं है, किंतु उसमें रखी शिव की मूर्ति को काफी पुराना माना जाता है। वह यहीं पहाड़ी पर जमीन में धँसी हुई मिली थी। अब तुम यहाँ हो तो, किसी दिन देखने चलेंगे। चाय पियोगे?’

‘आप बनाएँगे?’

‘और कौन?’ वे हँसने लगे, ‘अभी बन जाती है।’ वे पर्दा उठा कर नीचे चले गए, नीचे शायद एक दूसरी कोठरी थी, जिसे मैंने सिर्फ बाहर से देखा था, बाहर से जो चट्टान दिखाई देती थी, उसे ही दो हिस्सों में काट दिया गया था, ऊपर की कोठरी में शायद उनके मेहमान बैठते होंगे, वहाँ सिर्फ दो चटाइयाँ एक दरी और एक आसन के अलावा कुछ भी नहीं था-कोठरी आधी से ज्यादा नंगी दिखाई देती थी, चौकी के पास ही एक सुराही और पीतल के दो गिलास रखे थे-साफ-सुथरे, धुले हुए, खिड़की के नाम पर दीवार में एक खोखल था-जिसके बाहर पेड़ की कुछ शाखाएँ दिखाई देती थीं... उसके परे पहाड़ी का एक भूरा खंड और आकाश दिखाई देता-और कुछ भी नहीं। सिर्फ सन्नाटा सुनाई देता था-और कभी-कभी हवा की सरसराहट, एक अजीब विचार आया कि वे

बारह महीने इस अकेली कोठरी में रहते होंगे, दिन, रात, सर्दी, गर्मी-बिल्कुल अकेले। लेकिन वह महज विचार था, उसकी नंगी वास्तविकता नहीं, जब हम किसी मृत व्यक्ति को देखते हैं, तो मृत्यु के बारे में सोचते हैं, या व्यक्ति के, किंतु स्वयं मृत व्यक्ति की वास्तविकता के बारे में एक साथ नहीं सोच पाते.. किंतु मृत्यु क्यों? वे जीवित थे... मैं उनकी कोठरी में बैठा था, हालाँकि मुझे अब तक भरोसा नहीं हो पाया था कि क्या ये वही आदमी थे, जिनसे मिलने मैं आया था?

पर्दा हिला और वे भीतर आए। उनके हाथ में ताँबे की थाली थी, जिस पर चाय के दो गिलास थे। एक तश्तरी में कुछ नमकीन शकरपारे रखे थे।

‘इस तरफ बैठ जाओ, दरवाजे से हवा आती होगी।’ उन्होंने थाली चौकी पर रख दी।

मैं चाय का गिलास ले कर दीवार से सट कर बैठ गया। कुछ देर तक हम दोनों ही चुप रहे, बीच-बीच में दरवाजा हुड़क उठता था। कुछ ऐसा लगता था, जैसे हम दोनों दुनिया के अंतिम छोर पर बैठे थे-जहाँ हवा और पेड़ों की सरसराहट के अलावा कुछ भी सुनाई नहीं देता था।

‘चाय ठीक है? यहाँ लकड़ियों की बास आती है।’ उन्होंने मेरी ओर देखा।

‘आपके पास स्टोव नहीं है?’ मैंने पूछा।

‘तेल की झंझट पड़ती है, यहाँ आसानी से नहीं मिलता। सुबह टहलने निकलता हूँ तो लकड़ियाँ चुन लाता हूँ। सर्दियों में बहुत काम आती हैं। शकरपारे लो, तुम्हें तो नमकीन अच्छा लगता है।’

मैं खाने लगा, इतने बरसों बाद भी उन्हें मेरी पसंद-नापसंद याद रह गई थी, हालाँकि जब वे घर में थे, तो शायद ही उन्हें कभी हमारे बारे में पता चलता हो। वे निचली मंजिल में माँ के पास रहते थे और बहुत कम ऊपर आते थे। कभी-कभी मेरे बच्चे नीचे दालान में खेलने चले जाते थे, तभी उनसे हँस-बोल लेते थे। मुझे कुछ अजीब लगा, कि अभी तक उन्होंने घर के बारे में मुझसे कुछ भी नहीं पूछा था.. किंतु शायद यह ठीक ही था। दस साल की हिस्ट्री-वे कहाँ से पूछते और मैं कहाँ से शुरू करता? हमारे बीच जो समय था, वह ही ठीक था, वह बीत रहा था। दोपहर खत्म हो चली थी और कोठरी के आगे पहाड़ों पर छाया उतरने लगी थी।

वही छाया हम दोनों के बीच भी सरक आई, कोठरी को दो हिस्सों में बाँटती हुई-एक, जहाँ वे बैठे थे, पीले, क्लांत अँधेरे में, दूसरे जहाँ मैं था, शाम

की सँकरी, म्लान रोशनी में, जो हौले से देहरी तक खिसक आती थी। कुछ देर तक हम दोपहर की उस सुन्न, ठिठकी घड़ी में बैठे रहे।

‘बच्चे कैसे हैं?’ आखिर उनकी आवाज सुनाई दी।

‘ठीक,’ मैंने कहा, मैंने सोचा, वह कुछ और पूछेंगे, लेकिन जब वे चुप रहे, तो मैंने कहा, ‘मुन्नी अब कॉलेज जाती है।’

‘और छोटी?’

‘वह काफी बड़ी हो गई है।.. यहाँ मेरे साथ आना चाहती थी।’ मैंने थोड़ा हँस कर कहा।

‘यहाँ?’ उन्होंने मेरी ओर देखा।

‘उसने पहाड़ कभी नहीं देखे... कहती थी, ताया जी वहाँ कैसे रहते हैं?’

‘लेकिन उन दिनों तो वह बहुत छोटी थी, जब...’

‘जब आपने घर छोड़ा था?’ मैंने उनके वाक्य को पूरा करना चाहा, किंतु वह अधूरा ही हवा में लटकता रहा, दर्द की उस गुठली के इर्द-गिर्द, जो बरसों पहले मुरझा गई थी, मरी हुई पीड़ा के नीचे दबी हुई... शायद हर पीड़ा इसी तरह घिसटती रहती है।

बच्चों की बात बीच में छूट गई, वे उठ खड़े हुए और जूटे बर्तन समेटने लगे। ‘तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।’ वे पर्दा उठा कर नीचे वाली कोठरी में चले गए।

मैं कोठरी की मटियाली रोशनी में बैठा रहा। बाहर अब भी उजाला था। खुले दरवाजे से सब खुला दिखाई देता था।.. पहाड़ का निचला हिस्सा अँधेरे में डूबा था, लेकिन ऊपर पीठ पर अब भी धूप रँग रही थी। कोठरी के नीचे कव्वों की काली कतार उतर रही थी -अपनी कर्कश चीखों से समूचे वायुमंडल को थरथराती हुई।

वे निचली कोठरी से ऊपर आए, तो हाथ में लालटेन थी। उसे चौकी पर रख कर उन्होंने मेरी ओर देखा, एक क्षण के लिए लगा, वे मुझसे कुछ कहना चाहते हैं, कुछ बहुत महत्वपूर्ण, लेकिन वे हिचकिचाहट में चुप बैठे रहे।

उनका सिर चौकी पर झुका था-सोचता हुआ-टिमटिमाती रोशनी में उनका सिर, सफेद होते बाल, पीछे की गर्दन और कंधों का उभार, अचानक मुझे लगा, जैसे मैं उन्हें नहीं-बाबू को देख रहा हूँ, जब मैं बहुत छोटा था और वे स्लेट पर मेरे सवाल हल करते थे और मैं गणित को भूल कर उनकी गर्दन को देखा करता था।..

‘क्या वे घर आते हैं?’

‘कौन?’ मैं कुछ सहम गया। बाबू? दूसरे क्षण अपनी गलती पता चली, वे बड़े भाई की बात कर रहे थे, जो जीवित थे और दूसरे घर में रहते थे।

‘जी... आते हैं। उन्होंने ही मुझे यहाँ आने के लिए कहा था।’

‘तुम्हें? किसलिए?’

‘वे मकान बेचना चाहते हैं, कागजों पर आपके दस्तखत कराने ही मैं आया था।’ मैं हल्का-सा हो गया। जिस काम के लिए इतनी दूर आया था, वह इतनी आसानी से उनसे कह दूँगा, यह मुझे चमत्कार-सा जान पड़ा।

उन्होंने चौकी से सिर उठाया, एक क्षण के लिए मेरे ब्रीफकेस को देखा, जो अभी तक उपेक्षित फर्श पर पड़ा था। पहली बार उन्हें उन कागजों का मतलब समझ में आया, जो कुछ देर पहले उनकी सीढ़ियों पर हवा में उड़ रहे थे।

‘और माँ?’ उन्होंने मेरी ओर आँखें उठाईं, जिनमें एक अजीब-सी थकान छलक आई थी, ‘वे कहाँ रहेंगी?’

‘कहीं भी... जैसा वे ठीक समझेंगी।’

‘और तुम?’

‘मैंने किराए की एक जगह देख ली है।’

‘फिर मुझसे पूछने की क्या जरूरत थी?’

‘आपका भी तो मकान में हिस्सा है।..’ मैंने कहा।

वे धीरे से हँस पड़े, ‘मैं यहाँ हूँ, मेरा हिस्सा पीछे कैसे छूट गया?’

मैं चुप उन्हें देखता रहा।

‘मकान बेचना क्या बहुत जरूरी है?’ उन्होंने आँखें खोल कर मुझे देखा।

‘नहीं... जरूरी नहीं है, लेकिन बड़े देहरादून में जमीन खरीदना चाहते हैं, उसके लिए पैसा कहाँ से आएगा?’

‘मकान बेच कर?’ उनके स्वर में हल्का-सा व्यंग्य उभर आया।

‘और कैसे?’

‘लेकिन उसे बाबू ने खरीदा था, उसमें अपनी सारी पेंशन के पैसे लगाए थे।’

‘हाँ, मुझे मालूम है।.. लेकिन बाबू अब नहीं हैं।’

‘जो आदमी नहीं रहता, क्या उसकी चीजें हमारी हो जाती हैं?’

मैंने विस्मय से उन्हें देखा, मन में आया, कहीं, आप तो सब कुछ छोड़ कर चले गए थे-अब मकान रहता है या बिकता है, इसकी चिंता क्यों?

सहसा वे चौकी के आगे झुक आए, एक अजीब मुस्कराहट में उनके होंठ खुल गए, 'जानते हो, जब बाबू ने वह मकान खरीदा था, तुम एम.ए. का फाइनल कर रहे थे, उन दिनों उस इलाके में बिजली नहीं आई थी और तुम ऊपर बरसाती में लालटेन जला कर पढ़ते थे।'

'जी, याद है।'

'तुम्हारा विवाह नीचे के आँगन में हुआ था।'

बरसाती, छत, आँगन, पता नहीं, वे मुझसे यह सब क्यों पूछ रहे थे? नहीं, मकान नहीं... वे शायद कुछ और बात कहना चाह रहे थे और मैं अपने गुस्से की उमठन में कुछ भी नहीं समझ पा रहा था।..

अचानक रोशनदान के खाली खोखल में कुछ चमका, जैसे कोई बनैला जानवर अपनी चमकीली आँख से भीतर झाँक कर अँधेरे में गायब हो जाए। मैंने कुछ भयभीत-सा हो कर उन्हें देखा, 'क्या है?'

'कुछ नहीं, बिजली चमकी है।'

मुझे किसी नई आशांका ने पकड़ लिया था। 'अब चलता हूँ, बारिश आई तो नीचे उतरना मुश्किल होगा।'

'तुम्हें जल्दी है?' उन्होंने मेरी ओर देखा।

'मास्टर जी परेशान होंगे, मैं उनसे बिना कुछ कहे चला आया था।'

'उन्हें मालूम होगा कि तुम यहाँ हो।' वे एक क्षण ठहरे और फिर कुछ झिझकते हुए कहा, 'आज रात यहाँ क्यों नहीं रुक जाते?'

मुझे इसी का डर था, मैं तैयार हो कर आया था।

'मुझे ब्लड-प्रेसर है।.. इतनी ऊँचाई पर रहना ठीक नहीं होगा।'

यह मूर्खतापूर्ण बहाना था। एक बार पहाड़ पर आ कर ऊँच-नीच क्या देखना? किंतु उनके साथ रात-भर रहना, यह मेरे लिए असह्य था। हम रात उसी के साथ बिताते हैं, जो बहुत आत्मीय हो, या बिल्कुल अजनबी, मेरा उनके साथ बीच का रिश्ता था, न इधर, न उधर, क्या इसीलिए घरवालों ने मुझे उनके पास भेजा था?

मैं झोला ले कर उठ खड़ा हुआ।

'ठहरो, मैं अभी आता हूँ।' वे नीचे वाली कोठरी में गए और जब ऊपर आए तो उनके एक हाथ में छतरी और दूसरे में टॉर्च थी, 'इसे रख लो,' उन्होंने छतरी मुझे दे दी, 'मैं तुम्हारे साथ मंदिर तक आता हूँ।'

वे कोठरी की सीढ़ियाँ उतरे, फिर टॉर्च आगे करके मेरा हाथ पकड़ कर नीचे उतार दिया। वे आगे-आगे चलने लगे, लेकिन मैं कुछ क्षण अँधेरे में खड़ा रहा, उनके हाथों की छुआन मेरी देह में घूमने लगी, एक शिकारी की तरह मेरी शिराओं में किसी दुबकी हुई याद को टोहती हुई-बीता हुआ स्नेह अँधेरे में जगमगा-सा उठा... क्या वे वही हैं, जिन्होंने घर छोड़ा था?

वे ठिठक गए। पीछे मुड़ कर मेरी ओर देखा, हँसने लगे, 'मैंने सोचा, तुम पीछे आ रहे हो?'

मैं चलने लगा। चारों तरफ साफ धुला हुआ अँधेरा फैला था। तारे बिल्कुल सिर पर थे, एक-दूसरे के इतना पास सटे हुए कि आकाश में कहीं भी खाली जगह दिखाई नहीं देती थी। मुझे अचंभा हुआ कि इतनी स्वच्छ रात में बिजली कहाँ से कड़की होगी?

वे टॉर्च जला कर सधे पैरों से चल रहे थे-रोशनी के गोले में पेड़, झाड़ियाँ, चट्टानें, धीरे-धीरे पीछे सरकते जाते थे। कभी-कभी कोई पक्षी अँधेरे में चीखता हुआ ऊपर से उड़ जाता और फिर झाड़ी में खटखटाहट सुनाई देती-जो शायद भ्रम था-झाड़ी पहले खटकती थी और पक्षी की उड़ान बाद में सुनाई देती थी, मेरे थैले में टिफिन का कटोरदान बार-बार मेरी थर्मस से टकराता था और तब अचानक मुझे याद आया।

'मेरा ब्रीफकेस?'

'क्या?' वे भी ठहर गए।

'मैं उसे आपकी कोठरी में ही भूल आया।'

'कोई बात नहीं... कल ले लेना।' फिर बहुत ही सहज स्वर में पूछा, 'क्या उसमें कोई तुम्हारी लिखी चीज है?'

पहली बार उन्होंने लिखने के बारे में पूछा था, मैं समझा था, वे अरसा पहले की मेरी इस अवैध, गोपनीय बीमारी को भूल चुके होंगे।

'नहीं, उसमें सिर्फ जायदाद के कागज हैं... आपके लिए कुछ पत्र हैं, उन्हें देख लीजिएगा।'

कुछ देर तक हम अँधेरे में चलते रहे, पगडंडी पर टॉर्च की रोशनी के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं देता था।

'बहुत दिनों से तुम्हारी कोई चीज नहीं देखी।'

'लिखा नहीं, अखबार में बहुत काम रहता है। आपके यहाँ पत्रिकाएँ मिल जाती हैं?'

‘मास्टर जी स्कूल की लायब्रेरी से कभी कोई चीज ले आते हैं... बहुत पहले शायद तुम्हारी कोई कहानी देखी थी।’

मैं धड़कते दिल को दबोचे अँधेरे में चलता रहा, एक गिलगिलाती शर्म में डूबा हुआ, बरसों पहले एक कहानी तो लिखी थी, दुर्भाग्यवश वह छपी भी थी, बल्कि छपाने के लिए ही उसे लिखा था, वह उनके बारे में उतनी नहीं थी, जो एक दिन अचानक घर छोड़ कर चले गए थे, बल्कि उन लोगों को ले कर थी, जो पीछे छूट गए थे। माँ और बाबू सोचते थे (माँ से ज्यादा बाबू आशावान थे, तब वे जीवित थे) कि उसे पढ़ते ही वे लौट आएँगे... लौटना तो दूर रहा, उन्होंने बीस पैसे का एक कार्ड भी नहीं भेजा। मुझे खुशी हुई कि वे अँधेरे में न मुझे देख सकते हैं, न मेरी शर्म को, लेकिन बरसों पहले की चोट मेरे भीतर के सब भटकावों को भेद कर सिर उठाने लगी, ‘आप,’ मैंने कहा, ‘आपने खबर तक नहीं की?’ यह कहते ही मेरा गला रूँध गया—यह दोहरी शर्म थी—दिल्ली से आते समय मैंने प्रण किया था कि उनसे यह प्रश्न कभी नहीं पूछूँगा और अब वह हम दोनों के बीच में था—बियाबान जंगल के बीच टॉर्च की गोल बिंदी पर अटका हुआ।

‘इसका कोई फायदा नहीं था।’ उन्होंने कहा।

‘आपको मालूम है, हम आपको कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते फिरे?’

नहीं, फायदा कुछ भी नहीं था, इस पहाड़ की शांत चोटी से क्या वे तलहटी के तिलचट्टों की बदहवासी समझ पाएँगे... अस्पतालों और स्टेशनों के चक्कर, पुलिस थानों की लिस्टों पर गुमनाम लोगों के नाम, मुर्दाघर की शिनाख्त, अखबारों में इश्तिहार—प्लीज कम, मदर इज इल...

‘फायदा?’

‘एक लाइन यह तो लिख सकते थे कि आप कहीं जीवित हैं?’

‘अगर तुम्हें मालूम होता कि मैं जीवित हूँ, तो क्या तुम्हारी तकलीफ कम हो जाती?’

‘मैं तकलीफ की बात नहीं कर रहा।’

‘फिर?’

मैंने अपने भीतर टटोला और कुछ भी हाथ नहीं आया—न तकलीफ, न माँ का बुढ़ापा, न अपनी असफलताएँ—सब कुछ ऐसा ही होता, जैसा होना था।

‘फिर इतने दिनों बाद चिट्ठी भेजने का क्या फायदा था?’ मैंने पूछा।

वे कुछ देर चुप खड़े रहे। 'हाँ, शायद नहीं भेजनी चाहिए थी लेकिन...'
'उन्होंने अँधेरे में एक लंबी साँस ली।

'मुझे दस साल लगे कि तुम्हें कुछ लिख सकूँ मैंने सोचा, अब तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि मैं जीवित हूँ या नहीं...'

उनके स्वर में कुछ ऐसी उदास निस्संगता थी, जो हमें आदमियों में नहीं-पेड़ और पत्थरों और पानी में मिलती-जो रिशतों की लहलुहान पीड़ा से बाहर जान पड़ती है-क्या यह निस्संगता उन्होंने पिछले वर्षों के अकेलेपन में अर्जित की थी?

मैं चौंक गया। अँधेरे में कहीं नीचे एक हल्की-सी गड़गड़ाहट सुनाई दी, जैसे कोई भारी पत्थर ऊपर से लुढ़कता नीचे की ओर जा रहा हो।

'यह कैसी आवाज है?' मैंने उनकी ओर देखा।

'पहाड़ी झरना है, मैं यहीं से पानी लाता हूँ।'

'काफी नीचे जाना होता होगा?'

'नहीं... मेरी कोठरी के नीचे ही बहता है, कल आओगे तो देखने चलेंगे।'

वे खुद पानी लाते हैं? पता नहीं कैसे-उस क्षण मेरी शर्म और थकान और पिछले वर्षों की जमी नाराजगी घुल-सी गई, हम ठिठके हुए सन्नाटे में पानी का बहना सुनते रहे, कहीं ऊपर से मंदिर की घंटियाँ सुनाई दे रही थीं-शाम की आरती शुरू हो गई थी।

'अब आप लौटिए... मैं चला जाऊँगा।'

'अच्छा,' उन्होंने कहा, पर वे गए नहीं और मैं उनके साथ बँधा खड़ा रहा।

'मैं कल आऊँगा,' मैंने कुछ ऐसे कहा, मानो जो तसल्ली उन्होंने मुझे अब तक दी थी, अब उन्हें अकेला देख कर वापस लौटा रहा हूँ।

'तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं है?'

'कैसी तकलीफ?' मैंने उन्हें देखा।

'मास्टर जी का घर काफी छोटा है... तुम रेस्टहाउस में क्यों नहीं आ जाते?'

'नहीं, मैं ठीक हूँ, एक-दो दिन की ही तो बात है।'

एक-दो दिन... मेरे मुँह से निकल गया, हवा और मंदिर की घंटियों में ये शब्द पता नहीं कितनी देर तक झूलते रहे।

इस बार मैं रुका नहीं, सीधा मंदिर की ढलान पर नीचे उतरता गया। आखिरी मोड़ पर पीछे मुड़ा तो देखा, वे वहीं वैसे ही खड़े थे, जैसा मैं उन्हें छोड़ गया था-अविचलित और एक ही जगह।

नीचे मोटर-रोड की रोशनियाँ एक कतार में चमकीली झालर-सी टिमटिमा रही थीं। बीच में वह पहाड़ी शहर सफेद धुंध में लिपटा सो रहा था। क्या वे भी सो रहे होंगे? या अकेले अपनी कोठरी में बैठे होंगे? तुम पूरे दस साल बाद उनसे मिलने आए थे-और एक रात भी उनके साथ नहीं रह पाए? तुम लिखते हो, लेकिन जब कोई अभूतपूर्व सच्चाई रास्ते में मिल जाती है तो तुम किनारा करके भाग निकलते हो जैसे जीने का सच्चाई से और सच्चाई का लिखने से कोई नाता नहीं है। तीनों चीजें मरे मुर्दों की तरह अलग-अलग फाँसियों पर झूलती रहती हैं और अगर भागना ही था-तो एक रात भी क्यों ठहरे? मकान के कागजों पर दस्तखत कराते और अगली बस से वापस लौट जाते? क्या मतलब था रुकने का, अगर एक ही रात और शहर में अलग-अलग छतों के नीचे सोना था? हमारा परिवार और भाई-बहिन, आखिरी मौके पर पहुँच कर क्यों हम सब रूखे डंठल-से सूख जाते थे-सारा प्रेम कहीं राख और रेत में दब जाता था-और हम एक-दूसरे को अपनी हालत पर छोड़ कर अलग हो जाते थे, क्या यह उदासीनता अपने में पाप नहीं थी? क्या इसी पाप से आतंकित हो कर उन्होंने घर नहीं छोड़ा था?

उस रात मैं नीचे उतरता गया, गड़हे में जा कर अपनी शर्म और लांछना के कीचड़ में लिपट कर सोना-शायद वह उतना ही सुख देता है, जितना पहाड़ की स्वच्छ चोटी पर रहना। लेकिन गड़हा मेरे भीतर था और जब मैं मास्टर साहब के घर पहुँचा तो सिर्फ एक इच्छा सुलग रही थी-उनकी आँखों से गायब हो कर एक अदृश्य प्राणी की तरह अपने बिस्तर पर जा लेटूँ और सारी रात वहीं काट कर दूसरे दिन दिल्ली रवाना हो जाऊँ।

मास्टर जी शायद रसोई में थे, उन्हें पता भी न चला कि मैं कब दरवाजा खोल कर भीतर आ गया हूँ, उस क्षण मुझमें मास्टर जी का सामना करने की न शक्ति थी, न इच्छा, मैं जल्दी से कपड़े बदल कर बिस्तर में छिप जाना चाहता था। कमरे में आग बलबल सुलग रही थी, जब मैं अँगूठी के पास आया, मुझे अपने भीतर की टंड और थकन का बोधा हुआ, इसके साथ ही अपने भीतर के तपते बुखार का ख्याल आया-कहीं देह के भीतर मन का बुखार और मन के भीतर देह की ठिटुरन साथ-साथ एक-दूसरे को सता और सहला रहे थे, जिसमें मेरा साझा कहीं न था। यह अच्छा ही था। हम गृहस्थ लोगों के लिए यही सबसे बड़ी सांत्वना है, साधु-संन्यासियों की तरह हम संसार का त्याग भले ही न कर सकें, लेकिन कुछ देर के लिए अपने मन और शरीर से छुटकारा पा सकते हैं-अलग हो सकते

हैं, थोड़ा-सा हल्के हो सकते हैं, किंतु उस रात मेरे भाग्य में यह नहीं बदा था। कपड़े बदल कर मैं बिस्तर पर लेटा ही था कि रसोई में हल्की-सी आहट सुनाई दी, मैं चौंक कर उठ बैठा, चौके की देहरी पर मास्टर जी खड़े थे। वे मुझे ऐसे घूर रहे थे, जैसे मैं रँग हाथों पकड़ा गया हूँ, 'आप कब आए?'

'अभी कुछ देर पहले... मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है।' मैंने अपने को बचाते हुए कहा। वे कुछ ढीले पड़े, मेरे बिस्तर के पास आए, 'मैंने आपसे पलंग पर सोने के लिए कहा था। इन दिनों फर्श पर सीलन रहती है।'

उन्होंने मेरे माथे पर हाथ रखा, फिर नाड़ी को परखा, 'बुखार तो नहीं है। थोड़ी-सी थकन होगी। मेरे पास ब्रांडी रखी है—थोड़ी-सी लीजिए, हाथ-पाँव में गरमाई आ जाएगी।'

उन्होंने अलमारी से एक छोटी-सी क्वार्टर बोतल निकाली और चौके से दो गिलास ले आए। मैं बिस्तर पर उठ कर बैठ गया, कमरे की आग के सामने हम दोनों कुछ ऐसे जान पड़ रहे थे जैसे पीने के लिए नहीं—किसी पहाड़ी देवता की पूजा के निमित्त बैठे हैं, बाहर अँधेरे में किसी पक्षी की अजब, आग्रह-भरी आवाज सुनाई दे जाती थी—जंगल की खामोशी को अपनी चोंच से छितराती हुई।

'निनीरा है, इसे सुन कर बच्चों को नींद आ जाती है।' उन्होंने ब्रांडी का घूँट लिया और मेरी ओर देखा, 'गर्म पानी चाहिए?'

'नहीं, ऐसे ठीक है।.. आपको यहाँ मिल जाती है?'

'नहीं, यहाँ कहाँ मिलेगी? कभी-कभी अल्मोड़ा या भुवाली से मँगवा लेता हूँ, बस के ड्राइवर ले आते हैं।'

आग की गरमाई रही होगी या ब्रांडी का असर, मुझे लगा, मेरी देह की गाँठें धीरे-धीरे खुल रही हैं, कुछ देर पहले मंदिर के नीचे जो विषाद और विशोभ की भावना आई थी, वह कहीं अलग न झूलती हुई मेरी आत्मा के चौखटे में फिट हो गई थी, सहसा मुझे लगा, इस दुनिया में कुछ भी बुरा नहीं है।.. मास्टर जी का एकटक मेरी तरफ घूरना भी नहीं। वे अजीब उत्सुकता में मुझे ताक रहे थे।

'मिल आए बाबा से?'

पहले क्षण मैं कुछ भी नहीं समझा, 'कौन-से बाबा?'

वे हँसने लगे, 'आप भी खूब हैं, जैसे यहाँ बाबाओं की भीड़ लगी है।'

मैं उनके खुले जबड़े और पीले दाँतों को देखता रहा। जिन्हें वे 'बाबा' कह रहे थे, उनका मुझसे कोई रिश्ता हो सकता है, यह उन्हें नहीं मालूम था,

साधु-संन्यासियों का घर-परिवार हो सकता है, इसके बारे में कोई कभी सोचता भी नहीं और यह बात मुझे पहली बार काफी विचित्र जान पड़ी।

‘वे क्या अपनी कुटिया में ही थे?’

‘जी... भला और कहाँ जाएँगे?’ मैंने कुछ हैरानी से उन्हें देखा।

‘हर जगह... पहले तो वे हर जगह घूमते थे, अपना सौदा-सुलुफ लेने भी खुद बाजार में नीचे आते थे।’

कहीं मेरे भीतर हल्की-सी उत्सुकता जागी।

‘अब कहीं नहीं जाते?’

‘कभी-कभी महीनों गुजर जाते हैं और उनके दर्शन नहीं होतेय पहले मैं हाल-चाल पूछने उनकी कुटिया में चला जाता था-लेकिन उनका व्यवहार कुछ ऐसा अजीब दिखाई पड़ा कि मैंने भी जाना छोड़ दिया।’

‘कैसा व्यवहार?’

वे आग की रोशनी में अपनी हथेली को ऐसे देख रहे थे जैसे मेरी बात का उत्तर वहाँ लिखा हो, फिर उन्होंने ब्रांडी का छोटा-सा घूँट लिया और मेरी ओर देखा, ‘पिछली सर्दियों में मैं उनके लिए पानी लाता था, वे बहुत मना करते थे, लेकिन मेरी छुट्टियाँ थीं और मैं हर सुबह उनकी कुटिया में पहुँच जाता था। एक सुबह मैं झरने से पानी भर कर ला रहा था कि वे मुझे रास्ते में मिल गए, मुझे रोक कर बोले, ‘क्या मैं उनके लिए लकड़ियाँ भी चुन कर ला सकता हूँ?’ .. ‘क्यों नहीं,’ मैंने कहा। वे कुछ देर तक मुझे देखते रहे, फिर मुस्करा कर कहा, ‘और रोटी? क्या उनके लिए खाना भी बना सकता हूँ,’ मैंने कहा, ‘नो प्रॉब्लम. ..’ दिन में एक बार खाते हैं, भला उनकी रोटी बनाने में कितनी देर लगेगी? ‘और मैं?’ उन्होंने पूछा, ‘मैं क्या करूँगा?’ मैंने कहा, ‘बाबा, आप ईश्वर का ध्यान कीजिए, इसीलिए तो आप सब कुछ त्याग कर यहाँ आए हैं...’ जानते हो, उन्होंने क्या कहा?’

मास्टर जी रुक कर आग की लपटों को देखते रहे, कुछ देर तक जलती हुई लकड़ियों की झिर-झिर के अलावा कुछ भी सुनाई नहीं देता था।

‘क्या कहा उन्होंने?’ मैंने उनकी ओर देखा।

कहने लगे, ‘जिसके बारे में कुछ मालूम नहीं, उसका ध्यान कैसे हो सकता है?’

‘यह उन्होंने कहा?’

‘मैंने पूछा, अगर ऐसी बात है, तो घर-बार छोड़ कर यहाँ जंगल में आने की जरूरत क्यों? जानते हैं, उन्होंने क्या कहा? कहने लगे, मैंने कुछ भी नहीं छोड़ा-मैं सिर्फ यहाँ रहता हूँ। आप मेरा सब काम करेंगे, तो मैं क्या करूँगा? मैंने पानी की बाल्टी रास्ते में ही छोड़ दी... जो आदमी अपनी सेवा नहीं कराना जानता, वह ‘उसकी’ क्या सेवा करेगा?’

वे कुछ देर चुप बैठे रहे, फिर एक लंबी साँस ली।

‘मैं यहाँ अकेला रहता हूँ-नौकरी के लिए-लेकिन वे यहाँ क्यों रहते हैं, यह कभी समझ में नहीं आया। न ध्यान-ज्ञान, न पूजा-पाठ... लोग उनसे मिलने आते हैं, तो चुपचाप बैठे रहते हैं-मैंने कभी उन्हें उपदेश का एक शब्द कहते नहीं सुना...’

‘फिर भी लोग उनके पास आते हैं?’ मैंने पूछा।

‘क्यों नहीं... आप भी तो आखिर इतनी दूर से आए हैं।’

‘नाम सुना था।’ मैंने कहा।

‘कोई मनोकामना ले कर आए हैं-या सिर्फ जिज्ञासा?’

मास्टर जी की टोहती आँखें मुझ पर टिकी थीं, मैंने भीतर झाँका-पुराने जालों के बीच जो चीज टँगी थी, वह न मनोकामना थी, न जिज्ञासा-हवा में डोलता सिर्फ एक टूटे रिश्ते का धागा था-जो कभी मास्टर जी से टकराता था, कभी मुझसे-लेकिन जिसको न वे समझ पाते थे, न मैं हटा पाता था..

‘खाना लगाऊँ, बहुत देर हो गई है।’

मास्टर जी रसोई में चले गए, लेकिन मैं अपने बिस्तर पर बैठा रहा। बाहर झींगुरों का स्वर एक तान में बज रहा था। ब्रांडी लेने के बाद एक मंद आँच मेरे भीतर भी जलने लगी थी, अपने घर में था, तो गृहस्थी के बीच पता नहीं चलता था कि अरसे से मेरे भीतर कितनी ठंड और थकन जमा होती गई है।

‘आप सो गए?’

मैं चौंक कर उठ बैठा। आग की हल्की गरमाई में मैं ऊँघने लगा था। उन्होंने दो थालियाँ फर्श पर रख दीं। दाल-सब्जी, मोटी गर्म रोटियाँ... अकेले ही उन्होंने सब बनाया था, उस क्षण मुझे मास्टर जी के जीवन से अद्भुत ईर्ष्या हुई, मैं दो दिन से उनके घर में मेहमान बना बैठा था, जबकि उन्हें मेरे बारे में कुछ भी मालूम नहीं था। एकबारगी इच्छा हुई कि उन्हें सब बता दूँ, कह दूँ, उनके सहजी बाबा और कोई नहीं-मेरे भाई हैं, जिनसे मैं मिलने आया हूँ... लेकिन दूसरे ही क्षण कुछ भी कहने की इच्छा मर गई, मेरी बात सुन कर वे अजीब संकोच

में फँस जाँएँगे और फायदा कुछ भी नहीं होगा... कुछ सत्य बिल्कुल अनावश्यक होते हैं, उन्हें कहने, न कहने से कोई अंतर नहीं पड़ता।

‘अभी तो आप कुछ दिन यहाँ रहेंगे?’ उनके स्वर में कुछ अजीब-सी आतुरता थी।

‘मुझे कल ही जाना है,’ मैंने कुछ झिझकते हुए कहा, ‘मैं सिर्फ दो दिन की छुट्टी ले कर आया था।’

‘कहाँ काम करते हैं आप?’ उन्होंने पहली बार मुझसे मेरी नीचे वाली जिंदगी के बारे में पूछा था—उनके स्वर में एक लगाव-भरी चिंता थी, जिसके कारण मैं उनका कृतज्ञ-सा हो आया। मैंने उन्हें अपनी अखबार की नौकरी के बारे में बताया... अपने बच्चों, गृहस्थी और घर के बारे में—वे चुपचाप सुनते रहे। जब मैं अपनी बात खत्म कर चुका और उनकी ओर से फिर भी कोई उत्तर नहीं आया, तो मुझे थोड़ा-सा संदेह हुआ, कहीं वे सो तो नहीं रहे? सिर उठा कर उन्हें देखा—कमरे की पीली चाँदनी में उनकी आँखें मुझ पर टिकी थीं, मुझे एक अजीब-सा खटका हुआ—पता नहीं वे क्या सोच रहे थे?

‘एक बात कहूँ—आप घर-गृहस्थी छोड़ कर इतनी दूर आए हैं, कुछ दिन रुक क्यों नहीं जाते?’

‘उससे क्या होगा?’

‘बाबा का साथ रहेगा और क्या! वे भी इन दिनों कोठरी में अकेले पड़े रहते हैं।’

‘आप भी तो यहाँ रहते हैं... फिर भी उनके पास नहीं जाते।’

‘मुझे समझ में नहीं आता, उनसे क्या बात करूँ—पहले उनका थोड़ा-बहुत काम करने चला जाता था—अब उन्हें उसकी भी जरूरत नहीं पड़ती... पता नहीं, दिन-रात अकेले क्या करते हैं?’

‘देखिए—उन्होंने घर-बार अपनी इच्छा से छोड़ा होगा—और अकेले रहना इतना बड़ा संताप भी नहीं है।.. आप भी तो यहाँ बिल्कुल अकेले रहते हैं?’ मैंने कहा।

‘मेरी बात बिल्कुल अलग है।.. मैं महीने में एक-दो बार अल्मोड़ा का चक्कर लगा आता हूँ, अगर यहाँ कोई ढंग का मकान मिल जाता, तो फेमिली को भी यहाँ ले आता...’ वे एक क्षण रुके, मेरी ओर एक अजीब अर्थ-भरी दृष्टि से देखा, धीरे से कहा, ‘एक बात मुझे समझ में नहीं आती, बाबा को यहाँ आए

इतने वर्ष बीत गए, लेकिन उनके घर-परिवार का कोई आदमी उनसे नहीं मिलने आया।’

मुझे अजीब-सा संदेह हुआ कि उन्हें मेरे बारे में सब कुछ मालूम है।.. शायद पहले दिन से ही उन्हें मालूम था, जब वह बस-स्टेशन पर मिले थे... किंतु उनके चेहरे से कुछ पता नहीं चलता था।

‘संभव है, उनके घरवालों को मालूम ही न हो कि वे यहाँ हैं।’

‘इतने वर्षों में भी?’ उन्होंने कुछ अविश्वास से मुझे देखा।

‘शायद कोशिश की हो... इतना बड़ा देश है, कोई कहाँ तक छानता फिरेगा!’ मैंने कहा।

वे कुछ देर अँधेरे में बाहर देखते रहे, फिर कुछ सोचते हुए कहा, ‘मुमकिन है, उनका कोई न हो... कुछ लोग तो अपने अकेलेपन से घबरा कर ही संन्यास ले लेते हैं।’

‘आपने कभी उनसे नहीं पूछा?’

‘अपने बारे में वे इतना ही कहते हैं जितना ईश्वर के बारे में, कभी-कभी तो मुझे उनके संन्यासी होने पर भी शक होने लगता है।’

संन्यासी नहीं, तो और क्या हैं? दस साल पहले सबको रुला कर घर छोड़ा था-अब ईश्वर को छोड़ कहाँ जाएँगे? किंतु उस रात इसका उत्तर कहीं न था। . मास्टर जी अपनी मंजी पर लेट गए और मैं अपने बिस्तर पर-बिल्कुल पिछली रात की तरह।

लेकिन पिछली रात की तरह कमरे में पूरा अँधेरा नहीं हुआ। चौके की खिड़की पर चाँद भीतर झाँक रहा था और कमरे की हर चीज एक महीन, पीले चूरे में चमकती जान पड़ती थी, देर तक मुझे नींद नहीं आई, घर की याद आती थी तो लगता था, वह कोई दूसरी दुनिया हो-और जब भाई की अकेली कोठरी के बारे में सोचता, तो लगता कि वह कोई तीसरी दुनिया है-और ये सब दुनियाएँ धारती पर अलग-अलग बिखरी हैं-दिखती पास-पास हैं, किंतु असल में एक-दूसरे से लाखों कि.मी. दूर हैं... क्या इनका आपस में कोई संबंध नहीं? यह विचार ही मुझे भयंकर जान पड़ा, मैंने करवट ली ताकि इस प्रश्न को उठने से पहले ही बाजू में दबा कर सो सकूँ।

ऊपर कव्वे उड़ रहे थे। लश्कर-के-लश्कर, चीखते हुए वे नीचे उतरते और जहाँ थाह मिलती, वहाँ पसर जाते-पेड़, चट्टान, डगर, डाली, उनकी काँव-काँव से बाजार और मंदिर के बीच का आकाश थराने लगता था।

मैं बाजार में ही था-बस-स्टैंड के शोड के नीचे एक छोटी-सी भीड़ जमा थी, ढाबों के आगे कुत्ते और कुली ऊँघ रहे थे। मास्टरजी सबको धकियाते हुए आगे बढ़ गए और टिकट की खिड़की के आगे खड़े हो गए, खिड़की बंद थी। .. मास्टर जी ने दो-तीन बार उसे अपने घूँसों से खट-खटाया, अचानक एक सिर बाहर आया और मास्टर जी उससे बतियाने लगे, कुछ देर बाद वे मेरे पास आए।

‘एडवांस बुकिंग नहीं होती-आपको बस में ही टिकट मिल जाएगा।’

‘आपने टाइम पूछा?’

‘शाम को एक ही बस दिल्ली जाती है-छह बजे। दूसरी बस आठ बजे, वह डायरेक्ट नहीं जाती-भुवाली से दूसरी बस लेनी पड़ती है।’

छह बजे। समय काफी था। घर से निकलने से पहले मैं अपना सामान बाँध चुका था।.. मास्टर जी की सलाह पर उसे बाजार में उनकी जान-पहचान के हलवाई की दुकान में रखवा दिया था, ताकि शाम को लौटने पर उसे लेने दोबारा घर न जाना पड़े। मेरे हाथ में सिर्फ अपना थैला था-और ‘उनका’ छाता।

‘आइए, एक-एक चाय और हो जाए... आपको पूरी चढ़ाई पार करनी है।’ मास्टर जी ने कहा।

सुबह की चाय हम उनके घर में ही ले चुके थे-लेकिन टंड कुछ इतनी ज्यादा थी कि मैं ढाबे में कुछ देर भट्ठी के आगे बैठने का लालच नहीं रोक सका।

सुबह से ही मास्टर जी चुप थे, एक-दो बार मुझसे रुकने का आग्रह किया था, किंतु जब मैंने उन्हें बताया कि अगले दिन ही मुझे अखबार में अपना कॉलम लिखना है, तो उन्होंने जोर नहीं डाला, न सहजी बाबा के बारे में एक शब्द कहा, पिछली रात के बाद हमारे बीच एक मूक समझौता-सा हो गया था कि हम उनके बारे में चुप ही रहेंगे... न उन्होंने उनकी चर्चा छोड़ी, न मैंने कुछ कहा, हमारे बीच वे कुछ वैसे ही अदृश्य हो गए थे, जैसे ऊँचाई पर उनकी कुटिया... वह बादलों में छिप गई थी, न मंदिर दिखाई देता था, न फॉरेस्ट रेस्टहाउस, वह कुछ वैसे ही पहाड़ी दिन था, जब बारिश नहीं होती, लेकिन धूप भी दिखाई नहीं देती-सिर्फ बादलों की कनात ऊपर से नीचे तनी रहती है।

‘ये सब भुवाली से आते हैं।’ मास्टर जी ने बादलों को देखते हुए कहा, ‘बाकी सब रानीखेत-नैनीताल की तरफ उड़ जाते हैं... बची-खुची खुरचन यहाँ आती है।.. इनके लिए यह जगह काले पानी की सजा है और क्या...’

मैं चाय पीता हुआ रुक गया, ‘इसके आगे नहीं जाते?’

वे हँसने लगे, 'इसके आगे कव्वे जाते हैं... देखते नहीं इनके लश्कर?'
वे चारों तरफ थे... मंदिर की पहाड़ी पर, बाजार के ऊपर छतों और पेड़ों पर चक्कर काटते हुए।

'आप सोचेंगे, इतना छोटा शहर और इतने कव्वे? कहते हैं, इस शहर पर एक शाप पड़ा था कि यहाँ के सब निवासी मृत्यु के बाद कव्वे की योनि प्राप्त करते हैं।'

'फिर भी लोग यहाँ रहते हैं?' मैंने कहा।

'हाँ, रहते हैं—क्योंकि एक विश्वास यह भी है कि ये सब कव्वे मरने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं।' मास्टर जी ने कुछ गंभीरता से कहा, 'यह शहर एक तरह का ट्रांजिट स्टेशन है—कव्वे की योनि और निर्वाण के बीच।'

इस बार वे मुस्कराए नहीं... अपनी सूनी निगाहों से धुंध में डूबे शहर और उसके ऊपर फड़फड़ाते काले डैनों को देखते रहे... काले पानी का शहर... मुझे यह सोच कर कुछ अजीब-सा लगा कि भुवाली के बादल यहाँ आते हैं, आगे नहीं जाते... जैसे यह दुनिया का अंतिम छोर हो—मृतात्माओं और कव्वों का प्रदेश!

मैं आगे कुछ भी नहीं सोच सका, मास्टर जी ने भी जैसे अपनी मजाक-भरी कथा को आगे नहीं बढ़ाया—शायद वे भी अपनी जिंदगी के बारे में सोचने लगे, जो आधी से ज्यादा इसी शहर में बीत चुकी थी...

उन्होंने मुझे चाय के पैसे भी नहीं चुकाने दिए...

'मैं शाम को इसी ढाबे के सामने रहूँगा... आप जरा जल्दी आ जाइएगा—और...' वे एक क्षण झिझकेय 'उनसे मेरा प्रणाम कहिएगा।'

'आप भी मेरे साथ चलिए... वे बहुत खुश होंगे।' मैंने आग्रह किया, मैं इस बार उनके पास अकेले नहीं जाना चाहता था।

मेरी बात सुन कर वे एकदम घबरा-से गए, 'नहीं... नहीं। मैं तो यहीं रहता हूँ—किसी भी दिन चला जाऊँगा... आप कोई रोज थोड़े ही आते हैं।'

वे जल्दी से मुड़ गए, बाजार की भीड़ में खो गए।

चढ़ाई पर कीचड़ थी, बूँदा-बाँदी ऊपर से। दोपहर के बीच ही अँधेरा—सा घिरने लगा था। मैंने उनकी छतरी खोल ली और तेज कदमों से ऊपर चढ़ने लगा। मंदिर की सीढ़ियों तक पहुँचते-पहुँचते मेरी साँस फूल आई, एक बार इच्छा हुई, कुछ देर वहीं बैठ कर स्वस्थ हो लूँ, उनके पास इस तरह लस्तम-पस्तम जाना ठीक नहीं होगा, फिर ख्याल आया, अगर शाम की बस पकड़नी है, तो जितना

समय उनके पास बिता सकूँ, वही अच्छा है, दो-चार मिनट सीढ़ियों पर सुस्ता कर मैं दोबारा ऊपर चढ़ने लगा।

पगडंडी के नीचे सुंदर पहाड़ी कॉटेज थीं, अंग्रेजों के जमाने की... एक क्षण विश्वास नहीं हुआ कि वहाँ संभ्रांत लोग रहते होंगे—जिनका अघोरी बाबा के नंगेपन, भाई की कुटिया और मास्टर जी के अकेलेपन से कोई लेना-देना नहीं, कभी किसी खुले दरवाजे से भीतर की झलक मिल जाती—सुलगती हुई फायरप्लेस... कहीं गलियारे में लड़कियों की हँसती आवाजें... रेडियो का संगीतय यह वही दुनिया थी, जिसकी सुरक्षित चहारदीवारी के बीच मैंने अपने चालीस वर्ष गुजारे थे—किंतु बाहर धुंध में ठिठुरते हुए वह दुनिया कितनी बेगानी जान पड़ती थी, सहसा एक रिरियाते से डर ने मुझे पकड़ लिया—अगर कोई मुझे अचानक इस सुंदर और सुरक्षित दुनिया से बाहर फेंक दे तो मेरा क्या हाल होगा. .. मैं उस टिड्डे की तरह अँधेरे में चक्कर लगाऊँगा जिसे एक अँगुली से पकड़ कर ड्राइंगरूम की खिड़की के बाहर फेंक दिया जाता है।. और जो कभी दोबारा भीतर आने का रास्ता नहीं ढूँढ़ पाता, किंतु अगले क्षण ही मुझे अपने डर पर हँसी आने लगी—मैंने अपने कोट के भीतर हाथ डाला, वहाँ मेरे बैंक की पासबुक थी, गले में लिपटे मफलर को छुआ, जो पिछली वर्षगाँठ पर मेरी पत्नी ने मुझे भेंट की थी, मेरे चमड़े के वैलेट में मेरे दोनों बच्चों की तस्वीरें थीं, दिल्ली में मकान था, किताबें थीं, जिन पर मेरा नाम लिखा था—सब ठोस पक्की चीजें, जिनसे मेरा इस धरती पर होना साबित होता था, मैं वही था, जो चालीस साल पहले इस दुनिया में आया था, एक पीस में जड़ा हुआ जीव, एक निरंतर प्राणी—जिसके बीच कोई काट-फाँक नहीं थी, यह असंभव लगा कि यह जीव मुझे एक दिन अनाथ पतंगे की तरह अँधेरे में छोड़ कर गायब हो जाएगा... मैं जल्दी-जल्दी उनकी कुटिया की तरफ बढ़ने लगा, एक अजीब खुशी ने मुझे पकड़ लिया, कुछ घंटों बाद शाम की बस से मैं अपनी जानी-पहचानी दुनिया में लौट जाऊँगा. .. डर का कोई कारण नहीं था।

मैंने धीरज की साँस ली, जब देखा, उनकी कोठरी में उजाला है—ज्यादा नहीं—उतना ही, जितना एक धुँधली दोपहर में लालटेन से बाहर आता है, मेरे लिए उतना ही काफी था। लगभग दौड़ते हुए मैं कुटिया की तीन सीढ़ियाँ चढ़ गया, साँकल खटखटाने के लिए हाथ बढ़ाया, तो बीच में ही ठिठक गया। क्या उनके साथ कोई भीतर है? उनकी आवाज सुनाई दी—ऐसी आवाज—जो न अकेली होती है, न किसी के साथ होती है, जैसे कोई नींद या बुखार में बुड़बुड़ाता है,

आधे शब्द सुनाई देते हैं, आधे ऊपर से निकल जाते हैं—क्या वे प्रार्थना कर रहे थे, या अपने से ही बोल रहे थे? लेकिन तभी वे दिखाई दिए—दरवाजे के पल्लों के बीच वे मेरी नजर के घेरे में आ गए, वे रोशनदान के आगे खड़े थे...

मैं आज भी वह दृश्य नहीं भूल पाता, उसे 'दृश्य' भी कहना गलत होगा—दरवाजे के बीच सुराख से जो दिखाई दिया, वहाँ न सहजी बाबा थे, न मेरे भाई थे—वहाँ एक ऐसे आदमी खड़े थे, जो दीन-दुनिया से बेखबर अपने से बात कर रहे थे और बीच-बीच में खुद ही हँसने लगते थे... दरवाजे से चिपटा, लुटा-पिटा मैं उन्हें देखता रहा—एक सम्मोहित पशु-सा, जो भय और मोह के बीच जड़ पुतले-सा खड़ा रहता है। लेकिन मेरा दूसरा हिस्सा मुझसे छिटक कर उनसे जा चिपटा था, हैरत में चीख रहा था—यह आप क्या कर रहे हैं? किससे बातें कर रहे हैं? किस पर हँस रहे हैं?

कहते हैं, जब आत्मा गूँगी पड़ जाती है, तब देह की आवाज सुनाई देती है, सन्नाटे में खून सनसनाता है और तब हम होश में आ जाते हैं, अपने दिल की धाड़कन को पहली बार सुनते हैं, ऐसा ही मेरे साथ हुआ, मुझे पता भी न चला, कब मैंने साँकल खटखटाई, कब उन्होंने दरवाजा खोला—मुझे अपने कंधे पर उनका हाथ और उनके शब्द एक साथ सुनाई दिए, 'कहाँ रहे? मैं सुबह से तुम्हारे इंतजार में बैठा था।'

उनका स्वर इतना सहज और शांत था कि अनायास मैंने ऊपर देखा—वे मुस्करा रहे थे, क्या ये वही आदमी थे, जो कुछ मिनट पहले अकेले में हँस रहे थे?

'आप...?' मैंने कहा, फिर मैंने अपना वाक्य अधूरा छोड़ दिया, किसी ने मेरे भीतर की साँकल लगा दी, मैंने अपने विगत जीवन में आँख मूँद कर इतने दरवाजे बंद किए हैं—एक यह भी सही।

'आपका हाथ बहुत गर्म है।' मैंने कहा, 'तबीयत ठीक है?'

उन्होंने धीरे से अपना हाथ मेरे कंधे से अलग कर दिया, फिर ऐसे कहा, जैसे मेरी बात को सुना भी न हो, 'बाहर सर्दी है—भीतर चले आओ।'

मैंने उनकी छतरी कोने में रख दी, जूते उतार दिए, भीतर उतनी ही सर्दी थी, जितनी बाहरय नंगे कमरे में लालटेन की रोशनी और भी अधिक ठंडी और मैली जान पड़ती थी।

'इतनी देर कहाँ रहे?' उन्होंने पूछा।

‘मास्टर जी के साथ बाजार आया था।.. बस में सीट बुक करवानी थी।’
वे चुप रहे, लालटेन के दायरे में उनका सफेद चेहरा, सलेटी दाढ़ी और घनी काली भँवें एक निष्प्रभ आकार में सिमट गई थीं... एक तपता चेहरा-जो न सौम्य था, न कठोर-सिर्फ निर्विकार-सा मुझे ताक रहा था।

‘आज सुबह टहलता हुआ मैं फॉरेस्ट रेस्टहाउस गया था।.. उसके मैनेजर मुझे जानते हैं... वे आसानी से एक कमरा तुम्हारे लिए बुक करवा सकते हैं।’

‘उससे क्या होगा?’

‘तुम कुछ दिन यहाँ आराम से रह सकते हो... इतनी जल्दी क्या है?’

उनके स्वर में थोड़ा-सा आग्रह था, हल्का-सा सूखा स्नेह... जो दुरकता नहीं था इसलिए उसे झेल पाना और भी दुखद और दुश्वार जान पड़ता था।

‘आपको अच्छा लगेगा?’ मैंने कहा।

वे धीरे से हँस पड़े, ‘तुम सिर्फ मेरे लिए ही रुकना चाहोगे?’

‘और यहाँ कौन है? मैं आपसे मिलने आया था।’

‘नहीं... मैंने सोचा, शायद तुम कुछ दिन यहाँ रुकना चाहो... दिल्ली में तो रहना ही है।’

‘आप सचमुच यह चाहते हैं?’ मैंने कहा।

‘मेरे चाहने की बात नहीं...’ वे कुछ देर चुप बैठे रहे, फिर धीरे से कहा, ‘अरसे से तुमने छुट्टी नहीं ली... तुम छुट्टी मान कर ही यहाँ रह सकते हो।’

‘वे सोचेंगे, मैं भी आपके साथ मिल गया हूँ। घर में क्या एक संन्यासी काफी नहीं है?’

वे मुस्कराने लगे, ‘क्या वे मुझे संन्यासी समझते हैं? मैं तो यहाँ वैसे ही रहता हूँ, जैसे घर में रहता था।.. सिर्फ जगह बदल जाती है।’

‘और आप? आप बिल्कुल नहीं बदले?’ मैंने कुछ कौतूहल से उन्हें देखा।

‘तुम क्या सोचते हो?’ उनकी आँखों में एक अजीब शरारती-सी चमक तैर रही थी।

‘मैंने कभी नहीं सोचा था कि आपको इस जिंदगी में देखना संभव हो पाएगा।’

‘इस जिंदगी में?’ उन्होंने विस्मय से मुझे देखा, ‘इसके अलावा दूसरी जिंदगी कौन-सी है?’

क्या वे मेरे साथ खिलवाड़ कर रहे हैं? लेकिन उनकी आँखें स्थिर थीं और चेहरे पर एक उदास-सी निमग्नता घिर आई थी।

‘अगर एक ही जिंदगी है, तो फिर जगह बदलने का भी क्या मतलब है।
जैसे यहाँ वैसे वहाँ।’ मैंने कहा।

‘अंतर है।.. वहाँ दूसरों के लिए मेरा कोई मतलब नहीं था।’

‘और यहाँ?’

‘यहाँ दूसरे नहीं हैं...’ वे मुस्कराने लगे, ‘इसीलिए अपने मतलब के बारे में ही सोचना पड़ता है।..’

‘क्या यह संभव है।.. दूसरों को बिल्कुल छोड़ देना?’

वे कुछ सोचने लगे, दोपहर के मलिन आलोक में उनका सिर चौकी पर रुक आया था, सिर्फ बालों की सफेद लटें दिखाई देती थीं—कुछ देर पहले जिस चेहरे को हँसते देखा था वह अब एक अँधेरी बावड़ी पर ठिठकी छाया—सा दिखाई देता था।

‘नहीं... संभव नहीं है,’ उन्होंने कहा, ‘तभी तो मैंने तुम्हें चिट्ठी भेजी थी। संन्यासी होने के लिए सिर्फ छोड़ना ही काफी नहीं है।..’

वे दीवार पर पीठ लगाए थोड़ा—सा झुक आए थे, आँखें मुँदी थीं, दरवाजे का पल्ला धीरे—धीरे हिल रहा था। हवा उठती थी और बाहर की धूल और पत्तियाँ भीतर ले आती थी।

उन्होंने अचानक आँखें खोल दीं।

‘कोई आया था?’ उन्होंने कुछ हैरत से मुझे देखा।

‘नहीं,’ मैंने कहा, लेकिन तभी बाहर पैरों की आहट सुनाई दी, कुछ लोग सीढ़ियों के नीचे खड़े थे।

‘जरा देखो कौन है?’ उन्होंने मेरी ओर देखा। मैं उठ कर देहरी के पास आया, दरवाजा पूरी तरह खोल दिया, नीचे तीन—चार संभ्रांत—से दिखने वाले व्यक्ति खड़े थे... साथ में दो महिलाएँ भी थीं। मुझे देख कर एक सज्जन आगे बढ़े, ‘क्या बाबा भीतर हैं?’

मैं कुछ कह पाता कि मुझे अपने पीछे उनकी आवाज सुनाई दी, ‘आप बाहर बैठिए, मैं आता हूँ।’

उनका स्वर सुनते ही सबके हाथ जुड़ गए। मैं अलग हट गया। वह नीचे सीढ़ियों पर आए तो हर व्यक्ति आगे बढ़ कर उनके पैर छू लेता था। सबसे बाद में एक बहुत कम उम्र की महिला आई, काली शॉल में लिपटी हुई—एक क्षण बाबा को देखा... और फिर बहुत देर तक उनके पैरों के पास सिर टिका कर बैठी रहीं।

वे निश्चल खड़े थे, न एक शब्द कहा, न हाथ उठा कर कोई आशीर्वाद दिया। कुछ देर बाद वे मेरी तरफ मुड़े, 'तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ' उनके चेहरे पर अजीब-सा संकोच था, मैं निढाल-सा खड़ा रहा, क्या इन लोगों के सामने उन्हें मुझसे शर्म-सी आ रही थी?

मैं भीतर आया और लालटेन की बत्ती धीमी कर दी... सिर्फ इतनी रोशनी रहने दी कि बाहर का हल्का उजाला भीतर आता रहे, वे कुटिया के बाहर बांज के नीचे एक सफेद चबूतरे पर बैठे थे, कभी-कभी उनमें से किसी की आवाज भीतर आ जाती थी, अलग-अलग टुकड़ों में बाबा से कुछ कहती हुई, लेकिन उनका स्वर एक बार भी सुनाई नहीं दिया-और तब मुझे अपने प्रश्न पर ही शर्म आने लगी, जो मैंने उनसे पूछा था।.. दूसरे लोग? उन्होंने हमें छोड़ दिया था, लेकिन ये लोग? उन्हें इनसे क्या मिलता होगा, जो यहाँ आते हैं, कुछ जरूर होगा, जिसके बारे में मुझे कुछ भी नहीं मालूम, क्या मैं अपने भाई के रूप में एक अजनबी से मिल रहा था, उनसे वह सब पूछ रहा था, जिसका इस जगह कोई मतलब नहीं था और तब मुझे बरसों पहले की घटना याद हो आई, जब मैं उन्हें ढूँढ़ने अस्पताल के मुर्दाघर में गया था। मुझे लगा, चबूतरे के आगे जो लोग उनके दर्शन करने आए हैं, मैं भी उन्हीं की लाइन में खड़ा हो गया हूँ, किंतु वह कोई दूसरी जगह थी, दूसरा समय-वहाँ सफेद चबूतरे की जगह बर्फ की सिलें रखी थीं, जिन पर लोगों की लाशें मछलियों-सी रखी थीं। मैं हर सिल के आगे रुक जाता था-क्या यह वे हैं? लेकिन हर बार जब मैं रुकता, मुर्दाघर का अटेंडेंट मुझे पीछे से धक्का दे देता था, जल्दी कीजिए, आपके ही नहीं दूसरों के मुर्दे भी पड़े हैं, पहचानिए और आगे बढ़िए... दूसरों के मुर्दे? मैं धक्के खाता हुआ आगे बढ़ गया... दस साल आगे... और अचानक समझ नहीं पाया कि मैं बर्फ की सिल पर लेटा हुआ उन्हें देख रहा हूँ या वे ऊपर से झुक कर मुझे निहार रहे हैं...

'छोटे!'

एक धीमी-सी आवाज सुनाई दी, मेरे ऊपर लालटेन थी और वे मुझे बुला रहे थे, दस साल बाद उनके मुँह से अपना घर का नाम सुन कर मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा। लगा, मैं अपने घर में हूँ, आँखें फाड़ते हुए उन्हें देखने लगा जो ऊपर से मुझे देख रहे थे।

'तुम सो गए थे?' उन्होंने धीरे से कहा। मैंने देखा, मेरे ऊपर उनका कंबल बिछा है, मेरी देह में गरमाया हुआ।

'वे लोग चले गए?' मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा।

‘बहुत पहले के...’

‘आप यह कंबल कब दे गए?’

‘जब मैं भीतर आया, तुम ऐसे ठिठुर रहे थे, जैसे बर्फ पर लेटे हो।’ उन्होंने मुस्कराते हुए कहा।

बर्फ पर? मुझे लगा, मैं किसी दस साल पुराने सपने से बाहर निकल आया हूँ, कोठरी में हल्की पीली-सी रोशनी फैली थी, डूबने से पहले सूरज बाहर निकल आया था, एक पीली-सी चमक पहाड़ों पर उतर आई थी।

वे मेरे पास झुक आए, बहुत कोमल स्वर में कहा, ‘थोड़ा आराम कर लो, अभी चाय बना लाता हूँ।’

मैंने उन्हें देखा-वही शांत चेहरा और छोटी-सी मुस्कराहट-जैसे वे भी अभी-अभी बर्फ की सिल से उठ कर बाहर आए हों, बाहर उजाले में, जहाँ उनकी दुनिया मेरे अतीत से मिल गई थी, शाम की उस घड़ी में मेरा उन्हें देखना और उनका चुप रहना एक तरह की तैयारी थी, जहाँ पिछले वर्षों का गूँगा रेगिस्तान एक क्षण में नाप लिया जाता है।.. शायद इसीलिए उन्होंने मुझे बुलाया था।.. वे शायद अंतिम बार मुझसे-घर से-छुटकारा पा लेना चाहते थे।

मैं धीरे से उठा, उनका कंबल तहा कर कोने में रख दिया। फिर देहरी पर आया, अपने जूते पहने और थैला उठा कर उन्हें देखा, वे अब भी लालटेन ले कर खड़े थे, हालाँकि अब उजाले में उसकी कोई जरूरत नहीं थी।

‘मैं चलूँगा-बस जाती होगी।’

वे चुप खड़े रहे। फिर धीरे से कहा, ‘ठहरो, अभी आता हूँ।’

वे नीचे कमरे में गए। जब ऊपर आए तो उनके हाथ में लालटेन नहीं थी।

‘तुम इसे फिर भूल गए,’ उन्होंने मेरा ब्रीफकेस मुझे लौटाते हुए कहा, ‘पत्र मैंने रख लिए हैं और...’ वे एक क्षण रुके, फिर धीमे से कहा, ‘तुम देख लेना, कागजों पर दस्तखत मैंने कर दिए हैं।’

मैंने उन्हें देखा, वे थोड़ा-सा मुड़ गए थे, बाहर पेड़ों से छनती धूप उनके पैरों पर गिर रही थी। मैं भी झुक गया, कुछ देर झुका रहा... और मुझे लगा, जैसे कोई मेरे सिर को सहला रहा है, एक गर्म तपती-सी छुअन जो धीरे-धीरे मेरी देह को ताप रही थी...

सिर उठाया, तो कोठरी में कोई नहीं था, रोशनदान से बांज के पेड़ की छाया नीचे दुरक आई थी और जहाँ वे खड़े थे, वहाँ धूप का एक चकत्ता चुपचाप सरक आया था। मेरी यात्रा का अंत शायद ऐसे ही होना था।

मैंने ब्रीफकेस उठाया और बाहर चला आया।

उसके बाद कुछ नहीं है, मैं पेड़ों के बीच धूप में धुली पगडंडी उतरने लगा—वह कितना नीचे उतरती थी। दिल्ली शहर और दोस्त, अखबार का दफ्तर, गर्मी की सनसनाती लू-भरी दोपहरें और मेरी सच्ची-झूठी कहानियाँ... मैं धीरे-धीरे उस ऊँचाई को भूल गया, जहाँ, उनसे, मास्टर जी से, अघोरी बाबा से मिला था.. वे दोनों ही मुझे बस-अड्डे पर छोड़ने आए थे, उनके चेहरे समय के साथ धुँधले पड़ गए हैं, लेकिन कभी-कभी अकेले क्षणों में सहसा मास्टर जी का प्रश्न उमग आता है। बस की खिड़की से सट कर उन्होंने असीम जिज्ञासा से पूछा था, 'आप जो मनोकामना ले कर उनके पास गए थे, वह क्या पूरी हो गई?' इससे पहले मैं कोई उत्तर सोच पाता, बस चल पड़ी, मास्टर जी कुछ दूर बस के साथ-साथ भागते आए, लेकिन अघोरी बाबा मुझसे उदासीन ऊपर देख रहे थे... पेड़ों के ऊपर हवा में फड़फड़ाता हुआ एक काला बवंडर उठ रहा था, हजारों कव्वे जंगल पर चक्कर काटते हुए मंदिर की तरफ उड़ रहे थे।

3

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी'

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' (1883-12 सितम्बर 1922) हिन्दी के कथाकार, व्यंगकार तथा निबन्धकार थे।

जीवनी

मूलतः हिमाचल प्रदेश के गुलेर गाँव के वासी ज्योतिर्विद महामहोपाध्याय पंडित शिवराम शास्त्री राजसम्मान पाकर जयपुर (राजस्थान) में बस गए थे। उनकी तीसरी पत्नी लक्ष्मीदेवी ने सन् 1883 में चन्द्रधर को जन्म दिया। घर में बालक को संस्कृत भाषा, वेद, पुराण आदि के अध्ययन, पूजा-पाठ, संध्या-वन्दन तथा धार्मिक कर्मकाण्ड का वातावरण मिला और मेधावी चन्द्रधर ने इन सभी संस्कारों और विद्याओं को आत्मसात् किया। आगे चलकर उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा भी प्राप्त की और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होते रहे। कलकत्ता विश्वविद्यालय से एम. ए. (प्रथम श्रेणी में द्वितीय और प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए. (प्रथम श्रेणी में प्रथम) करने के बाद चाहते हुए भी वे आगे की पढ़ाई परिस्थितिवश जारी न रख पाए हालाँकि उनके स्वाध्याय और लेखन का क्रम अबाध रूप से चलता रहा। बीस वर्ष की उम्र के पहले ही उन्हें जयपुर की वेधशाला के जीर्णोद्धार तथा उससे सम्बन्धित शोधकार्य के लिए गठित मण्डल में चुन लिया गया था और कैप्टन गैरेट के साथ मिलकर उन्होंने 'द जयपुर ऑब्जरवेटरी एण्ड इट्स बिल्डर्स' शीर्षक अंग्रेजी ग्रन्थ की रचना की।

अपने अध्ययन काल में ही उन्होंने सन् 1900 में जयपुर में नागरी मंच की स्थापना में योग दिया और सन् 1902 से मासिक पत्र 'समालोचक' के सम्पादन का भार भी सँभाला। प्रसंगवश कुछ वर्ष काशी की नागरी प्रचारिणी सभा के सम्पादक मंडल में भी उन्हें सम्मिलित किया गया। उन्होंने देवी प्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला और सूर्य कुमारी पुस्तकमाला का सम्पादन किया और नागरी प्रचारिणी पुस्तकमाला का भी सम्पादन किया और नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति भी रहे।

जयपुर के राजपण्डित के कुल में जन्म लेने वाले गुलेरी जी का राजवंशों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। वे पहले खेतड़ी नरेश जयसिंह के और फिर जयपुर राज्य के सामन्त-पुत्रों के अजमेर के मेयो कॉलेज में अध्ययन के दौरान उनके अभिभावक रहे। सन् 1916 में उन्होंने मेयो कॉलेज में ही संस्कृत विभाग के अध्यक्ष का पद सँभाला। सन् 1920 में पं. मदन मोहन मालवीय के प्रबंध आग्रह के कारण उन्होंने बनारस आकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या विभाग के प्राचार्य और फिर 1922 में प्राचीन इतिहास और धर्म से सम्बद्ध मनीन्द्र चन्द्र नन्दी पीठ के प्रोफेसर का कार्यभार भी ग्रहण किया।

इस बीच परिवार में अनेक दुखद घटनाओं के आघात भी उन्हें झेलने पड़े। सन् 1922 में 12 सितम्बर को पीलिया के बाद तेज ज्वर से मात्र 39 वर्ष की अल्पायु में उनका देहावसान हो गया।

कार्य

इस थोड़ी-सी आयु में ही गुलेरी जी ने अध्ययन और स्वाध्याय के द्वारा हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त संस्कृत प्राकृत बांग्ला मराठी आदि का ही नहीं जर्मन तथा फ्रेंच भाषाओं का ज्ञान भी हासिल किया था। उनकी रुचि का क्षेत्र भी बहुत विस्तृत था और धर्म, ज्योतिष इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन भाषाविज्ञान शिक्षाशास्त्र और साहित्य से लेकर संगीत, चित्रकला, लोककला, विज्ञान और राजनीति तथा समसामयिक सामाजिक स्थिति तथा रीति-नीति तक फैला हुआ था। उनकी अभिरुचि और सोच को गढ़ने में स्पष्ट ही इस विस्तृत पटभूमि का प्रमुख हाथ था और इसका परिचय उनके लेखन की विषयवस्तु और उनके दृष्टिकोण में बराबर मिलता रहता है।

पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के साथ एक बहुत बड़ी विडम्बना यह है कि उनके अध्ययन, ज्ञान और रुचि का क्षेत्र हालाँकि बेहद विस्तृत था और उनकी

प्रतिभा का प्रसार भी अनेक कृतियों, कृतिरूपों और विधाओं में हुआ था, किन्तु आम हिन्दी पाठक ही नहीं, विद्वानों का एक बड़ा वर्ग भी उन्हें अमर कहानी 'उसने कहा था' के रचनाकार के रूप में ही पहचानता है। इस कहानी की प्रखर चौध ने उनके बाकी वैविध्य भरे सशक्त कृति संसार को मानो ग्रस लिया है। उनके प्रबल प्रशंसक और प्रखर आलोचक भी अमूमन इसी कहानी को लेकर उलझते रहे हैं। प्राचीन साहित्य, संस्कृति, हिन्दी भाषा समकालीन समाज, राजनीति आदि विषयों से जुड़ी इनकी विद्वता का जिक्र यदा-कदा होता रहता है, पर 'कछुआ धरम' और 'मारेसि मोहि कुठाऊँ' जैसे एक दो निबन्धों और पुरानी हिन्दी जैसी लेखमाला के उल्लेख को छोड़कर उस विद्वता की बानगी आम पाठक तक शायद ही पहुँची हो। व्यापक हिन्दी समाज उनकी प्रकाण्ड विद्वता और सर्जनात्मक प्रतिभा से लगभग अनजान है।

अपने 39 वर्ष के संक्षिप्त जीवनकाल में गुलेरी जी ने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना तो नहीं किन्तु फुटकर रूप में बहुत लिखा, अनगिनत विषयों पर लिखा और अनेक विधाओं की विशेषताओं और रूपों को समेटते-समर्जित करते हुए लिखा। उनके लेखन का एक बड़ा हिस्सा जहाँ विशुद्ध अकादमिक अथवा शोधपरक है, उनकी शास्त्रज्ञता तथा पाण्डित्य का परिचायक है, वहीं, उससे भी बड़ा हिस्सा उनके खुले दिमाग, मानवतावादी दृष्टि और समकालीन समाज, धर्म राजनीति आदि से गहन सरोकार का परिचय देता है। लोक से यह सरोकार उनकी 'पुरानी हिन्दी' जैसी अकादमिक और 'महर्षि च्यवन का रामायण' जैसी शोधपरक रचनाओं तक में दिखाई देता है। इन बातों के अतिरिक्त गुलेरी जी के विचारों की आधुनिकता भी हमसे आज उनके पुराविष्कार की माँग करती है।

मात्र 39 वर्ष की जीवन-अवधि को देखते हुए गुलेरी जी के लेखन का परिमाण और उनकी विषय-वस्तु तथा विधाओं का वैविध्य सचमुच विस्मयकर है। उनकी रचनाओं में कहानियाँ कथाएँ, आख्यान, ललित निबन्ध, गम्भीर विषयों पर विवेचनात्मक निबन्ध, शोधपत्र, समीक्षाएँ, सम्पादकीय टिप्पणियाँ, पत्र विधा में लिखी टिप्पणियाँ, समकालीन साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म, विज्ञान, कला आदि पर लेख तथा वक्तव्य, वैदिक/पौराणिक साहित्य, पुरातत्त्व, भाषा आदि पर प्रबन्ध, लेख तथा टिप्पणियाँ-सभी शामिल हैं।

विषय-वस्तु की व्यापकता की दृष्टि से गुलेरी जी का लेखन धर्म पुरातत्त्व, इतिहास और भाषाशास्त्र जैसे गम्भीर विषयों से लेकर काशी की नींद जैसे हलके-फूलके विषयों तक को समान भाव से समेटता है। विषयों का इतना

वैविध्य लेखक के अध्ययन, अभिरुचि और ज्ञान के विस्तार की गवाही देता है, तो हर विषय पर इतनी गहराई से समकालीन परिप्रेक्ष्य में विचार अपने समय और नए विचारों के प्रति उसकी सजगता को रेखांकित करता है। राज ज्योतिषी के परिवार में जन्मे, हिन्दू धर्म के तमाम कर्मकाण्डों में विधिवत् दीक्षित, त्रिपुण्डधारी निष्ठावान ब्राह्मण की छवि से यह रूढ़िभंजक यथार्थ शायद मेल नहीं खाता, मगर उस सामाजिक-राजनीतिक-साहित्यिक उत्तेजना के काल में उनका प्रतिगामी रूढ़ियों के खिलाफ आवाज उठाना स्वाभाविक ही था। यह याद रखना जरूरी है कि वे रूढ़ियों के विरोध के नाम पर केवल आँख मूँदकर तलवार नहीं भाँजते। खण्डन के साथ ही वे उचित और उपयुक्त का मंडन भी करते हैं। किन्तु धर्म, समाज, राजनीति और साहित्य में उन्हें जहाँ कहीं भी पाखण्ड या अनौचित्य नजर आता है, उस पर वे जमकर प्रहार करते हैं। इस क्रम में उनकी वैचारिक पारदर्शिता, गहराई और दूरदर्शिता इसी बात से सिद्ध है कि उनके उठाए हुए अधिकतर मुद्दे और उनकी आलोचना आज भी प्रासंगिक हैं।

उनके लेखन की रोचकता उसकी प्रासंगिकता के अतिरिक्त उसकी प्रस्तुति की अनोखी भंगिमा में भी निहित है। उस युग के कई अन्य निबन्धकारों की तरह गुलेरी जी के लेखन में भी मस्ती तथा विनोद भाव एक अन्तर्धारा लगातार प्रवाहित होती रहती है। धर्मसिद्धान्त, अध्यात्म आदि जैसे कुछ एक गम्भीर विषयों को छोड़कर लगभग हर विषय के लेखन में यह विनोद भाव प्रसंगों के चुनाव में भाषा के मुहावरों में उद्धरणों और उक्तियों में बराबर झंकृत रहता है। जहाँ आलोचना कुछ अधिक भेदक होती है, वहाँ यह विनोद व्यंग्य में बदल जाता है—जैसे शिक्षा, सामाजिक, रूढ़ियों तथा राजनीति सम्बन्धी लेखों में इससे गुलेरी जी की रचनाएँ कभी गुदगुदाकर, कभी झकझोरकर पाठक की रुचि को बाँधे रहती हैं।

भाषा-शैली

गुलेरी जी की शैली मुख्यतः वार्तालाप की शैली है, जहाँ वे किस्साबयानी के लहजे में मानो सीधे पाठक से मुखातिब होते हैं। यह साहित्यिक भाषा के रूप में खड़ी बोली को सँबरने का काल था। अतः शब्दावली और प्रयोगों के स्तर पर सामरस्य और परिमार्जन की कहीं-कहीं कमी भी नजर आती है। कहीं वे 'पृश्नि', 'क्लृप्ति' और 'आग्मीन्न' जैसे अप्रचलित संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते हैं तो कहीं 'बेर', 'बिछोड़ा' और 'पेंड' जैसे ठेठ लोकभाषा के शब्दों का। अंग्रेजी

अरबी-फारसी आदि के शब्द ही नहीं पूरे-के-पूरे मुहावरे भी उनके लेखन में तत्सम या अनूदित रूप में चले आते हैं। पर भाषा के इस मिले-जुले रूप और बातचीत के लहजे से उनके लेखन में एक अनौपचारिकता और आत्मीयता भी आ गई है। हाँ गुलेरी जी अपने लेखन में उद्धरण और उदाहरण बहुत देते हैं। इन उद्धरणों और उदाहरणों से आमतौर पर उनका कथ्य और अधिक स्पष्ट तथा रोचक हो उठता है पर कई जगह यह पाठक से उदाहरण की पृष्ठभूमि और प्रसंग के ज्ञान की माँग भी करता है आम पाठक से प्राचीन भारतीय वांगमय, पश्चिमी साहित्य, इतिहास आदि के इतने ज्ञान की अपेक्षा करना ही गलत है। इसलिए यह अतिरिक्त 'प्रसंगगर्भत्व' उनके लेखन के सहज रसास्वाद में कहीं-कहीं अवश्य ही बाधक होता है।

बहरहाल गुलेरी जी की अभिव्यक्ति में कहीं भी जो भी कमियाँ रही हों, हिन्दी भाषा और शब्दावली के विकास में उनके सकारात्मक योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे खड़ी बोली का प्रयोग अनेक विषयों और अनेक प्रसंगों में कर रहे थे-शायद किसी भी अन्य समकालीन विद्वान से कहीं बढ़कर। साहित्य पुराण-प्रसंग इतिहास, विज्ञान, भाषाविज्ञान, पुरातत्त्व, धर्म, दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र आदि अनेक विषयों की वाहक उनकी भाषा स्वाभाविक रूप से ही अनेक प्रयुक्तियों और शैलियों के लिए गुंजाइश बना रही थी। वह विभिन्न विषयों को अभिव्यक्त करने में हिन्दी की सक्षमता का जीवन्त प्रमाण है। हर सन्दर्भ में उनकी भाषा आत्मीय तथा सजीव रहती है, भले ही कहीं-कहीं वह अधिक जटिल या अधिक हलकी क्यों न हो जाती हो। गुलेरी जी की भाषा और शैली उनके विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र नहीं थी। वह युग-सन्धि पर खड़े एक विवेकी मानस का और उस युग की मानसिकता का भी प्रामाणिक दस्तावेज है। इसी ओर इंगित करते हुए प्रो. नामवर सिंह का भी कहना है, "गुलेरी जी हिन्दी में सिर्फ एक नया गद्य या नयी शैली नहीं गढ़ रहे थे बल्कि वे वस्तुतः एक नयी चेतना का निर्माण कर रहे थे और यह नया गद्य नयी चेतना का सर्जनात्मक साधन है।"

आज के युग में गुलेरी जी की प्रासंगिकता

अपने और आधुनिकता' समकालीन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक स्थितियों से उनके गम्भीर जुड़ाव और इनसे सम्बद्ध उनके चिन्तन तथा प्रतिक्रियाओं में स्पष्ट होती है। उनका सरोकार अपने समय के केवल भाषिक

और साहित्यिक आन्दोलनों से ही नहीं, उस युग के जीवन के हर पक्ष से था। किसी भी प्रसंग में जो स्थिति उनके मानस को आकर्षित या उत्तेजित करती थी, उस पर टिप्पणी किए बगैर वे रह नहीं पाते थे। ये टिप्पणियाँ उनके सरोकारों, कुशाग्रता और नजरिये के खुलेपन की गवाही देती हैं। अनेक प्रसंगों में गुलेरी जी अपने समय से इतना आगे थे कि उनकी टिप्पणियाँ आज भी हमें अपने चारों ओर देखने और सोचने को मजबूर करती हैं।

‘खेलोगे कूदोगे होंगे खराब’ की मान्यता वाले युग में गुलेरी जी खेल को शिक्षा का सशक्त माध्यम मानते थे। बाल-विवाह के विरोध और स्त्री-शिक्षा के समर्थन के साथ ही आज से सौ साल पहले उन्होंने बालक-बालिकाओं के स्वस्थ चारित्रिक विकास के लिए सहशिक्षा को आवश्यक माना था। ये सब आज हम शहरी जनों को इतिहास के रोचक प्रसंग लग सकते हैं, किन्तु पूरे देश के सन्दर्भ में, यहाँ फ़ैले अशिक्षा और अन्धविश्वास के माहौल में गुलेरी जी की बातें आज भी संगत और विचारणीय हैं। भारतवासियों की कमजोरियाँ का वे लगातार जिक्र करते रहते हैं—विशेषकर सामाजिक राजनीतिक सन्दर्भों में। हमारे अधःपतन का एक कारण आपसी फूट है—“यह महाद्वीप एक दूसरे को काटने को दौड़ती हुई बिल्लियों का पिटारा है” (डिनामिनेशन कॉलेज: 1904) जाति-व्यवस्था भी हमारी बहुत बड़ी कमजोरी है। गुलेरी जी सबसे मन की संकीर्णता त्यागकर उस भव्य कर्मक्षेत्र में आने का आह्वान करते हैं, जहाँ सामाजिक जाति भेद नहीं, मानसिक जाति भेद नहीं और जहाँ जाति भेद है तो कार्य व्यवस्था के हित (वर्ण विषयक कतिपय विचार: 1920)। छुआछूत को वे सनातन धर्म के विरुद्ध मानते हैं। अर्थहीन कर्मकाण्डों और ज्योतिष से जुड़े अन्धविश्वासों का वे जगह-जगह जोरदार खण्डन करते हैं।

केवल शास्त्रमूलक धर्म को वे बाह्यधर्म मानते हैं और धर्म को कर्मकाण्ड से न जोड़कर इतिहास और समाजशास्त्र से जोड़ते हैं। धर्म का अर्थ उनके लिए “सार्वजनिक प्रीतिभाव है” “जो साम्प्रदायिक ईर्ष्या-द्वेष को बुरा मानता है” (श्री भारतवर्ष महामण्डल रहस्य: 1906)। उनके अनुसार उदारता सौहार्द और मानवतावाद ही धर्म के प्राणतत्त्व होते हैं और इस तथ्य की पहचान बेहद जरूरी है—“आजकल वह उदार धर्म चाहिए जो हिन्दू, सिक्ख, जैन, पारसी, मुसलमान, कृस्तान सबको एक भाव से चलावै और इनमें बिरादरी का भाव पैदा करे, किन्तु संकीर्ण धर्मशिक्षा...(आदि) हमारी बीच की खाई को और भी चौड़ी बनाएँगे।”

(डिनामिनेशनल कॉलेज: 1904)। धर्म को गुलेरी जी बराबर कर्मकाण्ड नहीं बल्कि आचार-विचार, लोक-कल्याण और जन-सेवा से जोड़ते रहे।

पाठशाला

चंद्रधर शर्मा गुलेरी

एक पाठशाला का वार्षिकोत्सव था। मैं भी वहाँ बुलाया गया था। वहाँ के प्रधान अध्यापक का एकमात्र पुत्र, जिसकी अवस्था आठ वर्ष की थी, बड़े लाड़ से नुमाइश में मिस्टर हादी के कोल्हू की तरह दिखाया जा रहा था। उसका मुँह पीला था, आँखें सफेद थीं, दृष्टि भूमि से उठती नहीं थी। प्रश्न पूछे जा रहे थे। उनका वह उत्तर दे रहा था। धर्म के दस लक्षण सुना गया, नौ रसों के उदाहरण दे गया। पानी के चार डिग्री के नीचे शीतलता में फँस जाने के कारण और उससे मछलियों की प्राण-रक्षा को समझा गया, चंद्रग्रहण का वैज्ञानिक समाधान दे गया, अभाव को पदार्थ मानने, न मानने का शास्त्रार्थ कर गया और इंग्लैंड के राजा आठवें हेनरी की स्त्रियों के नाम और पेशवाओं का कुर्सीनामा सुना गया।

यह पूछा गया कि तू क्या करेगा? बालक ने सिखा-सिखाया उत्तर दिया कि मैं यावज्जन्म लोकसेवा करूँगा। सभा श्वाह वाह' करती सुन रही थी, पिता का हृदय उल्लास से भर रहा था।

एक वृद्ध महाशय ने उसके सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया और कहा कि जो तू इनाम माँगे, वही दें। बालक कुछ सोचने लगा। पिता और अध्यापक इस चिंता में लगे कि देखें, यह पढ़ाई का पुतला कौन-सी पुस्तक माँगता है।

बालक के मुख पर विलक्षण रंगों का परिवर्तन हो रहा था, हृदय में कृत्रिम और स्वाभाविक भावों की लड़ाई की झलक आँखों में दीख रही थी। कुछ खाँसकर, गला साफ कर नकली परदे के हट जाने से स्वयं विस्मित होकर बालक ने धीरे से कहा, 'लड्डू।'

पिता और अध्यापक निराश हो गए। इतने समय तक मेरी साँस घुट रही थी। अब मैंने सुख की साँस भरी। उन सब ने बालक की प्रवृत्तियों का गला घोटने में कुछ उठा नहीं रखा था, पर बालक बच गया। उसके बचने की आशा है, क्योंकि वह 'लड्डू' की पुकार जीवित वृक्ष के हरे पत्तों का मधुर मर्मर था, मरे काठ की आलमारी की सिर दुखाने वाली खड़खड़ाहट नहीं।

उसने कहा था

चंद्रधर शर्मा गुलेरी

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बंबूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ चाबुक से धुनते हुए, इक्के वाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट-संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चींथ कर अपने-ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग चक्करदार गलियों में, हर-एक दिल्लीवाले के लिए ठहर कर सब्र का समुद्र उमड़ा कर बचो खालसा जी। हटो भाई जी। ठहरना भाई। आने दो लाला जी। हटो बाछा, कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती नहीं, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी बचनावली के ये नमूने हैं—हट जा जीणे जोगिए, हट जा करमाँवालिए, हट जा पुताँ प्यारिए, बच जा लंबी वालिए। समष्टि में इनके अर्थ हैं, कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यो वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिए के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेसी से गुथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

‘तेरे घर कहाँ हैं?’

‘मगरे में और तेरे?’

‘माँझे में, यहाँ कहाँ रहती है?’

‘अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।’

‘मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बजार में है।’

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा ले कर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जा कर लड़के ने मुस्करा कर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ा कर धत् कह कर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, तेरी कुड़माई हो गई? और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध बोली- 'हाँ हो गई।'

'कब?'

'कल, देखते नहीं, यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उँड़ेल दिया। सामने नहा कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकरा कर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

2

'राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाना से दस गुना जाड़ा और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। जमीन कहीं दिखती नहीं, -घंटे-दो-घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।'

'लहनासिंह और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिए। परसों रिलीफ आ जाएगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट-भर खा कर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में-मखमल का-सा हरा घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।'

'चार दिन तक एक पलक नींद नहीं मिली। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ा कर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर

सात जर्मनों को अकेला मार कर न लौटूँ, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े-संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था-चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल ने हट जाने का कमान दिया, नहीं तो-'

'नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते! क्यों?' सूबेदार हजारासिंह ने मुसकरा कर कहा -'लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गए तो क्या होगा?'

'सूबेदार जी, सच है,' लहनसिंह बोला-'पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय, तो गरमी आ जाय।'

'उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बालटियाँ ले कर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदल ले।'-यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भर कर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला-'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में दे कर कहा-'अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।'

'लाड़ी होराँ को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फरंगी मेम-'

'चुप कर। यहाँवालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तंबाखू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं।'

'अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है?'

'अच्छा है।'

'जैसे मैं जानता ही न होऊँ! रात-भर तुम अपने कंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजारा करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तां पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है, मौत है और निमोनिया से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाए हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वजीरासिंह ने त्योरी चढ़ा कर कहा- 'क्या मरने-मारने की बात लगाई है? मरें जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयों, कैसे -

दिल्ली शहर तें पिशोर नुं जाँदिए,
कर लेणा लौंगां दा बपार मडिए,
कर लेणा नाडेदा सौदा अडिए -
(ओय) लाणा चटाका कदुए नुँ।
कहू बणया वे मजेदार गोरिए,
हुण लाणा चटाका कदुए नुँ।

कौन जानता था कि दादियों वाले, घरबारी सिख ऐसा लुच्चों का गीत गाएँगे, पर सारी खंदक इस गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गए, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

3

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है। बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछा कर और लहनासिंह के दो कंबल और एक बरानकोट ओढ़ कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधा भाई, क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगा कर पूछा- 'कहो कैसे हो?' पानी पी कर बोधा बोला- 'कंपकनी छूट रही है। रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।'

‘अच्छा, मेरी जरसी पहन लो!’

‘और तुम?’

‘मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है। पसीना आ रहा है।’

‘ना, मैं नहीं पहनता। चार दिन से तुम मेरे लिए-’

‘हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से बुन-बुन कर भेज रही हैं मेमें, गुरु उनका भला करें।’ यों कह कर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

‘सच कहते हो?’

‘और नहीं झूट?’ यों कह कर नाँहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता भर पहन-कर पहरें पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज आई-‘सूबेदार हजारासिंह।’

‘कौन लपटन साहब? हुक्म हुजूर!’-कह कर सूबेदार तन कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

‘देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काट कर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पंद्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़ कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीन कर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।’

‘जो हुक्म।’

चुपचाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कंबल उतार कर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझ कर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझा कर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकाल कर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ा कर कहा-‘लो तुम भी पियो।’

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपा कर बोला-‘लाओ साहब।’ हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का

मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में ही कहाँ उड़ गए और उनकी जगह कैंदियों से कटे बाल कहाँ से आ गए?' शायद साहब शराब पिए हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिंदुस्तान कब जाएँगे?'

'लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसंद नहीं?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी जिले में शिकार करने गए थे -

'हाँ, हाँ-'

'वहीं जब आप खोते पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था? बेशक पाजी कहीं का-सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थीं और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्टे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मैस में लगाएँगे।'

'हाँ पर मैंने वह विलायत भेज दिया-'

'ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे?'

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया?'

'पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ'-कह कर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन? वजीरासिंह?'

'हाँ, क्यों लहना? क्या कयामत आ गई? जरा तो आँख लगने दी होती?'

4

'होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहन कर आई है।'

'क्या?'

'लपटन साहब या तो मारे गए हैं या कैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहन कर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और

बातें की है। सौहरा साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू और मुझे पीने को सिगरेट दिया है?’

‘तो अब!’

‘अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार होरों, कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे।

सूबेदार से कहो एकदम लौट आएँ। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पता तक न खड़के। देर मत करो।’

‘हुकुम तो यह है कि यहीं-’

‘ऐसी तैसी हुकुम की! मेरा हुकुम-जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सब से बड़ा अफसर है, उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।’

‘पर यहाँ तो तुम आठ है।’

‘आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।’

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जा कर एक दियासलाई जला कर गुत्थी पर रखने -

इतने में बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बंदूक को उठा कर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब ‘ऑख! मीन गौट्ट’ कहते हुए चित्त हो गए। लहनासिंह ने तीनों गोले बीन कर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीट कर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँस कर बोला-‘क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगाएँ होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ

से सीख आए? हमारे लपटन साहब तो बिना डेम के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून के जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुर्की मौलवी मेरे गाँव आया था औरतों को बच्चे होने के ताबीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछा कर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़-पढ़ कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिंदुस्तान में आ जाएँगे तो गोहत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता कि डाकखाने से रुपया निकाल लो। सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—'

साहब की जेब में से पिस्तौल चली और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिन के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुन कर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लया—'क्या है?'

लहनासिंह ने उसे यह कह कर सुला दिया कि एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया और औरों से सब हाल कह दिया। सब बंदूकें ले कर तैयार हो गए। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्ला कर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था-वह खड़ा था और और लेते हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़ कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे-अचानक आवाज आई, 'वाह गुरुजी की फतह? वाह गुरुजी का खालसा!! और धड़ाधड़ बंदूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गए। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और-अकाल सिक्खों दी फौज आई! वाह गुरुजी दी फतह! वाह गुरुजी दा खालसा! सत श्री अकालपुरुख!!! और लड़ाई खतम हो गई। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पंद्रह के प्राण गए। सूबेदार के दाहिने कंधे में से गोली आरपार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मट्टी से पूर लिया और बाकी का साफा कस कर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव-भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ क्षयी नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसी वाणभट्ट की भाषा में 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन और कागजात पा कर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर-अंदर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जाएँगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँध कर एक गाड़ी में घायल लिटाए गए और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कह कर टाल दिया कि थोड़ा घाव है सबेरे देखा जाएगा। बोधासिंह ज्वर में बर्बा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़ कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा- 'तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगंध है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

'और तुम?'

'मेरे लिए वहाँ पहुँच कर गाड़ी भेज देना और जर्मन मुरदों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।'

'अच्छा, पर-'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो, तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा-‘तैने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?’

‘अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना और कह भी देना।’

गाड़ी के जाते लहना लेट गया। ‘वजीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।’

5

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं। समय की धुंध बिल्कुल उन पर से हट जाती है।

” ” ”

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्जीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गई? तब धत् कह कर वह भाग जाती है। एक दिन उसने जैसे ही पूछा, तो उसने कहा-‘हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू? सुनते ही लहनासिंह को दुख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?’

‘वजीरासिंह, पानी पिला दे।’

” ” ”

पचीस वर्ष बीत गए। अब लहनासिंह नं 77 रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न-मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी ले कर जमीन के मुकदमें की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार बेढे में से निकल कर आया। बोला-‘लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं, बुलाती हैं। जा मिल आ।’ लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के

घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जा कर मत्था टेकना कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

‘मुझे पहचाना?’

‘नहीं।’

‘तेरी कुड़माई हो गई-धत्-कल हो गई-देखते नहीं, रेशमी बूटोंवाला सालू -अमृतसर में -

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

‘वजीरा, पानी पिला’-‘उसने कहा था।’

”” ”” ””

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है-‘मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गए। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमक-हलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों की एक घँघरिया पल्टन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया। सूबेदारनी रोने लगी। अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन ताँगे वाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे, आप घोड़े की लातों में चले गए थे और मुझे उठा कर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे आँचल पसारती हूँ।

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

‘वजीरासिंह, पानी पिला’-‘उसने कहा था।’

”” ”” ””

लहना का सिर अपनी गोद में लिटाए वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला-‘कौन! कीरतसिंह?’

वजीरा ने कुछ समझ कर कहा-‘हाँ।’

‘भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।’ वजीरा ने वैसे ही किया।

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चचा-भतीजा दोनों यहीं बैठ कर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।' वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

''' ''' '''

कृछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा -

फ्रांस और बेल्लिजयम-68 वीं सूची-मैदान में घावों से मरा-नं 77 सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

धर्मपरायण रीछ

चंद्रधर शर्मा गुलेरी

सायंकाल हुआ ही चाहता है। जिस प्रकार पक्षी अपना आराम का समय आया देख अपने-अपने खेतों का सहारा ले रहे हैं उसी प्रकार हिंस्र 'वापद भी अपनी अव्याहत गति समझ कर कंदराओं से निकलने लगे हैं। भगवान सूर्य प्रकृति को अपना मुख फिर एक बार दिखा कर निद्रा के लिए करवट लेने वाले ही थे, कि सारी अरण्यानी 'मारा' है, बचाओ, मारा है' की कातर ध्वनि से पूर्ण हो गई। मालूम हुआ कि एक व्याध हाँफता हुआ सरपट दौड़ रहा और प्रायः दो सौ गज की दूरी पर एक भीषण सिंह लाल आँखें, सीधी पूँछ और खड़ी जटा दिखाता हुआ तीर की तरह पीछे आ रहा है। व्याध की ढीली धोती प्रायः गिर गई है, धनुष-बाण बड़ी सफाई के साथ हाथ से च्युत हो गए हैं, नंगे सिर बिचारा शीघ्रता ही को परमेश्वर समझता हुआ दौड़ रहा है। उसी का यह कातर स्वर था।

यह अरण्य भगवती जहूतनया और पूजनीया कलिंदनंदनी के पवित्र संगम के समीप विद्यमान है। अभी तक यहाँ उन स्वार्थी मनुष्य रूपी निशाचरों का प्रवेश नहीं हुआ था जो अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए आवश्यक से चौगुना-पँचगुना पा कर भी झगड़ा करते हैं, परंतु वे पशु यहाँ निवास करते थे जो शांतिपूर्वक समस्त अरण्य को बाँट कर अपना-अपना भाग्य आजमाते हुए न केवल धर्मध्वजी पुरुषों की तरह शिश्नोदर परायण ही थे, प्रत्युत अपने परमात्मा का स्मरण करके अपनी निकृष्ट योनि को उन्नत भी कर रहे थे। व्याध, अपने स्वभाव के अनुसार, यहाँ भी उपद्रव मचाने आया था। उसने बंग देश में रोहू और झिलसा मछलियों और 'हासेर डिम' को निर्वश कर दिया था, बंबई के केकड़े और कछुओं को

वह आत्मसात कर चुका था और क्या कहें मथुरा, बृंदावन के पवित्र तीर्थों तक में वह वकवृत्ति और विडालव्रत दिखा चुका था। यहाँ पर सिंह के कोपन बदनामि में उसके प्रायश्चित्तों का होम होना ही चाहता है। भागने में निपुण होने पर भी मोटी तोंद उसे बहुत कुछ बाधा दे रही है। सिंह में और उसमें अब प्रायः बीस ही तीस गज का अंतर रह गया और उसे पीठ पर सिंह का उष्ण निःश्वास मालूम-सा देने लगा। इस कठिन समस्या में उसे सामने एक बड़ा भारी पेड़ दीख पड़ा। अपचीयमान शक्ति पर अंतिम कोड़ा मार कर वह उस वृक्ष पर चढ़ने लगा और पचासों पक्षी उसकी परिचित डरावनी मूर्ति को पहचान कर अमंगल समझ कर त्राहि-त्राहि स्वर के साथ भागने लगे। ऊपर एक बड़ी प्रबल शाखा पर विराजमान एक भल्लूक को देख कर व्याध के रहे-सहे होंश पैतरा हो गए। नीचे मंत्र-बल से कीलित सर्प की भाँति जला-भुना सिंह और ऊपर अज्ञात कुलशील रीछ। यों कढ़ाई से चूल्हे में अपना पड़ना समझ कर वह किर्कतव्यविमूढ़ व्याध सहम गया, बेहोश-सा हो कर टिक गया, 'न ययौ न तस्थो' हो गया। इतने में ही किसी ने स्निग्ध गंभीर निर्घोष मधुर स्वर में कहा- 'अभयं शरणागतस्य! अतिथि देव! ऊपर चले जाइए, पापी व्याध, सदा छल-छिद्र के कीचड़ में पला हुआ, इस अमृत अभय वाणी को न समझ कर वहीं रुका रहा। फिर उसी स्वर ने कहा- 'चले आइए महाराज! चले आइए। यह आपका घर है। आज मेरे बृहस्पति उच्च के हैं, जो यह अपवान स्थान आपकी चरनधूलि से पवित्र होता है। इस पापात्मा का आतिथ्य स्वीकार करके इसे उद्धार कीजिए। 'वैश्वदेवांतमापन्नो सो*तिथिः स्वर्ग संज्ञकः।' पधारिए-यह विष्टर लीजिए, यह पाद्य, यह अर्घ्य, यह मधुपर्क।'

पाठक! जानते हो यह मधुर स्वर किसका था? यह उस रीछ का था। वह धर्मात्मा विंध्याचल के पास से इस पवित्र तीर्थ पर अपना काल बिताने आया था। उस धर्मप्राण धर्मैकजीवन ने वंशशत्रु व्याध को हाथ पकड़ कर अपने पास बैठाया, उसके चरणों की धूलि मस्तक से लगाई और उसके लिए कोमल पत्तों का बिछौना कर दिया। विस्मित व्याध भी कुछ आश्वस्त हुआ।

नीचे से सिंह बोला- 'रीछ! यह काम तुमने ठीक नहीं किया। आज इस आततायी का काम तमाम कर लेने दो। अपना अरण्य निष्कंटक हो जाय। हम लोगों में परस्पर का शिकार न छूने का कानून है। तुम क्यों समाज-नियम तोड़ते हो? याद रखो, तुम इसे आज रख कर कल दुःख पाओगे। पछताओगे। यह दुष्ट जिस पत्तल में खाता है उसी में छिद्र करता है। इसे नीचे फेंक दो।'

रीछ बोला-‘बस, मेरे अतिथि परमात्मा की निंदा मत करो। चल दो। यह मेरा स्वर्ग है, इसके पीछे चाहे मेरे प्राण जायं, वह मेरी शरण आया है, इसे मैं नहीं छोड़ सकता। कोई किसी को धोखा या दुःख नहीं दे सकता है, जो देता है वह कर्म ही देता है। अपनी करनी सबको भोगनी ही पड़ती है।’

‘मैं फिर कहे देता हूँ, तुम पछताओगे’ यह कह कर सिंह अपना नख काटते हुए, दुम दबाए चल दिया।

2

प्रायः पहर भर रात जा चुकी है। रीछ अपने दिन भर के भूखे-प्यासे अतिथि के लिए, सूर्योद अतिथि के लिए, कंदमूल फल लेने गया है। परंतु व्याध को चैन कहाँ? दिन भर की हिंसा प्रणव प्रवृत्ति रुकी हुई हाथों में खुजली पैदा कर रही है। क्या करे? बिजली के प्रकाश में उसी वृक्ष में एक प्राचीन कोटर दिखाई दिया और उसमें तीन-चार रीछ के छोटे-छोटे बच्चे मालूम दिए। फिर क्या था? व्याध के मुँह में पानी भर आया परंतु धनुष-बाण, तलवार रास्ते में गिर पड़े हैं, यह जान कर पछतावा हुआ। अकस्मात् जब मैं हाथ डाला तो एक छोटी सी पेशकब्ज! बस, काम सिद्ध हुआ। अपने उपकारी रक्षक रीछ के बच्चों को काट कर कच्चा ही खाते उस पापात्मा व्याध को दया तो आई ही नहीं, देर भी न लगी। वह जीभ साफ करके ओठों को चाट रहा था कि मार्ग में फरकती बाई आँख के अपशकुन को ‘शांतं पापं नारायण! शांतं पापं नारायण’ कह कर टालता हुआ रीछ आ गया और चुने हुए रसपूर्ण फल व्याध के आगे रख कर सेवक के स्थान पर बैठ कर बोला-‘मेरे यहाँ थाल तो है नहीं, न पत्ते हैं, पुष्पं पत्रं फलं तोयं अतिथि नारायण की सेवा में समर्पित है।’ जब व्याध अपने दग्धोदर की पूर्ति कर चुका तो इसने भी शेषान्न खाया और कुछ प्रसाद अपने बच्चों को देने के लिए कोटर की तरफ चला।

कोटर के द्वार पर ही प्रेमपूर्वक स्वागतमय ‘दादा हो’ न सुन कर उसका माथा ठनका। भीतर जा कर उसने पैशाचिक लीला का अवशिष्ट चर्म और अस्थि देखा। परंतु उस वीतराग के मन में ‘तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः?’ वह उस गंभीर पद से आ कर लेटे हुए व्याध के पैर दबाने लग गया। इतने में व्याध के दुष्कर्म ने एक पुराने गीध का रूप धारण कर रीछ को कह दिया कि तेरी अनुपस्थिति में इस कृतन व्याध ने तेरे बच्चे खा डाले हैं। व्याध को कर्मसाक्षी में विश्वास न था, वह चौंक पड़ा। उसका मुँह पसीने से तर हो गया, उसकी जीभ तालू से चिपक गई और वह इन वाक्यों को आने वाले यम का

दूत समझ कर थर-थर काँपने लगा। बूढ़े रीछ के नेत्रों में अश्रु आ गए, परंतु वह खेद के नहीं थे, हर्ष के थे। उसने उस गृध्र को संबोधन करके कहा-‘धिव मूढ़! मेरे परम उपकारी को इन उल्टवण शब्दों से स्मरण करता है! (व्याध से) महाराज! धन्य भाग्य उन बच्चों के जो पाप में जन्मे और पाप में बढ़े, परंतु आज आपकी अशनाया निवृत्ति के पुण्य के भागी हुए! न मालूम किन नीचातिनीच कर्मों से उनने यह पशुयोनि पाई थी, न मालूम उनने इस गर्हित योनि में रह कर कितने पाप-कर्म और करने थे। धन्य मेरे भाग्य! आज वे ‘स्वर्गद्वारमुपानृतं’ में पहुँच गए। हे कुलतारण! आप कुछ भी इस बात की चिंता न कीजिए। आपने मेरे ‘सप्तावरे सप्त पूर्वे’ तरा दिए।’ जिसे मद नहीं और मोह नहीं वह रीछ व्याध का सम्वाहन करके संसार-यात्रा के अनुसार सो गया, परंतु उसने अपना निर्भीक स्थान व्याध को दे दिया था और स्वयं वह दो शाखाओं पर आलंबित था। चिकने घड़े पर जल की तरह पापात्मा व्याध पर यह धर्मीचरण और तज्जन्य शांति प्रभाव नहीं डाल सके, वह तारे गिनता जागता रहा और उसके कातर नेत्रों से निद्रा भी डर कर भाग गई। इसने में मटरगश्त करते वही सिंह आ पहुँचे और मौका देख कर व्याध से यों बोले-‘व्याध! मैं वन का राजा हूँ। मेरा फर्मान यहाँ सब पर चलता है। कल से तू यहाँ निष्कण्ट रूप से शिकार करना। परंतु मेरी आज्ञा न मानने वाले इस रीछ को नीचे फेंक दे।’ पाठक! आप जानते हैं कि व्याध ने इस यत्न पर क्या किया? रीछ के सब उपकारों को भूल कर उस आशामुग्ध ने उसको धक्का दे ही तो दिया। आयुः शेष से, पुण्यबल से, धर्म की महिमा से, उस रीछ का स्वदेशी कोट एक टहनी में अटक गया और वह जाग कर, सहारा ले कर ऊपर चढ़ आया। सिंह ने अट्टहास करके कहा -‘देखो रीछ! अपने अतिथि चक्रवर्ती का प्रसाद देखो। इस अपने स्वर्ग, अपने अमृत को देखो। मैंने तुम्हें सायंकाल क्या कहा था? अब भी उस नीच को नीचे फेंक दो।’ रीछ बोला-‘इसमें इनने क्या किया? निद्रा की असावधानता में मैं ही पैर चूक गया, नीचे गिरने लगा। तू अपना मायाजाल यहाँ न फैला। चला जा।’ रीछ उसी गंभीर निर्भीक भाव से सो गया। उसको परमेश्वर की प्रीति के स्वप्न आने लगे और व्याध को कैसे मिश्र स्वप्न आए, यह हमारे रसज्ञ पाठक जान ही लेंगे।-‘नहि कल्याणकृत कश्चिद्दुर्गति तात गच्छति।’

3

ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर रीछ ने अलग व्याध को जगाया और कहा-‘महाराज! मुझे स्नान के लिए त्रिवेणी जाना है और फिर लोकयात्रा के लिए फिरना है, मेरे

साथ चलिए, मैं आपको इस कांतार से बाहर निकलने का मार्ग बतला दूँ। परंतु आप उदास क्यों हैं? क्या आपके आतिथ्य में कोई कमी रह गई? क्या मुझसे कोई कसूर हुआ?' व्याध बात काट कर बोला- 'नहीं, मेरा ध्यान घर की तरफ गया था। मेरे पर, अन्न-वस्त्र के लिए धर्मपत्नी और बहुत से बालक निर्भर हैं। मैंने सुख से खाया और सोया, परंतु वे बेचारे क्षुत्क्षामकंठ कल के भूखे हैं उनके लिए कुछ पाथे, नहीं मिला।' रीछ ने हाथ जोड़ कर कहा- 'नाथ! आज आपकी छुरिका त्रिवेणी में यह देह स्नान करके स्वर्ग को जाना चाहता है। यदि इस दुर्मांस से माता और भाई तृप्त हों और इस जरच्चर्म से उनकी जूतियाँ बनें तो आप 'तत सदद्य' करें। धन्यभाग्य आज यह अनेक जन्मसंसिद्ध आपके वदनाग्नि में परागति को पावै।' व्याध ने बरछी उठा कर रीछ के हृदय में झोंक दी। प्रसन्नवदन रीछ ऋतुपर्ण की तरह बोला -

शिरामुखैः स्यन्दत एवं रक्तनद्यापि देहे मम मांसमस्ति।

उस उदार महामान्य के आगे कर्ण का यह वाक्य क्या चीज था -

कियदिदमधिकं में यदद्विजावार्थयित्रे,

कवचमरमणीयं कुण्ठले चार्पयामि।

अकरुणमवकृत्य द्राक्कृपाणेन तिर्यग्घ,

वहलरुधिरधारं मौलिमावेदयामि॥

4

सारा अरण्य स्वर्गीय प्रकाश और सुगंध से खिल रहा है। अनागतवाद का मधुर स्वर कानों को पवित्र कर रही है। उसी वृक्ष के सहारे एक दिव्य विमान खड़ा है और परात्पर भगवान नारायण स्वयं रीछ को अपने चरणकमल में ले जाने को आए हैं। भगवान मृत्युंजय भी अपनी चंद्रकलाओं से उस शरीर को आप्यायित कर रहे हैं। देवानाएँ उसकी सेवा करने को और इंद्रादिक उसकी चरणधूलि लेने को दौड़े आ रहे हैं। जिस समय उस बर्छी का प्रवेश उस धर्मप्राण कलेवर में हुआ, भगवान नारायण आनंद से नाचते और क्लेष से तड़पते, लक्ष्मी को ढकेल, गरुड़ को छोड़ और शेषनाग को पेल, 'नमे भक्तः प्रणश्यति' को सिद्ध करते हुए दौड़े आए और रीछ को गले लगा कर आनंदाश्रु गद्गद कंठ से बोले - 'प्रयाग में बहुत बड़े-बड़े इंद्र, वरुण, प्रजापति और भरद्वाज के यज्ञ हुए हैं, परंतु सबसे अधिक महिमापूर्ण यज्ञ यह हुआ है जिसकी पूर्णाहुति अभी हुई है। प्रिय ऋक्ष! मेरे साथ चलो और हे नराधम! तू अपने नीच कर्मों...।' ऋक्ष ने भगवान के चरण पकड़ कर कहा- 'नाथ! यदि मेरा चावल भर भी पुण्य है तो इस पुरुष-रत्न को

बैकुंठ ले जाइए। इसके कर्म का फल भोगने को मैं घोरतिघोर नरक में जाने को तैयार हूँ।' भगवान विस्मित हो कर बोले- 'यह क्या? लोक-संग्रह को उत्पन्न करते हो?' ऋक्ष हाथ जोड़ कर बोला -

पापानां वा शुभानां वा वधार्हणामथापि वा।

कार्यं करुणमार्येण न कश्चिदपराध्यति।

भक्त का आग्रह माना गया। भगवान, व्याध और ऋक्ष एक ही विमान में बैकुंठ गए।

भारतवासियो! यह तुम्हारे ही 'महाभारत' की कथा है। परंतु अब पुराणों की भक्ति कहने ही की रह गई। पुराणों को सिवाय 'वीक्ष्य रंतुं मनश्चक्रे' के और किस वासना से पढ़ता है?

4

प्रेमचंद

मुंशी प्रेमचंद ने 1898 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। B-A करने के बाद मुंशी प्रेमचंद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हो गए। मुंशी प्रेमचंद का पहला विवाह उन दिनों की परंपरा के अनुसार 15 साल की उम्र में हुआ जो सफल नहीं रहा 1926 में इन्होंने विधवा विवाह का समर्थन करते हुए बाल विधवा शिवरानी देवी से दूसरा विवाह किया। उनसे तीन संताने हुई श्रीपत राय अमृतराय और कमला देवी श्रीवास्तव 1910 में उनकी रचना सोजे वतन के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया तो जीवन की सभी प्रतियां जब्त कर नष्ट कर दी गई इस समय तक प्रेमचंद नवाब राय नाम से उर्दू में लिखते थे उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के संपादक और उनके दोस्त मुंशी दया नारायण निगम ने उन्हें प्रेमचंद नाम से लिखने की सलाह दी इसके बाद वे प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे।

मुंशी प्रेमचंद रचनाओं में सबसे पहले आते हैं उनके उपन्यास गोदान 1936 गबन 1931 सेवा सदन 1918 कर्मभूमि 1920 वरदान 1921 प्रेमाश्रम 1921 रंगभूमि 1925 निर्मला 1927 प्रतिज्ञा कायाकल्प 1926 मंगलसूत्र 1948 में लिखा था।

प्रेमचंद की कहानियां इस प्रकार से हैं पंच परमेश्वर, कफन, नमक का दरोगा, बूढ़ी काकी, नशा, परीक्षा, ईदगाह, बड़े घर की बेटी, सुजान भगत, शतरंज के खिलाड़ी, माता का हृदय, मिस पदमा, बलिदान, दो बैलो की कथा, तथा

पूस की रात, सौत कजाकी, प्रेमचंद की पहली कहानी संसार का अनमोल रत्न 1960 में जमाना पत्रिका में प्रकाशित की गयी थी।

प्रेमचंद के उपन्यास भारत और दुनिया की कई भाषाओं में अनुदित कोई खास कर उनका सर्वाधिक चर्चित उपन्यास गोदान सेवा सदन एक नारी के वेश्या बनने की कहानी है। प्रेमाश्रम किसान जीवन पर लिखा हिंदी का संभवत पहला उपन्यास है यह अवध के किसान आंदोलनों के दौर में लिखा गया रंगभूमि में प्रेमचंद एक अंधे विकारी सूरदास को कथा का नायक बनाकर हिंदी कथा साहित्य में क्रांतिकारी बदलाव का सूत्रपात कर चुके थे गोदान का हिंदी साहित्य ही नहीं विश्व साहित्य में भी महत्वपूर्ण स्थान है प्रेमचंद ने सेवा सदन 1918 उपन्यास से हिंदी उपन्यास की दुनिया में प्रवेश किया यह मूल रूप से उन्होंने बाजार ए हुस्न नाम से पहले उर्दू में लिखा इसका हिंदी रूप सेवा सदन पहले प्रकाशित कराया।

साहित्यिक विशेषताएं इनकी रचनाओं में भारत के दर्शन होते हैं मुंशी प्रेमचंद के साहित्य पर गांधीवाद का प्रभाव दिखाई देता है साहित्य को समाज का दर्पण नहीं मशाल में होना चाहिए यह बोलते थे प्रेमचंद

जीवन परिचय

प्रेमचंद का जन्म 31 जुलाई 1880 को वाराणसी के निकट लमही गाँव में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। लमही, उत्तर प्रदेश राज्य के बनारस शहर के नजदीक ही लगभग चार मिल दूर स्थित हैं। उनकी माता का नाम आनन्दी देवी था तथा पिता मुंशी अजायबराय लमही में डाकमुंशी थे। उनकी शिक्षा का आरंभ उर्दू, फारसी से हुआ और जीवनयापन का अध्यापन से। पढ़ने का शौक उन्हें बचपन से ही लग गया। 13 साल की उम्र में ही उन्होंने तिलिस्म-ए-होशरुबा पढ़ लिया और उन्होंने उर्दू के मशहूर रचनाकार रतननाथ 'शरसार', मिर्जा हादी रुस्वा और मौलाना शरर के उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया। 1898 में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे एक स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। नौकरी के साथ ही उन्होंने पढ़ाई जारी रखी। 1910 में उन्होंने अंग्रेजी, दर्शन, फारसी और इतिहास लेकर इंटर पास किया और 1919 में बी. ए. पास करने के बाद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हुए।

सात वर्ष की अवस्था में उनकी माता तथा चौदह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हो जाने के कारण उनका प्रारंभिक जीवन संघर्षमय रहा। उनका पहला

विवाह पंद्रह साल की उम्र में हुआ जो सफल नहीं रहा। वे आर्य समाज से प्रभावित रहे , जो उस समय का बहुत बड़ा धार्मिक और सामाजिक आंदोलन था। उन्होंने विधवा-विवाह का समर्थन किया और 1906 में दूसरा विवाह अपनी प्रगतिशील परंपरा के अनुरूप बाल-विधवा शिवरानी देवी से किया। उनकी तीन संताने हुईं—श्रीपत राय, अमृत राय और कमला देवी श्रीवास्तव। 1910 में उनकी रचना सोजे-वतन (राष्ट्र का विलाप) के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया और उन पर जनता को भड़काने का आरोप लगाया। सोजे-वतन की सभी प्रतियाँ जब्त कर नष्ट कर दी गईं। कलेक्टर ने नवाबराय को हिदायत दी कि अब वे कुछ भी नहीं लिखेंगे, यदि लिखा तो जेल भेज दिया जाएगा। इस समय तक प्रेमचंद, धनपत राय नाम से लिखते थे। उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के सम्पादक और उनके अजीज दोस्त मुंशी दयानारायण निगम की सलाह से वे प्रेमचंद नाम से लिखने लगे। उन्होंने आरंभिक लेखन जमाना पत्रिका में ही किया। जीवन के अंतिम दिनों में वे गंभीर रूप से बीमार पड़े। उनका उपन्यास मंगलसूत्र पूरा नहीं हो सका और लम्बी बीमारी के बाद 8 अक्टूबर 1936 को उनका निधन हो गया। उनका अंतिम उपन्यास मंगल सूत्र उनके पुत्र अमृतराय ने पूरा किया।

कार्यक्षेत्र

प्रेमचंद आधुनिक हिन्दी कहानी के पितामह और उपन्यास सम्राट माने जाते हैं। यों तो उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ 1901 से हो चुका था पर उनकी पहली हिन्दी कहानी सरस्वती पत्रिका के दिसम्बर अंक में 1915 में सौत नाम से प्रकाशित हुई और 1936 में अंतिम कहानी कफन नाम से प्रकाशित हुई। उनसे पहले हिंदी में काल्पनिक, एय्यारी और पौराणिक धार्मिक रचनाएं ही की जाती थी। प्रेमचंद ने हिंदी में यथार्थवाद की शुरुआत की। ' भारतीय साहित्य का बहुत सा विमर्श जो बाद में प्रमुखता से उभरा चाहे वह दलित साहित्य हो या नारी साहित्य उसकी जड़ें कहीं गहरे प्रेमचंद के साहित्य में दिखाई देती हैं।' प्रेमचंद के लेख 'पहली रचना' के अनुसार उनकी पहली रचना अपने मामा पर लिखा व्यंग्य थी, जो अब अनुपलब्ध है। उनका पहला उपलब्ध लेखन उनका उर्दू उपन्यास 'असरारे मआबिद' है। प्रेमचंद का दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' जिसका हिंदी रूपांतरण 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह सोजे-वतन नाम से आया जो 1908 में

प्रकाशित हुआ। देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत होने के कारण इस पर अंग्रेजी सरकार ने रोक लगा दी और इसके लेखक को भविष्य में इस तरह का लेखन न करने की चेतावनी दी। इसके कारण उन्हें नाम बदलकर लिखना पड़ा। 'प्रेमचंद' नाम से उनकी पहली कहानी बड़े घर की बेटी जमाना पत्रिका के दिसम्बर 1910 के अंक में प्रकाशित हुई। मरणोपरांत उनकी कहानियाँ मानसरोवर नाम से 8 खंडों में प्रकाशित हुईं। कथा सम्राट प्रेमचन्द का कहना था कि साहित्यकार देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई नहीं बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है। यह बात उनके साहित्य में उजागर हुई है। 1921 में उन्होंने महात्मा गांधी के आह्वान पर अपनी नौकरी छोड़ दी। कुछ महीने मर्यादा पत्रिका का संपादन भार संभाला, छह साल तक माधुरी नामक पत्रिका का संपादन किया, 1930 में बनारस से अपना मासिक पत्र हंस शुरू किया और 1932 के आरंभ में जागरण नामक एक साप्ताहिक और निकाला। उन्होंने लखनऊ में 1936 में अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन की अध्यक्षता की। उन्होंने मोहन दयाराम भवनानी की अजंता सिनेटोन कंपनी में कहानी-लेखक की नौकरी भी की। 1934 में प्रदर्शित मजदूर नामक फिल्म की कथा लिखी और कॉन्ट्रेक्ट की साल भर की अवधि पूरी किये बिना ही दो महीने का वेतन छोड़कर बनारस भाग आये। उन्होंने मूल रूप से हिंदी में 1915 से कहानियाँ लिखना और 1918 (सेवासदन) से उपन्यास लिखना शुरू किया।

=== उपन्यास === प्रेमचंद का पहला उर्दू उपन्यास (अपूर्ण) 'असरारे मआबिद उर्फ 'देवस्थान रहस्य' उर्दू साप्ताहिक "आवाज-ए-खल्क" में 8 अक्टूबर, 1903 से 1 फरवरी, 1905 तक धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ। उनका दूसरा उपन्यास 'हमखुर्मा व हमसवाब' जिसका हिंदी रूपांतरण 'प्रेमा' नाम से 1907 में प्रकाशित हुआ। चूंकि प्रेमचंद मूल रूप से उर्दू के लेखक थे और उर्दू से हिंदी में आए थे, इसलिए उनके सभी आरंभिक उपन्यास मूल रूप से उर्दू में लिखे गए और बाद में उनका हिन्दी तर्जुमा किया गया।

असरारे मआबिद उर्फ 'देवस्थान रहस्य' उर्दू साप्ताहिक "आवाज-ए-खल्क" में 8 अक्टूबर, 1903 से 1 फरवरी, 1905 तक प्रकाशित।

सेवासदन (1918)—यह मूल रूप से उन्होंने 'बाजार-हुस्न' नाम से पहले उर्दू में लिखा गया लेकिन इसका हिंदी रूप 'सेवासदन' पहले प्रकाशित हुआ। यह एक नारी के वेश्या बनने की कहानी है। डॉ. रामविलास शर्मा 'सेवासदन' की मुख्य समस्या भारतीय नारी की पराधीनता को मानते हैं।

प्रेमाश्रम (1922)—यह किसान जीवन पर उनका पहला उपन्यास है। इसका मसौदा भी पहले उर्दू में 'गोशाए-आफियत' नाम से तैयार हुआ था लेकिन इसे पहले हिंदी में प्रकाशित कराया। यह अवध के किसान आंदोलनों के दौर में लिखा गया।

रंगभूमि (1925)—इसमें प्रेमचंद एक अंधे भिखारी सूरदास को कथा का नायक बनाकर हिंदी कथा साहित्य में क्रांतिकारी बदलाव का सूत्रपात करते हैं।

निर्मला (1925)

कायाकल्प (1927)

गबन (1928)

कर्मभूमि (1932)

गोदान (1936)

मंगलसूत्र (अपूर्ण)—यह प्रेमचंद का अधूरा उपन्यास है।

कहानी

इनकी अधिकतर कहानियाँ में निम्न व मध्यम वर्ग का चित्रण है। डॉ. कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद की संपूर्ण हिंदी-उर्दू कहानी को प्रेमचंद कहानी रचनावली नाम से प्रकाशित कराया है। उनके अनुसार प्रेमचंद ने कुल 301 कहानियाँ लिखी हैं जिनमें 3 अभी अप्राप्य हैं। प्रेमचंद का पहला कहानी संग्रह सोजे वतन नाम से जून 1908 में प्रकाशित हुआ। इसी संग्रह की पहली कहानी दुनिया का सबसे अनमोल रतन को आम तौर पर उनकी पहली प्रकाशित कहानी माना जाता रहा है। डॉ. गोयनका के अनुसार कानपुर से निकलने वाली उर्दू मासिक पत्रिका जमाना के अप्रैल अंक में प्रकाशित सांसारिक प्रेम और देश-प्रेम (इश्के दुनिया और हुब्बे वतन) वास्तव में उनकी पहली प्रकाशित कहानी है। प्रेमचंद की प्रमुख कहानियाँ—

'पंच परमेश्वर',

'गुल्ली डंडा',

'दो बैलों की कथा',

'ईदगाह',

'बड़े भाई साहब',

'पूस की रात',

'ठाकुर का कुआँ',

'सद्गति',

‘बूढ़ी काकी’,
 ‘तावान’,
 ‘विध्वंस’,
 ‘दूध का दाम’,
 ‘मंत्र’
 ‘कफन’
 कहानी संग्रह-
 ‘सप्त सरोज’,
 ‘नवनिधि’,
 ‘प्रेमपूर्णिमा’,
 ‘प्रेम-पचीसी’,
 ‘प्रेम-प्रतिमा’,
 ‘प्रेम-द्वादशी’,
 ‘समरयात्रा’,

‘मानसरोवर’: भाग एक व दो और ‘कफन’। उनकी मृत्यु के बाद उनकी कहानियाँ ‘मानसरोवर’ शीर्षक से 8 भागों में प्रकाशित हुईं।

प्रेमचंद जी की लोकप्रिय कहानियाँ

नाटक

संग्राम (1923),

कर्बला (1924)

प्रेम की वेदी (1933)

ये नाटक शिल्प और संवेदना के स्तर पर अच्छे हैं, लेकिन उनकी कहानियों और उपन्यासों ने इतनी ऊँचाई प्राप्त कर ली थी कि नाटक के क्षेत्र में प्रेमचंद को कोई खास सफलता नहीं मिली। ये नाटक वस्तुतः संवादात्मक उपन्यास ही बन गए हैं।

लेख/निबंध

अमृतराय द्वारा संपादित ‘प्रेमचंद: विविध प्रसंग’ (तीन भाग) वास्तव में प्रेमचंद के लेखों का ही संकलन है। प्रेमचंद के लेख प्रकाशन संस्थान से ‘कुछ विचार’ शीर्षक से भी छपे हैं। उनके प्रसिद्ध लेख हैं-

साहित्य का उद्देश्य,

पुराना जमाना नया जमाना,

स्वराज के फायदे,
 कहानी कला (1,2,3),
 कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार,
 हिंदी-उर्दू की एकता,
 महाजनी सभ्यता,
 उपन्यास,
 जीवन में साहित्य का स्थान।
 अनुवाद

प्रेमचंद एक सफल अनुवादक भी थे। उन्होंने दूसरी भाषाओं के जिन लेखकों को पढ़ा और जिनसे प्रभावित हुए, उनकी कृतियों का अनुवाद भी किया। 'टॉलस्टॉय की कहानियाँ' (1923), गाल्सवर्दी के तीन नाटकों का हड़ताल (1930), चाँदी की डिब्बिया (1931) और न्याय (1931) नाम से अनुवाद किया। उनके द्वारा रतननाथ सरशार के उर्दू उपन्यास फसान-ए-आजाद का हिंदी अनुवाद आजाद कथा बहुत मशहूर हुआ।

जीवनी

प्रेमचंद की पत्नी शिवरानी देवी ने प्रेमचंद घर लिखी और उनके व्यक्तित्व के उस हिस्से को उजागर किया है, जिससे लोग अनभिज्ञ थे। यह पुस्तक 1944 में पहली बार प्रकाशित हुई थी, लेकिन साहित्य के क्षेत्र में इसके महत्व का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इसे दुबारा 2005 में संशोधित करके प्रकाशित की गई, इस काम को उनके ही नाती प्रबोध कुमार ने अंजाम दिया। इसका अंग्रेजी व हसन मंजर का किया हुआ उर्दू अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। उनके ही बेटे अमृत राय ने कलम का सिपाही नाम से पिता की जीवनी लिखी है।

विविध

प्रेमचंद की रचनाएँ

बाल साहित्य: रामकथा, कुत्ते की कहानी

विचार: प्रेमचंद: विविध प्रसंग, प्रेमचंद के विचार (तीन खंडों में)

संपादन: मर्यादा, माधुरी, हंस, जागरण

समालोचना

प्रेमचंद के साहित्य की विशेषताएँ

प्रेमचन्द उर्दू का संस्कार लेकर हिन्दी में आए थे और हिन्दी के महान लेखक बने। हिन्दी को अपना खास मुहावरा और खुलापन दिया। कहानी और

उपन्यास दोनो में युगान्तरकारी परिवर्तन किए। उन्होने साहित्य में सामयिकता प्रबल आग्रह स्थापित किया। आम आदमी को उन्होंने अपनी रचनाओं का विषय बनाया और उसकी समस्याओं पर खुलकर कलम चलाते हुए उन्हें साहित्य के नायकों के पद पर आसीन किया। प्रेमचंद से पहले हिंदी साहित्य राजा-रानी के किस्सों, रहस्य-रोमांच में उलझा हुआ था। प्रेमचंद ने साहित्य को सच्चाई के धरातल पर उतारा। उन्होंने जीवन और कालखंड की सच्चाई को पन्ने पर उतारा। वे सांप्रदायिकता, भ्रष्टाचार, जमींदारी, कर्जखोरी, गरीबी, उपनिवेशवाद पर आजीवन लिखते रहे। प्रेमचंद की ज्यादातर रचनाएँ उनकी ही गरीबी और दैन्यता की कहानी कहती हैं। ये भी गलत नहीं है कि वे आम भारतीय के रचनाकार थे। उनकी रचनाओं में वे नायक हुए, जिसे भारतीय समाज अछूत और घृणित समझा था। उन्होंने सरल, सहज और आम बोल-चाल की भाषा का उपयोग किया और अपने प्रगतिशील विचारों को दृढ़ता से तर्क देते हुए समाज के सामने प्रस्तुत किया। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए उन्होंने कहा कि लेखक स्वभाव से प्रगतिशील होता है और जो ऐसा नहीं है वह लेखक नहीं है। प्रेमचंद हिन्दी साहित्य के युग प्रवर्तक हैं। उन्होंने हिन्दी कहानी में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की एक नई परंपरी शुरू की।

प्रेमचंद के जीवन संबंधी विवाद

इतने महान रचनाकार होने के बावजूद प्रेमचंद का जीवन आरोपों से मुक्त नहीं है। प्रेमचंद के अध्येता कमलकिशोर गोयनका ने अपनी पुस्तक 'प्रेमचंद: अध्ययन की नई दिशाएँ' में प्रेमचंद के जीवन पर कुछ आरोप लगाकर उनके साहित्य का महत्व कम करने की कोशिश की। प्रेमचंद पर लगे मुख्य आरोप हैं—प्रेमचंद ने अपनी पहली पत्नी को बिना वजह छोड़ा और दूसरे विवाह के बाद भी उनके अन्य किसी महिला से संबंध रहे (जैसा कि शिवरानी देवी ने 'प्रेमचंद घर में' में उद्धृत किया है), प्रेमचंद ने 'जागरण विवाद' में विनोदशंकर व्यास के साथ धोखा किया, प्रेमचंद ने अपनी प्रेस के वरिष्ठ कर्मचारी प्रवासीलाल वर्मा के साथ धोखाधड़ी की, प्रेमचंद की प्रेस में मजदूरों ने हड़ताल की, प्रेमचंद ने अपनी बेटी के बीमार होने पर झाड़ू-फूंक का सहारा लिया आदि। कमलकिशोर गोयनका द्वारा लगाए गए ये आरोप प्रेमचंद के जीवन का एक पक्ष जरूर हमारे सामने लाते हैं जिसमें उनकी इंसानी कमजोरियों जाहिर होती हैं, लेकिन उनके व्यापक साहित्य के मूल्यांकन पर इन आरोपों का कोई असर नहीं पड़ पाया है।

प्रेमचंद्र को लोग आज उनकी काबिलियत की वजह से याद करते हैं, जो विवादों को बहुत कम जगह देती है।

मुंशी के विषय में विवाद

मुंशी प्रेमचंद ने 1898 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण कर स्थानीय विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गए। B-A करने के बाद मुंशी प्रेमचंद शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हो गए। मुंशी प्रेमचंद का पहला विवाह उन दिनों की परंपरा के अनुसार 15 साल की उम्र में हुआ जो सफल नहीं रहा। 1926 में इन्होंने विधवा विवाह का समर्थन करते हुए बाल विधवा शिवरानी देवी से दूसरा विवाह किया। उनसे तीन संताने हुई श्रीपत राय अमृतराय और कमला देवी श्रीवास्तव 1910 में उनकी रचना सोजे वतन के लिए हमीरपुर के जिला कलेक्टर ने तलब किया तो जीवन की सभी प्रतियां जब्त कर नष्ट कर दी गईं इस समय तक प्रेमचंद नवाब राय नाम से उर्दू में लिखे थे उर्दू में प्रकाशित होने वाली जमाना पत्रिका के संपादक और उनके दोस्त मुंशी दया नारायण निगम ने उन्हें प्रेमचंद नाम से लिखने की सलाह दी इसके बाद वे प्रेमचंद के नाम से लिखने लगे।

मुंशी, प्रेमचंद

‘हंस के संपादक प्रेमचंद तथा कन्हैयालाल मुंशी थे। परन्तु कालांतर में पाठकों ने ‘मुंशी’ तथा ‘प्रेमचंद’ को एक समझ लिया और ‘प्रेमचंद’-‘मुंशी प्रेमचंद’ बन गए। यह स्वाभाविक भी है। सामान्य पाठक प्रायः लेखक की कृतियों को पढ़ता है, नाम की सूक्ष्मता को नहीं देखा करता। आज प्रेमचंद का मुंशी अलंकरण इतना रूढ़ हो गया है कि मात्र ‘मुंशी’ से ही प्रेमचंद का बोध हो जाता है तथा ‘मुंशी’ न कहने से प्रेमचंद का नाम अधूरा-अधूरा सा लगता है।

विरासत

प्रेमचंद ने अपनी कला के शिखर पर पहुँचने के लिए अनेक प्रयोग किए। जिस युग में प्रेमचंद ने कलम उठाई थी, उस समय उनके पीछे ऐसी कोई ठोस विरासत नहीं थी और न ही विचार और प्रगतिशीलता का कोई मॉडल ही उनके सामने था। लेकिन होते-होते उन्होंने गोदान जैसे कालजयी उपन्यास की रचना की जो कि एक आधुनिक क्लासिक माना जाता है। उन्होंने चीजों को खुद गढ़ा और

खुद आकार दिया। जब भारत का स्वतंत्रता आंदोलन चल रहा था तब उन्होंने कथा साहित्य द्वारा हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के, जो अभिव्यक्ति दी उसने सियासी सरगर्मी को, जोश को और आंदोलन को सभी को उभारा और उसे ताकतवर बनाया और इससे उनका लेखन भी ताकतवर होता गया। प्रेमचंद इस अर्थ में निश्चित रूप से हिंदी के पहले प्रगतिशील लेखक कहे जा सकते हैं। 1936 में उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ के पहले सम्मेलन को सभापति के रूप में संबोधन किया था। उनका यही भाषण प्रगतिशील आंदोलन के घोषणा पत्र का आधार बना। प्रेमचंद ने हिन्दी में कहानी की एक परंपरा को जन्म दिया और एक पूरी पीढ़ी उनके कदमों पर आगे बढ़ी, 50-60 के दशक में रेणु, नागार्जुन और इनके बाद श्रीनाथ सिंह ने ग्रामीण परिवेश की कहानियाँ लिखी हैं, वो एक तरह से प्रेमचंद की परंपरा के तारतम्य में आती हैं। प्रेमचंद एक क्रांतिकारी रचनाकार थे, उन्होंने न केवल देशभक्ति बल्कि समाज में व्याप्त अनेक कुरीतियों को देखा और उनको कहानी के माध्यम से पहली बार लोगों के समक्ष रखा। उन्होंने उस समय के समाज की जो भी समस्याएँ थीं उन सभी को चित्रित करने की शुरुआत कर दी थी। उसमें दलित भी आते हैं, नारी भी आती हैं। ये सभी विषय आगे चलकर हिन्दी साहित्य के बड़े विमर्श बने। प्रेमचंद हिन्दी सिनेमा के सबसे अधिक लोकप्रिय साहित्यकारों में से हैं। सत्यजित राय ने उनकी दो कहानियों पर यादगार फिल्में बनाईं। 1977 में शतरंज के खिलाड़ी और 1981 में सद्गति। उनके देहांत के दो वर्षों बाद के सुब्रमण्यम ने 1938 में सेवासदन उपन्यास पर फिल्म बनाई जिसमें सुब्बालक्ष्मी ने मुख्य भूमिका निभाई थी। 1977 में मृणाल सेन ने प्रेमचंद की कहानी कफन पर आधारित ओका ऊरी कथा नाम से एक तेलुगू फिल्म बनाई जिसको सर्वश्रेष्ठ तेलुगू फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। 1963 में गोदान और 1966 में गबन उपन्यास पर लोकप्रिय फिल्में बनीं। 1980 में उनके उपन्यास पर बना टीवी धारावाहिक निर्मला भी बहुत लोकप्रिय हुआ था।

प्रेमचंद संबंधी नए अध्ययन

हिंदी साहित्य व आलोचना में प्रेमचंद को प्रतिष्ठित करने का श्रेय डॉ. रामविलास शर्मा को दिया जाता है, परन्तु यह एक गलत धारणा है। दरअसल एक कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में प्रेमचंद की लोकप्रियता उनके जीवनकाल में ही इतनी ज्यादा थी कि उन्हें 'उपन्यास सम्राट' कहा जाने लगा

था। प्रेमचंद को स्थापित करने वाले उनके पाठक थे, आलोचक नहीं। प्रेमचंद के पत्रों को सहेजने का काम अमृतराय और मदनगोपाल ने किया। प्रेमचंद पर हुए नए अध्ययनों में कमलकिशोर गोयनका और डॉ. धर्मवीर का नाम उल्लेखनीय है। कमलकिशोर गोयनका ने प्रेमचंद के जीवन के कमजोर पक्षों को उजागर करने के साथ-साथ प्रेमचंद का अप्राप्य साहित्य (दो भाग) व 'प्रेमचंद विश्वकोश' (दो भाग) का संपादन भी किया है। डॉ. धर्मवीर ने दलित दृष्टि से प्रेमचंद साहित्य का मूल्यांकन करते हुए प्रेमचंद: सामंत का मुंशी व प्रेमचंद की नीली आँखें नाम से पुस्तकें लिखी हैं।

पुरस्कार व सम्मान

प्रेमचंद की स्मृति में भारतीय डाकतार विभाग की ओर से 30 जुलाई 1980 को उनकी जन्मशती के अवसर पर 30 पैसे मूल्य का एक डाक टिकट जारी किया गया। गोरखपुर के जिस स्कूल में वे शिक्षक थे, वहाँ प्रेमचंद साहित्य संस्थान की स्थापना की गई है। प्रेमचंद की 125वीं सालगिरह पर सरकार की ओर से घोषणा की गई कि वाराणसी से लगे इस गाँव में प्रेमचंद के नाम पर एक स्मारक तथा शोध एवं अध्ययन संस्थान बनाया जाएगा।

5

अज्ञेय

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' (7 मार्च, 1911-4 अप्रैल, 1987) को कवि, शैलीकार, कथा-साहित्य को एक महत्त्वपूर्ण मोड़ देने वाले कथाकार, ललित-निबन्धकार, सम्पादक और अध्यापक के रूप में जाना जाता है। इनका जन्म 7 मार्च 1911 को उत्तर प्रदेश के कसया, पुरातत्त्व-खुदाई शिविर में हुआ। बचपन लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। बी.एससी. करके अंग्रेजी में एम.ए. करते समय क्रांतिकारी आन्दोलन से जुड़कर बम बनाते हुए पकड़े गये और वहाँ से फरार भी हो गए। सन् 1930 ई. के अन्त में पकड़ लिये गये। अज्ञेय प्रयोगवाद एवं नई कविता को साहित्य जगत में प्रतिष्ठित करने वाले कवि हैं। अनेक जापानी हाइकु कविताओं को अज्ञेय ने अनूदित किया। बहुआयामी व्यक्तित्व के एकान्तमुखी प्रखर कवि होने के साथ-साथ वे एक अच्छे फोटोग्राफर और सत्यान्वेषी पर्यटक भी थे।

जीवन परिचय

प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा पिता की देख रेख में घर पर ही संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और बांग्ला भाषा व साहित्य के अध्ययन के साथ हुई। 1925 में पंजाब से एंट्रेस की परीक्षा पास की और उसके बाद मद्रास क्रिस्चन कॉलेज में दाखिल हुए। वहाँ से विज्ञान में इंटर की पढ़ाई पूरी कर 1927 में वे बी.एससी. करने के लिए लाहौर के फॉर्मन कॉलेज के छात्र बने। 1929 में बी. एससी. करने के बाद

एम.ए. में उन्होंने अंग्रेजी विषय लिया, पर क्रांतिकारी गतिविधियों में हिस्सा लेने के कारण पढ़ाई पूरी न हो सकी।

कार्यक्षेत्र

1930 से 1936 तक विभिन्न जेलों में कटे। 1936-37 में सैनिक और विशाल भारत नामक पत्रिकाओं का संपादन किया। 1943 से 1946 तक ब्रिटिश सेना में रहे, इसके बाद इलाहाबाद से प्रतीक नामक पत्रिका निकाली और ऑल इंडिया रेडियो की नौकरी स्वीकार की। देश-विदेश की यात्राएं कीं। जिसमें उन्होंने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय से लेकर जोधपुर विश्वविद्यालय तक में अध्यापन का काम किया। दिल्ली लौटे और दिनमान साप्ताहिक, नवभारत टाइम्स, अंग्रेजी पत्र वाक् और एवरीमैस जैसी प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया। 1980 में उन्होंने वत्सलनिधि नामक एक न्यास की स्थापना की जिसका उद्देश्य साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कार्य करना था। दिल्ली में ही 4 अप्रैल 1987 को उनकी मृत्यु हुई। 1964 में आँगन के पार द्वार पर उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ और 1978 में कितनी नावों में कितनी बार पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार।

प्रमुख कृतियां

कविता संग्रह—भग्नदूत 1933, चिन्ता 1942, इत्यलम् 1946, हरी घास पर क्षण भर 1949, बावरा अहेरी 1954, इन्द्रधनुष रौंदे हुये ये 1957, अरी ओ करुणा प्रभामय 1959, आँगन के पार द्वार 1961, कितनी नावों में कितनी बार (1967), क्योंकि मैं उसे जानता हूँ (1970), सागर मुद्रा (1970), पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (1974), महावृक्ष के नीचे (1977), नदी की बाँक पर छाया (1981), प्रिजन डेज एण्ड अदर पोयम्स (अंग्रेजी में, 1946)।

कहानियाँ—विपथगा 1937, परम्परा 1944, कोठरी की बात 1945, शरणार्थी 1948, जयदोल 1951

उपन्यास—शेखर एक जीवनी—प्रथम भाग(उत्थान)1941, द्वितीय भाग(संघर्ष)1944, नदी के द्वीप 1951, अपने अपने अजनबी 1961।

यात्रा वृतान्त—अरे यायावर रहेगा याद? 1943, एक बूँद सहसा उछली 1960।

निबंध संग्रह—सबरंग, त्रिशंकु, आत्मनेपद, आधुनिक साहित्य: एक आधुनिक परिदृश्य, आलवाला।

आलोचना—त्रिशंकु 1945, आत्मनेपद 1960, भवन्ती 1971, अद्यतन 1971 ई.।

संस्मरण—स्मृति लेखा

डायरियां—भवन्ती, अंतरा और शाश्वती।

विचार गद्य—संवत्सर

नाटक—उत्तरप्रियदर्शी

जीवनी—रामकमल राय द्वारा लिखित शिखर से सागर तक

संपादित ग्रंथः—आधुनिक हिन्दी साहित्य (निबन्ध संग्रह)1942, तार सप्तक (कविता संग्रह) 1943, दूसरा सप्तक (कविता संग्रह)1951, तीसरा सप्तक (कविता संग्रह), सम्पूर्ण 1959, नये एकांकी 1952, रूपांबरा 1960।

उनका लगभग समग्र काव्य सदानीरा (दो खंड) नाम से संकलित हुआ है तथा अन्यान्य विषयों पर लिखे गए सारे निबंध सर्जना और सन्दर्भ तथा केंद्र और परिधि नामक ग्रंथों में संकलित हुए हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के संपादन के साथ-साथ अज्ञेय ने तारसप्तक, दूसरा सप्तक और तीसरा सप्तक जैसे युगांतरकारी काव्य संकलनों का भी संपादन किया तथा पुष्करिणी और रूपांबरा जैसे काव्य-संकलनों का भी। वे वत्सलनिधि से प्रकाशित आधा दर्जन निबंध-संग्रहों के भी संपादक हैं। प्रख्यात साहित्यकार अज्ञेय ने यद्यपि कहानियां कम ही लिखीं और एक समय के बाद कहानी लिखना बिल्कुल बंद कर दिया, परंतु हिन्दी कहानी को आधुनिकता की दिशा में एक नया और स्थायी मोड़ देने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। निस्संदेह वे आधुनिक साहित्य के एक शलाका-पुरुष थे जिसने हिंदी साहित्य में भारतेंदु के बाद एक दूसरे आधुनिक युग का प्रवर्तन किया।

अज्ञेय रचनावली

अज्ञेय रचनावली के 18 खंडों में उनकी समस्त रचनाओं को संग्रहित करने का प्रयास किया गया है। इसके संपादक कृष्णदत्त पालीवाल हैं।

इन खंडों की सामग्री का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

1. काव्य
2. काव्य

3. कहानियाँ
4. उपन्यास
5. उपन्यास
6. उपन्यास
7. भूमिकाएँ
8. यात्रा-वृत्त
9. डायरी
10. निबन्ध
11. निबन्ध
12. निबन्ध
13. निबन्ध
14. संस्मरण, नाटक, निबन्ध
15. साक्षात्कार
16. साक्षात्कार और पत्र
17. अनुवाद
18. अनुवाद

‘अज्ञेय’: अपनी निगाह में

कृतिकार की निगाह नहीं होती, यह तो नहीं कहूँगा। पर यह असंदिग्ध है कि वह निगाह एक नहीं होती। एक निगाह से देखना कलाकार की निगाह से देखना नहीं है। स्थिर, परिवर्तनहीन दृष्टि सिद्धांतवादी की हो सकती है, सुधारक-प्रचारक की हो सकती है और-भारतीय विश्वविद्यालयों के संदर्भ में-अध्यापक की भी हो सकती है, पर वैसी दृष्टि रचनाशील प्रतिभा की दृष्टि नहीं है।

‘अज्ञेय’: अपनी निगाह में इस शीर्षक के नीचे यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है उसे इसलिए ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह स्थिर उत्तर नहीं है। यह भी हो सकता है कि उसके छपते-छपते उससे भिन्न कुछ कहना उचित और सही जान पड़ने लगे। चालू मुहावरे में कहा जाए कि यह केवल आज का, इस समय का कोटेशन है। कल को अगर बदला जाए तो यह न समझना होगा कि अपनी बात का खंडन किया जा रहा है, केवल यही समझना होगा कि वह कल का कोटेशन है, जो कि आज से भिन्न है।

फिर यह भी है कि कलाकार की निगाह अपने पर टिकती भी नहीं। क्यों टिके? दुनिया में इतना कुछ देखने को पड़ा है: 'क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृतिवेश' जिसे 'उसने आँख भर देखा।' इसे देखने से उसको इतना अवकाश कहाँ कि वह निगाह अपनी ओर मोड़े। वह तो जितना कुछ देखता है उससे भी आगे बढ़ने की विवशता में देता है 'मन को दिलासा, पुनः आऊँगा-भले ही बरस दिन अनगिन युगों के बाद!'

कलाकार की निगाह, अगर वह निगाह है और कलाकार की है तो, सर्वदा सब-कुछ की ओर लगी रहती है। अपने पर टिकने का अवकाश उसे नहीं रहता। निःसंदेह ऐसे बहुत-से कलाकार पड़े हैं, जिन्होंने अपने को देखा है, अपने बारे में लिखा है। अपने बारे में लिखना तो आजकल का एक रोग है। बल्कि यह रोग इतना व्यापक है कि जिसे यह नहीं है वही मानो बेचैन हो उठता है कि मैं कहीं अस्वस्थ तो नहीं हूँ? लेखकों में कई ऐसे भी हैं जिन्होंने केवल अपने बारे में लिखा है-जिन्होंने अपने सिवा कुछ देखा ही नहीं है। लेकिन सरसरी तौर पर अपने बारे में लिखा हुआ सब-कुछ एक ही मानदंड से नहीं नापा जा सकता, उसमें कई कोटियाँ हैं। क्योंकि देखने वाली निगाह भी कई कोटियों की हैं। आत्म-चर्चा करने वाले कुछ लोग तो ऐसे हैं कि निज की निगाह कलाकार की नहीं, व्यवसायी की निगाह है। यों आजकल सभी कलाकार न्यूनाधिक मात्रा में व्यवसायी हैं, आत्म-चर्चा आत्म-पोषण का साधन है इसलिए आत्म-रक्षा का एक रूप है। कुछ ऐसे भी होंगे जो कलाकार तो हैं, लेकिन वास्तव में आत्म-मुग्ध हैं-नार्सिसस-गोत्रीय कलाकार! लेकिन अपने बारे में लिखने वालों में एक वर्ग ऐसों का भी है, जो कि वास्तव में अपने बारे में नहीं लिखते हैं-अपने को माध्यम बनाकर संसार के बारे में लिखते हैं। इस कोटि के कलाकार की जागरूकता का ही एक पक्ष यह है कि यह निरंतर अपने देखने को ही देखता चलता है, अनवरत अपने संवेदन के खरेपन की कसौटी करता चलता है। जिस भाव-यंत्र के सहारे वह दुनिया पर और दुनिया उस पर घटित होती रहती है, उस यंत्र की ग्रहणशीलता का वह बराबर परीक्षण करता रहता है। भाव-यंत्र का ऐसा परीक्षण एक सीमा तक किसी भी युग में आवश्यक रहा होगा, लेकिन आज के युग में वह एक अनिवार्य कर्तव्य हो गया है।

तो अपनी निगाह में अज्ञेय। यानी आज का अज्ञेय ही। लिखने के समय की निगाह में वह लिखता हुआ अज्ञेय। बस इतना ही और उतने समय का ही।

अज्ञेय बड़ा संकोची और समाज भीरु है। इसके दो पक्ष हैं। समाजभीरु तो इतना है कि कभी-कभी दुकान में कुछ चीजें खरीदने के लिए घुसकर भी उलटे-पाँव लौट आता है क्योंकि खरीददारी के लिए दुकानदार से बातें करनी पड़ेंगी। लेकिन एक दूसरा पक्ष भी है जिसके मूल में निजीपन की तीव्र भावना है, वह जिसे अँग्रेजी में सेंस ऑफ प्राइव्सेसी कहते हैं। किन चीजों को अपने तक, या अपनों तक ही सीमित रखना चाहिए, इसके बारे में अज्ञेय की सबसे बड़ी स्पष्ट और दृढ़ धारणाएँ हैं और इनमें से बहुत-सी लोगों की साधारण मान्यताओं से भिन्न हैं। यह भेद एक हद तक तो अँग्रेजी साहित्य के परिचय की राह से समझा जा सकता है: उस साहित्य में इसे चारित्रिक गुण माना गया है। मनोवेगों को अधिक मुखर न होने दिया जाए, निजी अनुभूतियों के निजीपन को अक्षुण्ण रखा जाए: 'प्राइवेट फेंसेज इन पब्लिक प्लेसेज'। लेकिन इस निरोध अथवा संयमन के अलावा भी कुछ बातें हैं। एक सीमा है जिसके आगे अज्ञेय अस्पृश्य रहना ही पसंद करता है। जैसे कि एक सीमा से आगे वह दूसरों के जीवन में प्रवेश या हस्तक्षेप नहीं करता है। इस तरह का अधिकार वह बहुत थोड़े लोगों से चाहता है और बहुत थोड़े लोगों को देता है। जिन्हें देता है उन्हें अबाध रूप से देता है, जिनसे चाहता है उनसे उतने ही निर्बाध भाव से चाहता है। लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है, ऐसे लोगों की परिधि बहुत कड़ी है।

इससे गलतफहमी जरूर होती है। बहुत-से लोग बहुत नाराज भी हो जाते हैं। कुछ को इसमें मनहूसियत की झलक मिलती है, कुछ अहम्मन्यता पाते हैं, कुछ आभिजात्य का दर्प, कुछ और कुछ। कुछ की समझ में यह निरा आडंबर है और भीतर के शून्य को छिपाता है, जैसे प्याज का छिलका पर छिलका। मैं साक्षी हूँ कि अज्ञेय को इन सब प्रतिक्रियाओं से अत्यंत क्लेश होता है। लेकिन एक तो यह क्लेश भी निजी है। दूसरे इसके लिए वह अपना स्वभाव बदलने का यत्न नहीं करता, न करना चाहता है। सभी को कुछ-कुछ और कुछ को सब-कुछ-वह मानता है उसके लिए आत्म-दान की परिपाटी यही हो सकती है। सिद्धांततः वह स्वीकार करेगा कि 'सभी को सब-कुछ' का आदर्श इससे अधिक ऊँचा है। पर वह आदर्श सन्यासी का ही हो सकता है। या कम-से-कम निजी जीवन में कलाकार का तो नहीं हो सकता। बहुत-से कलाकार उससे भी छोटा दायरा बना लेते हैं जितना कि अज्ञेय का है और कोई-कोई तो 'कुछ को कुछ, बाकी अपने को सब-कुछ' के ही आदर्श पर चलते हैं। ऐसा कोई न बचे जिसे उसने अपना कुछ नहीं दिया हो, इसके लिए अज्ञेय बराबर यत्नशील है।

लेकिन सभी के लिए वह सब-कुछ दे रहा है, ऐसा दावा वह नहीं करता और इस दंभ से अपने को बचाये रखना चाहता है।

अज्ञेय का जन्म खँडहरों में शिविर में हुआ था। उसका बचपन भी वनों और पर्वतों में बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्वावशेषों के मध्य में बीता। इन्हीं के बीच उसने प्रारंभिक शिक्षा पायी। वह भी पहले संस्कृत में, फिर फारसी और फिर अँग्रेजी में और इस अवधि में वह सर्वदा अपने पुरातत्त्वज्ञ पिता के साथ और बीच-बीच में बाकी परिवार से-माता और भाइयों से-अलग, रहता रहा। खुदाई में लगे हुए पुरातत्वान्वेषी पिता के साथ रहने का मतलब था अधिकतर अकेला ही रहना और अज्ञेय बहुत बचपन से एकांत का अभ्यासी है और बहुत कम चीजों से उसको इतनी अकुलाहट होती है जितनी लगातार लंबी अवधि तक इसमें व्याघात पड़ने से। जेल में अपने सहकर्मियों के दिन-रात के अनिवार्य साहचर्य से त्रस्त होकर उसने स्वयं काल-कोठरी की माँग की थी और महीनों उसमें रहता रहा। एकांतजीवी होने के कारण देश और काल के आयाम का उसका बोध कुछ अलग ढंग का है। उसके लिए सचमुच 'कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।' वह घंटों निश्चल बैठा रहता है, इतना निश्चल कि चिड़ियाँ उसके कंधों पर बैठ जाएँ या कि गिलहरियाँ उसकी टाँगों पर से फाँदती हुई चली जाएँ। पशु-पक्षी और बच्चे उससे बड़ी जल्दी हिल जाते हैं। बड़ों को अज्ञेय के निकट आना भले ही कठिन जान पड़े, बच्चों का विश्वास और सौहार्द उसे तुरंत मिलता है। पशु उसने गिलहरी के बच्चे से तेंदुए के बच्चे तक पाले हैं, पक्षी बुलबुल से मोर-चकोर तक, बंदी इनमें से दो-चार दिन से अधिक किसी को नहीं रखा। उसकी निश्चलता ही उन्हें आश्वस्त कर देती है। लेकिन गति का उसके लिए दुर्दांत आकर्षण है। निरी अंध गति का नहीं, जैसे तेज मोटर या हवाई जहाज की, यद्यपि मोटर वह काफी तेज रफतार से चला लेता है। (पहले शौक था, अब केवल आवश्यकता पड़ने पर चला लेने की कुशलता है, शौक नहीं है।) आकर्षण है एक तरह की ऐसी लय-युक्त गति का-जैसे घुड़दौड़ के घोड़े की गति, हिरन की फलाँग या अच्छे तैराक का अंग-संचालन, या शिकारी पक्षी के झपट्टे की या सागर की लहरों की गति। उसके लेखन में, विशेष रूप से कविता में, यह आकर्षण मुखर है। पर जीवन में भी उतना ही प्रभावशाली है। एक बार बचपन में अपने भाइयों को तैरते हुए देखकर वह उनके अंग-संचालन से इतना मुग्ध हो उठा कि तैरना न जानते हुए भी पानी में कूद पड़ा और डूबते-डूबते बचा-यानी मूर्छितावस्था में निकाला गया। लय-युक्त गति के साथ-साथ, उगने

या बढ़ने वाली हर चीज में, उसके विकास की बारीक-से-बारीक क्रिया में, अज्ञेय को बेहद दिलचस्पी है। वे चीजें छोटी हों या बड़ी, च्यूटी और पक्षी हों या वृक्ष और हाथी, मानव-शिशु हो या नगर और कस्बे का समाज। वनस्पतियों और पशु-पक्षियों का विकास तो केवल देखा ही जा सकता है, शहरी मानव और उसके समाज की गतिविधियों से पहले कभी-कभी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया होती थी-क्षोभ और क्रोध होता था, अब धीरे-धीरे समझ में आने लगा है कि ऐसी राजस प्रतिक्रियाएँ देखने में थोड़ी बाधा जरूर होती है। अब आक्रोश को वश करके उन गतिविधियों को ठीक-ठीक समझने और उनको निर्माणशील लीकों पर डालने का उपाय खोजने का मन होता है। पहले विद्रोह था जो विषयिगत था-‘सब्जेक्टिव’ था। अब प्रवृत्ति है, जो किसी हद तक असम्पृक्त बुद्धि से प्रेरित है। एक हद तक जरूर प्रवृत्ति के साथ एक प्रकार की अंतर्मुखीनता आई है। समाज को बदलने चलने से पहले अज्ञेय बार-बार अपने को जाँचता है कि कहाँ तक उसके विश्वास और उसके कर्म में सामंजस्य है-या कि कहाँ नहीं है। यह भी जोड़ दिया जा सकता है कि वह इस बारे में भी सतर्क रहता है कि उसके निजी विश्वासों में और सार्वजनिक रूप से घोषित (पब्लिक) आदर्श में भेद तो नहीं है? धारणा और कर्म में सौ प्रतिशत सामंजस्य तो सिद्धों को मिलता है। उतना भाग्यवान न होकर भी अज्ञेय अंतर्विरोध की भट्ठी पर नहीं बैठा है और इस कारण अपने भीतर एक शांति और आत्मबल का अनुभव करता है। शांति और आत्म-बल आज के युग में शायद विलास की वस्तुएँ हैं। इसलिए इस कारण से अज्ञेय हिंदी भाइयों और विशेष रूप से हिंदीवाले भाइयों से कुछ और अलग पड़ जाता है और कुछ और अकेला हो जाता है।

यहाँ यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि यहाँ शायद सच्चाई को अधिक सरल करके सामने रखा गया है, उतनी सरल वास्तविकता नहीं है। एक साथ ही चरम निश्चलता का और चरम गतिमयता का आकर्षण अज्ञेय की चेतना के अंतर्विरोध का सूचक है। पहाड़ उसे अधिक प्रिय है या सागर, इसका उत्तर वह नहीं दे पाया है, स्वयं अपने को भी। वह सर्वदा हिमालय के हिमशिखरों की ओर उन्मुख कुटीर में रहने की कल्पना किया करता है और जब-तब उधर कदम भी बढ़ा लेता है, पर दूसरी ओर वह भागता है बराबर सागर की ओर, उसके उद्वेलन से एकतानता का अनुभव करता है। शांत सागर-तल उसे विशेष नहीं मोहता-चट्टानों पर लहरों का घात-प्रतिघात ही उसे मुग्ध करता है। सागर में वह दो बार डूब चुका है, चट्टानों की ओट से सागर-लहर को देखने के लोभ में वह कई बार

फिसलकर गिरा है और दैवात् ही बच गया है। पर मनःस्थिति ज्यों-की-त्यों है: वह हिमालय के पास रहना चाहता है पर सागर के गर्जन से दूर भी नहीं रहना चाहता! कभी हँसकर कह देता है: “मेरी कठिनाई यही है कि भारत का सागर-तट सपाट दक्षिण में है-कहीं पहाड़ी तट होता तो-!”

क्योंकि इस अंतर्विरोध का हल नहीं हुआ है, इसलिए वह अभी स्वयं निश्चयपूर्वक नहीं जानता है कि वह अंत में कहाँ जा टिकेगा। दिल्ली या कोई भी शहर तो वह विश्रामस्थल नहीं होगा, यह वह ध्रुव मानता है। पर वह कूर्माचल हिमालय में होगा, कि कुमारी अंतरीप के पास (जहाँ चट्टानें तो हैं!), या समझौते के रूप में विंध्य के अंचल की कोई वनखंडी जहाँ नदी-नाले का मर्मर ही हर समय सुनने को मिलता रहे-इसका उत्तर उसे नहीं मिला। उत्तर की कमी कई बार एक अशांति के रूप में प्रकट हो जाती है। वह ‘कहीं जाने के लिए’ बैचन हो उठता है। (मुक्तिबोध का ‘माइग्रेशन इन्स्टिक्ट’?) कभी इसकी सूरत निकल आती है, कभी नहीं निकलती तो वह घर ही का सब सामान उलट-पुलटकर उसे नया रूप दे देता है: बैठक को शयनकक्ष, शयनकक्ष को पाठागार, पाठागार को बैठक इत्यादि। उससे कुछ दिन लगता है कि मानो नए स्थान में आ गए-फिर वह पुराना होने लगता है तो फिर सब बदल दिया जाता है! इसीलिए घर का फर्नीचर भी अज्ञेय अपने डिजाइन का बनवाता है। ये जो तीन चौकियाँ हैं न, इन्हें यों जोड़ दिया जाए तो पलंग बन जाएगा, ये जो दो डेस्क-सी दीखती हैं, एक को घुमाकर दूसरे से पीठ जोड़ दीजिए, भोजन की मेज बन जाएगी यदि आप फर्श पर नहीं बैठ सकते। वह जो पलंग दीखता है, उसका पल्ला उठा दीजिए-नीचे वह सद्क है। या उसे एक सिरे पर खड़ा कर दीजिए तो वह आलमारी का काम दे जाएगा! दीवार पर शरद् ऋतु के चित्र हैं न? सबको उलट दीजिए: अब सब चित्र वसंत के अनुकूल हो गए-अब बिछावन भी उठाकर शीतलपाटियाँ डाल दीजिए और सभी चीजों का ताल-मेल हो गया...

पुरातत्त्ववेत्ता की छाया में अकेले रहने का एक लाभ अज्ञेय को और भी हुआ है। चाहे विरोधी के रूप में चाहे पालक के रूप में, वह बराबर परंपरा के संपर्क में रहा है। रूढ़ि और परंपरा अलग-अलग चीजें हैं, यह उसने समझ लिया है। रूढ़ि वह तोड़ता है और तोड़ने के लिए हमेशा तैयार है। लेकिन परंपरा तोड़ी नहीं जाती, बदली जाती है या आगे बढ़ाई जाती है, ऐसा वह मानता है और इसी के लिए यत्नशील है। कहना सही होगा कि

वह मर्यादावान विद्रोही है। फिर इस बात को चाहे आप प्रशंसा से कह लीजिए चाहे व्यंग्य और विद्रूप से।

एक ओर एकांत और दूसरे में एकांत का निरंतर बदलता हुआ परिवेश-कभी कश्मीर की उपत्यकाएँ, कभी बिहार के देहात, कभी कोटागिरि-नीलगिरि के आदिम जातियों के गाँव, कभी मेरठ के खादर और कभी असम और पूर्वी सीमांत के वन-प्रदेश-इस अनवरत बदलते हुए परिवेश ने अकेले अज्ञेय के आत्म-निर्भरता का पाठ बराबर दुहरवाया है। इस कारण वह जितना जैसा जिया है अधिक सघनता और तीव्रता से जिया है। 'रूप-रस-गंध-गान'-सभी की प्रतिक्रियाएँ उसमें अधिक गहरी हुई हैं। सिद्धांततः भी वह मानता है कि कवि या कलाकार ऐंद्रिय चेतना की उपेक्षा नहीं कर सकता और परिस्थितियों ने उसे इसकी शिक्षा भी दी है कि ऐंद्रिय संवेदन को कुंद न होने दिया जाए। यह यों ही नहीं कि आँख, कान, नाक आदि को 'ज्ञानेंद्रियाँ' कहा जाता है। ये वास्तव में खिड़कियाँ हैं जिनमें से व्यक्ति जगत को देखता और पहचानता है। इनके संवेदन को अस्वीकार करना संन्यास या वैराग्य का अंग नहीं है। वह पंथ आसक्ति को छोड़ता है यानी इन संवेदनों से बँध नहीं जाताय यह नहीं है कि इनका उपयोग ही वह छोड़ देता है। जब अज्ञेय को ऐसे लोग मिलते हैं, जो गर्व से कहते हैं कि "हमें तो खाने में स्वाद का पता ही नहीं रहता-हम तो यह भी लक्ष्य नहीं करते कि दाल में नमक कम है या ज्यादा," तो अज्ञेय को हँसी आती है। क्योंकि यह वह अस्वाद नहीं जिसे आदर्श माना गया, यह केवल एक विशेष प्रकार की पंगुता है। इसमें और इस बात पर गर्व करने में कि "मुझे तो यह भी नहीं दिखता कि दिन है या रात," कोई अंतर नहीं है। अगर अन्धापन या बहरापन 'लाय नहीं है तो जीभ का या त्वचा का अपस्मार ही क्यों 'लाय है? ज्ञानेंद्रियों की सजगता अज्ञेय की कृतियों में प्रतिलक्षित होती है और वह मानता है होनी भी चाहिए। कम या ज्यादा नमक होने पर भी दाल खा लेना एक बात है और इसको नहीं पहचानना बिल्कुल दूसरी बात है।

अज्ञेय मानता है कि बुि) से जो काम किया जाता है उसकी नींव हाथों से किये गए काम पर है। जो लोग अपने हाथों का सही उपयोग नहीं करते उनकी मानसिक सृष्टि में भी कुछ विकृति या एकांगिता आ जाती है। यह बात काव्य-रचना पर विशेष रूप से लागू है क्योंकि अन्य सब कलाओं के साथ कोई-न-कोई शिल्प बँधा है, यानी अन्य सभी कलाएँ हाथों का भी कुछ कौशल माँगती हैं। एक काव्य-कला ही ऐसी है कि शुद्ध मानसिक कला है। प्राचीन

काल में शायद इसीलिए कवि-कर्म को कला नहीं गिना जाता था। अज्ञेय प्रायः ही हाथ से कुछ-न-कुछ बनाता रहता है और बीच-बीच में कभी तो मानसिक रचना को बिल्कुल स्थगित करके केवल शिल्प-वस्तुओं के निर्माण में लग जाता है। बड़ईगिरी और बागवानी का उसे खास शौक है। लेकिन और भी बहुत-सी दस्तकारियों में थोड़ी-बहुत कुशलता उसने प्राप्त की है और इनका भी उपयोग जब-तब करता रहता है। अपने काम के देशी काट के कपड़े भी वह सी लेता है और चमड़े का काम भी कर लेता है। थोड़ी-बहुत चित्रकारी और मूर्तिकारी वह करता है। फोटोग्राफी का शौक भी उसे बराबर रहा है और बीच-बीच में प्रबल हो उठता है।

हाथों से चीजें बनाने के कौशल का प्रभाव जरूरी तौर पर साहित्य-रचना पर भी पड़ता है। अज्ञेय प्रायः मित्रों से कहा करता है कि अपने हाथ से लिखने और शीघ्रलेखक को लिखाने में एक अंतर यह है कि अपने हाथ से लिखने में जो बात बीस शब्दों में कही जाती लिखाते समय उसमें पचास शब्द या सौ शब्द भी सर्फकर दिए जाते हैं! मितव्यय कला का एक स्वाभाविक धर्म है। रंग का, रेखा का, मिट्टी या शब्द का अपव्यय भारी दोष है। अपने हाथ से लिखने में परिश्रम किफायत की ओर सहज ही जाता है। लिखाने में इसमें चूक भी हो सकती है। विविध प्रकार के शिल्प के अभ्यास से मितव्यय का-किसी भी इष्ट की प्राप्ति में कम-से-कम श्रम का-सिद्धांत सहज-स्वाभाविक बन जाता है। भाषा के क्षेत्र में इससे नपी-तुली, सुलझी हुई बात कहने की क्षमता बढ़ती है, तर्क-पद्धति व्यवस्थित, सुचिंतित और क्रमसंगत होती है। अज्ञेय इन सबको साहित्य के बड़े गुण मानता है और बराबर यत्नशील रहता है कि उसका लेखन इस आदर्श से स्वलित न हो।

दूसरे की बात को वह ध्यान से और धैर्य से सुनता है। दूसरे के दृष्टिकोण का, दूसरे की सुविधा का, दूसरे और प्रिय-अप्रिय का वह बहुत ध्यान रखता है-कभी-कभी जरूरत से ज्यादा। नेता के गुणों में एक यह भी होता है कि अपने दृष्टिकोण को अपने पर इतना हावी हो जाने दे कि दूसरे के दृष्टिकोण की अनदेखी भी कर सके। निरंतर दूसरे के दृष्टिकोण को देखते रहना नेतृत्व कर्म में बाधक भी हो सकता है। इसलिए नेतृत्व करना अज्ञेय के वश का नहीं है। वह सही मार्ग पहचानकर और उसका इंगित देकर भी फिर एक तरफ हट जाएगा, क्योंकि 'दूसरों का दृष्टिकोण दूसरा है' और वह उस दृष्टिकोण को भी समझ सकता है!

‘मार-मारकर हकीम’ न बनाने की इस प्रवृत्ति के कारण अज्ञेय को विश्वास बहुत लोगों का मिला है। मित्र उसके कम रहे हैं, पर अपनी समस्याएँ लेकर बहुत लोग उसके पास आते हैं, ऐसे लोगों को खुलकर बात करने में कभी कठिनाई नहीं होती। सभी की सहायता की जा सके ऐसे साधन किसके पास हैं: पर धीरज और सहानुभूति से सुनना भी एक सहायता है, जो हर कोई दे सकता है। (पर देता नहीं)।

लेकिन इस धीरज के साथ-साथ अव्यवस्थित चिंतन के प्रति उसमें एक तीव्र असहिष्णुता भी है। चिंतन के क्षेत्र में किसी तरह का भी लबड़धोंधोपन उसे सख्त नापसंद है और इस नापसंदगी को प्रकट करने में वह संकोच नहीं करता। इसीलिए उसके मित्र बहुत कम हैं। हिंदीवालों में और भी कम, क्योंकि हिंदी साहित्यकार का चिंतन भारतीय साहित्यकारों में अपेक्षया अधिक दुलमुल होता है। साहित्यकार ही क्यों, हिंदी के आलोचकों और अध्यापकों का सोचने का ढंग भी एक नमूना है।

अज्ञेय हिंदी के हाथी का दिखाने का दाँत है। कभी-कभी उसको इस पर आश्चर्य भी होता है और खीझ भी। क्योंकि वह अनुभव करता है कि हिंदी के प्रति उसकी आस्था अनेक प्रतिष्ठित हिंदीवालों से अधिक है और साथ ही यह भी कि वह बड़ी गहराई में और बड़ी निष्ठा के साथ भारतीय है। यानी वह खाने के दाँतों की अपेक्षा हिंदी के हाथी का अधिक अपना है। यों तो खैर, दाँत ही हाथी का हो सकता है, कोई जरूरी नहीं है कि हाथी भी दाँत का हो। लेकिन शायद ऐसा सोचना भी अज्ञेय की दुर्बलता है—यह भी ‘दूसरे के दृष्टिकोण को देखना’ है। वह अपने को हिंदी का मानकर चलता है, जब कि आर्थोडाक्स हिंदीवाला हिंदी को अपनी मानता ही नहीं वैसा दावा भी करता है: अज्ञेय अपने को भारत का मानता है, जबकि आर्थोडाक्स भारतीय देश को अपना मानता है। हिंदी के एक बुजुर्ग ने कहा था, “विदेशों में हिंदी पढ़ाने के लिए तो अज्ञेय बहुत ही उपयुक्त है, बल्कि इससे योग्यतर व्यक्ति नहीं मिलेगा, लेकिन भारतीय विश्वविद्यालयों में—” और यहाँ उनका स्वर एकाएक बिल्कुल बदल गया था—“और हिंदी क्षेत्र में—देखिए, हिंदी क्षेत्र में हिंदी साहित्य पढ़ाने के लिए तो दूसरे प्रकार की योग्यता चाहिए।” इस कथन के पीछे जो प्रतिज्ञाएँ हैं उनसे अज्ञेय को अपना क्लेश होता है। लेकिन—और इसे उसका अतिरिक्त दुर्भाग्य समझिए—इस दृष्टिकोण को वह समझ भी सकता है। पिछले दस-बारह वर्षों के उसके कार्य की जड़ में यही उभयनिष्ठ भाव लक्षित होता है। यह दिखाने का दाँत चालानी

माल (एक्सपोर्ट कमाडिटी) के रूप में बराबर रहता रहा है, लेकिन हर बार इसलिए लौट आया है कि अंततोगत्वा वह भारतीय है, भारत का है और भारत में ही रहेगा।

यह समस्या अभी उसके साथ है और शायद अभी कुछ वर्षों तक रहेगी। बचपन में उसके भविष्य के विषय में जिज्ञासा करने पर उसके माता-पिता को एक ज्योतिषी ने बताया था कि “इस जातक के शत्रु अनेक होंगे लेकिन हानि केवल बंधुजन ही पहुँचा सकेंगे।” अज्ञेय नियतिवादी नहीं है, लेकिन स्वीकार करता है कि चरित्र की कुछ विशेषताएँ जरूर ऐसी होती हैं, जो व्यक्ति के भविष्य का निर्माण करती हैं। इसलिए शायद ‘यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है’ कि अनेक शत्रुओं के रहते हुए भी अज्ञेय वध्य है तो केवल अपने बंधुओं द्वारा। ऐसा ही अच्छा है। उसी ज्योतिषी ने यह भी बताया था कि “इस जातक के पास कभी कुछ जमा-जत्था नहीं होगा, लेकिन साथ ही जरूरी खर्चे की कभी तंगी भी नहीं होगी—यह या तो फकीर होगा या राजा।” और फिर कुछ रुककर, शायद फकीरी की आशंका के बारे में माता-पिता को आश्वस्त करने के लिए और ‘सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्’ को ध्यान में रखकर, उसने एक वाक्य और जोड़ दिया था जिसकी व्यंजनाएँ अनेक हैं—“यह असल में तबीयत का बादशाह होगा।”

जी हाँ, तबीयत के अलावा और कोई बादशाहत अज्ञेय को नहीं मिली है। लेकिन यह बनी रहे तो दूसरी किसी की आकांक्षा भी उसे नहीं है।

6

भीष्म साहनी

रावलपिंडी पाकिस्तान में जन्मे भीष्म साहनी (8 अगस्त 1915–11 जुलाई 2003) आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रमुख स्तंभों में से थे। 1937 में लाहौर गवर्नमेन्ट कॉलेज, लाहौर से अंग्रेजी साहित्य में एम ए करने के बाद साहनी ने 1958 में पंजाब विश्वविद्यालय से पीएचडी की उपाधि हासिल की। भारत पाकिस्तान विभाजन के पूर्व अवैतनिक शिक्षक होने के साथ-साथ ये व्यापार भी करते थे। विभाजन के बाद उन्होंने भारत आकर समाचारपत्रों में लिखने का काम किया। बाद में भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) से जा मिले। इसके पश्चात अंबाला और अमृतसर में भी अध्यापक रहने के बाद दिल्ली विश्वविद्यालय में साहित्य के प्रोफेसर बने। 1957 से 1963 तक मास्को में विदेशी भाषा प्रकाशन गृह (फॉरेन लॉग्वेजेस पब्लिकेशन हाउस) में अनुवादक के काम में कार्यरत रहे। यहां उन्होंने करीब दो दर्जन रूसी किताबें जैसे टालस्टॉय आस्ट्रोवस्की इत्यादि लेखकों की किताबों का हिंदी में रूपांतर किया। 1965 से 1967 तक दो सालों में उन्होंने नयी कहानियां नामक पात्रिका का सम्पादन किया। वे प्रगतिशील लेखक संघ और अफ्रो-एशियायी लेखक संघ (एफ्रो एशियन राइटर्स असोसिएशन) से भी जुड़े रहे। 1993 से 97 तक वे साहित्य अकादमी के कार्यकारी समीति के सदस्य रहे।

भीष्म साहनी को हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद की परंपरा का अग्रणी लेखक माना जाता है। वे मानवीय मूल्यों के लिए हिमायती रहे और उन्होंने विचारधारा

को अपने ऊपर कभी हावी नहीं होने दिया। वामपंथी विचारधारा के साथ जुड़े होने के साथ-साथ वे मानवीय मूल्यों को कभी आंखों से ओझल नहीं करते थे। आपाधापी और उठापटक के युग में भीष्म साहनी का व्यक्तित्व बिल्कुल अलग था। उन्हें उनके लेखन के लिए तो स्मरण किया ही जाएगा, लेकिन अपनी सहृदयता के लिए वे चिरस्मरणीय रहेंगे। भीष्म साहनी हिन्दी फिल्मों के जाने माने अभिनेता बलराज साहनी के छोटे भाई थे। उन्हें 1975 में तमस के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1975 में शिरोमणि लेखक अवार्ड (पंजाब सरकार), 1980 में एफ्रो एशियन राइटर्स असोसिएशन का लोटस अवार्ड, 1983 में सोवियत लैंड नेहरू अवार्ड तथा 1998 में भारत सरकार के पद्मभूषण अलंकरण से विभूषित किया गया। उनके उपन्यास तमस पर 1986 में एक फिल्म का निर्माण भी किया गया था।

प्रमुख रचनाएँ

1. उपन्यास-झरोखे, तमस, बसंती, मय्यादास की माड़ी, कुन्तो, नीलू निलिमा नीलोफर
2. कहानी संग्रह-मेरी प्रिय कहानियाँ, भाग्यरेखा, वांगचू, निशाचर
3. नाटक-हानूश (1977), माधवी (1984), कबिरा खड़ा बजार में (1985), मुआवजे (1993)
4. आत्मकथा-बलराज माय ब्रदर
5. बालकथा-गुलेल का खेल
6. मरने से पहले

भीष्म साहनी

मरने से एक दिन पहले तक उसे अपनी मौत का कोई पूर्वाभास नहीं था। हाँ, थोड़ी खीझ और थकान थी, पर फिर भी वह अपनी जमीन के टुकड़े को लेकर तरह-तरह की योजनाएँ बना रहा था, बल्कि उसे इस बात का संतोष भी था कि उसने अपनी मुश्किल का हल ढूँढ़ निकाला है और अब वह आराम से बैठकर अपनी योजनाएँ बना सकता है। वास्तव में वह पिछले ही दिन, शाम को, एक बड़ी चतुराई का काम कर आया था-अपने दिल की ललक, अपने जैसे ही एक वयोवृद्ध के दिल में उड़ेलने में सफल हो गया था। पर उसकी मौत को देखते हुए लगता है मानो वह कोई नाटक खेलता रहा हो और उसे खेलते हुए खुद भी चलता बना हो।

एक दिन पहले, जब उसे जमीन के मामले को ले कर, डिप्टी कमिश्नर के दफ्तर में जाना था तो वह एक जगह, बस में से उतरकर पैदल ही उस दफ्तर की ओर जाने लगा था। उस समय दिन का एक बजने को था, चिलचिलाती धूप थी और लंबी सड़क पर एक भी सायादार पेड़ नहीं था। पर एक बजे से पहले उसे दफ्तर में पहुँचना था, क्योंकि कचहरियों के काम एक बजे तक ही होते हैं। इसके बाद अफसर लोग उठ जाते हैं, कारिंदे सिगरेट-बीड़ियाँ सुलगा लेते हैं और किसी से सीधे मुँह बात नहीं करते, तब तुम कचहरी के आँगन में और बरामदों में मुँह बाए घूमते रहो, तुम्हें कोई पूछता नहीं। इसीलिए वह चिलचिलाती धूप में पाँव घसीटता, जल्दी से जल्दी डिप्टी-कमिश्नर के दफ्तर में पहुँच जाना चाहता था। बार-बार घड़ी देखने पर, यह जानते हुए भी कि बहुत कम समय बाकी रह गया है, वह जल्दी से कदम नहीं उठा पा रहा था। एक जगह, पीछे से किसी मोटरकार का भाँपू बजने पर, वह बड़ी मुश्किल से सड़क के एक ओर को हो पाया था। जवानी के दिन होते तो वह सरपट भागने लगता, थकान के बावजूद भागने लगता, अपना कोट उतारकर कंधे पर डाल लेता और भाग खड़ा होता। उन दिनों भाग खड़ा होने में ही एक उपलब्धि का-सा भास हुआ करता था-भाग कर पहुँच तो गए, काम भले ही पूरा हो या न हो। पर अब तो वह बिना उत्साह के अपने पाँव घसीटता जा रहा था। प्यास के कारण मुँह सूख रहा था और मुँह का स्वाद कड़वा हो रहा था। धूप में चलते रहने के कारण, गर्दन पर पसीने की परत आ गई थी, जिसे रूमाल से पोंछ पाने की इच्छा उसमें नहीं रह गई थी।

अगर पहुँचने पर कचहरी बंद मिली, डिप्टी कमिश्नर या तहसीलदार आज भी नहीं आया तो मैं कुछ देर के लिए वहीं बैठ जाऊँगा-किसी बेंच पर, दफ्तर की सीढ़ियों पर या किसी चबूतरे पर-कुछ देर के लिए दम लूँगा और फिर लौट आऊँगा। अगर वह दफ्तर में बैठा मिल गया तो मैं सीधा उसके पास जा पहुँचूँगा-अफसर लोग तो दफ्तर के अंदर बैठे-बैठे गुराते हैं, जैसे अपनी माँद में बैठा कोई जंतु गुराता है-पर भले ही वह गुराता रहे, मैं चिक उठाकर सीधा अंदर चला जाऊँगा।

उस स्थिति में भी उसे इस बात का भास नहीं हुआ कि उसकी जिंदगी का आखिरी दिन आ पहुँचा है। चिलचिलाती धूप में चलते हुए एक ही बात उसके मन में बार-बार उठ रही थी, काम हो जाए, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, बस, काम हो जाए।

उससे एक दिन पहले, तहसीलदार की कचहरी में तीन-तीन कारिंदों को रिश्वत देने के बावजूद उसका काम नहीं हो पाया था। कभी किसी चपरासी की टुड्डी पर हाथ रखकर उसकी मिन्नत-समागत करता रहा था, तो कभी किसी क्लर्क-कारिंदे को सिगरेट पेश करके! जब धूप ढलने को आई थी, कचहरी के आँगन में वीरानी छाने लगी थी और वह तीनों कारिंदों की जेब में पैसे ढूँँस चुका था, फिर भी उसका काम हो पाने के कोई आसार नजर नहीं आ रहे थे तो वह दफ्तर की सीढ़ियों पर आ बैठा था। वह थक गया था और उसके मुँह में कड़वाहट भरने लगी थी। उसने सिगरेट सुलगा ली थी, यह जानते हुए कि भूखे पेट, धुआँ सीधा उसके फेफड़ों में जाएगा। तभी सिगरेट के कश लेते हुए वह अपनी फूहड़ स्थिति के बारे में सोचने लगा था। अब तो भ्रष्टाचार पर से भी विश्वास उठने लगा है, उसने मन-ही-मन कहा, पहले इतना तो था कि किसी की मुट्ठी गर्म करो तो काम हो जाता था, अब तो उसकी भी उम्मीद नहीं रह गई है और यह वाक्य बार-बार उसके मन में घूमता रहा था।

तभी उसे इस सारी दौड़-धूप की निरर्थकता का भास होने लगा था: यह मैं क्या कर रहा हूँ? मैं 73 वर्ष का हो चला हूँ, अगर जमीन का टुकड़ा भी मिल गया, उसका स्वामित्व भी मेरे हक में बहाल कर दिया गया, तो भी वह मेरे किस काम का? जिंदगी के कितने दिन मैं उसका उपभोग कर पाऊँगा? बीस साल पहले यह मुकदमा शुरू हुआ था, तब मैं मनसूबे बाँध सकता था, भविष्य के बारे में सोच सकता था, इस पुश्तैनी जमीन को लेकर सपने भी बुन सकता था, कि यहाँ छोटा-सा घर बनाऊँगा, आँगन में फलों के पेड़ लगाऊँगा, पेड़ों के साए के नीचे हरी-हरी घास पर बैठा करूँगा। पर अब? अब्वल तो यह जमीन का टुकड़ा अभी भी आसानी से मुझे नहीं मिलेगा। घुसपैठिए को इसमें से निकालना खालाजी का घर नहीं है। मैं घूस दे सकता हूँ तो क्या घुसपैठिया घूस नहीं दे सकता, या नहीं देता होगा? भले ही फैसला मेरे हक में हो चुका है, वह दस तिकड़मं करेगा। पिछले बीस साल में कितने उतार-चढ़ाव आए हैं, कभी फैसला मेरे हक में होता तो वह अपील करता, अगर उसके हक में होता तो मैं अपील करता, इसी में जिंदगी के बीस साल निकल गए और अब 73 साल की उम्र में मैं उस पर क्या घर बनाऊँगा? मकान बनाना कौन-सा आसान काम है? और किसे पड़ी है कि मेरी मदद करे? अगर बना भी लूँ तो भी मकान तैयार होते-होते मैं 75 पार कर चुका होऊँगा। मेरे वकील की उम्र इस समय 80 साल की है और वह बौराया-सा घूमने लगा है। बोलने लगता है तो बोलना बंद ही नहीं करता।

उसकी सूझ-बूझ भी शिथिल हो चली है, बैठा-बैठा अपनी धुँधलाई आँखों से शून्य में ताकने लगता है। कहता है उसे पेचिश की पुरानी तकलीफ भी है, घुटनों में भी गठिया है। वह आदमी 80 वर्ष की उम्र में इस हालत में पहुँच चुका है, तो इस उम्र तक पहुँचते-पहुँचते मेरी क्या गति होगी? मकान बन भी गया तो मेरे पास जिंदगी के तीन-चार वर्ष बच रहेंगे, क्या इतने-भर के लिए अपनी हड्डियाँ तोड़ता फिरूँ? क्यों नहीं मैं इस पचड़े में से निकल आता? मुझसे ज्यादा समझदार तो मेरा वह वकील ही है, जिसने अपनी स्थिति को समझ लिया है और मेरे साथ तहसील-कचहरी जाने से इनकार कर दिया है। 'बस, साहिब, मैंने अपना काम पूरा कर दिया है, आप मुकदमा जीत गए हैं, अब जमीन पर कब्जा लेने का काम आप खुद सँभालें।' उसने दो टूक कह दिया था। ...यही कुछ सोचते-सोचते, उसने फिर से सिर झटक दिया था। क्या मैं यहाँ तक पहुँच कर किनारा कर जाऊँ? जमीन को घुसपैठिए के हाथ सौंप दूँ? यह बुजदिली नहीं होगी तो क्या होगा? किसी को अपनी जमीन मुफ्त में क्यों हड़पने दूँ? क्या मैं इतना गया-बीता हूँ कि मेरे जीते-जी, कोई आदमी मेरी पुश्तैनी जमीन छीन ले जाए और मैं खड़ा देखता रहूँ? और अब तो फ़ैसला हो चुका है, अब तो इसे केवल हल्का-सा धक्का देना बाकी है। तहसील के कागजात मिल जाएँ, इंतकाल की नकलें मिल जाएँ, फिर रास्ता खुलने लगेगा, मंजिल नजर आने लगेगी। ...सोचते-सोचते एक बार फिर उसने अपना सिर झटक दिया। ऐसे मौके पहले भी कई बार आ चुके थे। तब भी यही कहा करता था, एक बार फ़ैसला हक में हो जाए तो रास्ता साफ हो जाएगा। पर क्या बना? बीस साल गुजर गए, वह अभी भी कचहरियों की खाक छान रहा है। ...'साँप के मुँह में छछूँदर, खाए तो मरे, छोड़े तो अंधा हो।' न तो मैं इस पचड़े से निकल सकता हूँ, न ही इसे छोड़ सकता हूँ।

डिप्टी कमिश्नर दफ्तर में नहीं था। वही बात हुई। किसी ने बताया कि वह किसी मीटिंग में गया है, कुछ मालूम नहीं कब लौटेगा, लौटेगा भी या नहीं।

वह चुपचाप एक बेंच पर जा बैठा, कल ही की तरह सिगरेट सुलगाई और अपने भाग्य को कोसने लगा। मैं काम करना नहीं जानता, छोटे-छोटे कामों के लिए खुद भागता फिरता हूँ। ये काम मिलने-मिलाने से होते हैं, खुद मारे-मारे फिरने से नहीं, मैं खुद मुँह बाए कभी तहसील में तो कभी जिला कचहरी में धूल फाँकता फिरता हूँ। मेरी जगह कोई और होता तो दस तरकीबें सोच निकालता। सिफारिश डलवाने से लोगों के बीसियों काम हो जाते हैं और मैं यहाँ मारा-मारा फिर रहा हूँ।

तब डिप्टी कमिश्नर के चपरासी ने भी कह दिया था कि अब साहिब नहीं आएँगे और दफ्तर के बाहर, दरख्वास्तियों के लिए रखा बेंच उठाकर अंदर ले गया था। उधर कचहरी का जमादार बरामदे और आँगन बुहारने लगा था। सारा दिन यों बर्बाद होता देखकर वह मन ही मन तिलमिला उठा था। आग की लपट की तरह एक टीस-सी उसके अंदर उठी थी, हार तो मैं नहीं मानूँगा, मैं भी अपनी जमीन छोड़ने वाला नहीं हूँ, मैं भी हठ पकड़ लूँगा, इस काम से चिपक जाऊँगा, ये लोग मुझे कितना ही झिंझोड़ें, मैं छोड़ूँगा नहीं, इसमें अपने दाँत गाड़ दूँगा, जब तक काम पूरा नहीं हो जाता, मैं छोड़ूँगा नहीं...

वह मन-ही-मन जानता था कि मन में से उठने वाला यह आवेग उसकी असमर्थता का ही द्योतक था कि जब भी उसे कोई रास्ता नहीं सूझता, तो वह ढिंढाई का दामन पकड़ लेता है, इस तरह वह अपने डूबते आत्मविश्वास को धृष्टता द्वारा जीवित रख पाने की कोशिश करता रहता है।

पर उस दिन सुबह, जिला कचहरी की ओर जाने से पहले उसकी मनःस्थिति बिल्कुल दूसरी थी। तब वह आश्वस्त महसूस कर रहा था, नहा-धोकर, ताजादम घर से निकला था और उसे पता चला था कि डिप्टी कमिश्नर दफ्तर में मिलेगा, कि वह भला आदमी है, मुंसिफ-मिजाज है और फिर उसका तो काम भी मामूली-सा है, अगर उससे बात हो गई और उसने हुक्म दे दिया तो पलक मारते ही काम हो जाएगा। शायद इसीलिए जब वह घर से निकला था तो आसपास का दृश्य उसे एक तस्वीर जैसा सुंदर लगा था, जैसे माहौल में से बरसों की धुंध छँट गई हो और विशेष रोशनी-सी चारों ओर छिटक गई हो, एक हल्की-सी झिलमिलाहट, जिसमें एक-एक चीज-नदी का पाट, उस पर बना सफेद डँडहरों वाला पुल और नदी के किनारे खड़े ऊँचे-ऊँचे भरे-पूरे पेड़, सभी निखर उठे थे। सड़क पर जाती युवतियों के चेहरे खिले-खिले। हर इमारत निखरी-निखरी, सुबह की धूप में नहाई और इसी मनःस्थिति में वह उस बस में बैठ गया था जो उसे शहर के बाहर दूर, डिप्टी कमिश्नर के दफ्तर की ओर ले जाने वाली थी।

फिर शहर में से निकल जाने पर, वह बस किसी घने झुरमुट के बीच, स्वच्छ, निर्मल जल के एक नाले के साथ-साथ चली जा रही थी। उसने झाँककर, बस की खिड़की में से बाहर देखा था। एक जगह पर नाले का पाट चौड़ा हो गया था और पानी की सतह पर बहुत-सी बतखें तैर रही थीं, जिससे नाले के जल में लहरियाँ उठ रही थीं। किनारे पर खड़े बेंत के छोटे-छोटे पेड़

पानी की सतह पर झुके हुए थे और उनका साया जालीदार चादर की तरह पानी की सतह पर थिरक रहा था। अब बस किसी छोटी-सी बस्ती को लाँघ रही थी। बस्ती के छोटे-छोटे बच्चे, नंगे बदन, नाले में डुबकियाँ लगा रहे थे। उसकी नजर नाले के पार, बस्ती के एक छोटे से घर पर पड़ी जो नाले के किनारे पर ही, लकड़ी के खम्भों पर खड़ा था, उसकी खिड़की में एक सुंदर-सी कश्मीरी लड़की, अपनी छोटी बहिन को सामने बैठाए उसके बालों में कंधी कर रही थी। थोड़ी देर के लिए ही यह दृश्य उसकी आँखों के सामने रहा था और फिर बस आगे बढ़ गई थी। पर उसे देख कर उसके दिल में स्फूर्ति की लहर दौड़ गई थी... एक छोटा-सा घर तो बन ही सकता है। मन में एक बार निश्चय कर लो तो, जैसे-तैसे, काम पूरा हो ही जाता है। बंत के पेड़ के नीचे, आँगन में, कुर्सी बिछाकर बैठा करूँगा, पेड़ों की पाँत के नीचे, मैं और मेरी पत्नी घूमने जाया करेंगे। पेड़ों पर से झरते पत्तों के बीच कदम बढ़ाते हुए, मैं हाथ में छड़ी लेकर चलूँगा, मोटे तले के जूते पहनूँगा और ठंडी-ठंडी हवा गालों को थपथपाया करेगी। जिंदगी-भर की थकान दूर हो जाएगी ...मकान बनाना क्या मुश्किल है! क्या मेरी उम्र के लोग काम नहीं करते? वे फ़ैक्टरियाँ चलाते हैं, नई फ़ैक्टरियाँ बनाते हैं, मरते दम तक अपना काम बढ़ाते रहते हैं।

पर अब, ढलती दोपहर में, खचाखच भरी बस में हिचकोले खाता हुआ, बेसुध-सा, शून्य में देखता हुआ, वह घर लौट रहा था। पिंडलियाँ दुख रही थीं और मुँह का जायका कड़वा हो रहा था।

उसे फिर झुँझलाहट हुई अपने पर, अपने वकील पर जिसने ऐन आड़े वक्त में मुकदमे पर पीठ फेर ली थी, अपनी सगे-संबंधियों पर, जिनमें से कोई भी हाथ बँटाने के लिए तैयार नहीं था। मैं ही मारा-मारा फिर रहा हूँ। सबसे अधिक उसे अपने पर क्रोध आ रहा था, अपनी अकर्मण्यता पर, अपने दबू स्वभाव पर, अपनी असमर्थता पर।

बस में से उतरते ही उसने सीधे अपने वकील के पास जाने का फ़ैसला किया। वह अंदर-ही-अंदर बौखलाया हुआ था। फीस लेते समय तो कोई कसर नहीं छोड़ते, दस की जगह सौ माँगते हैं और काम के वक्त पीठ मोड़ लेते हैं। तहसीलों में धक्के खाना क्या मेरा काम है? क्या मैंने तुम्हें उजरत नहीं दी?

कमिश्नरी का बड़ा फाटक लाँघकर वह बाएँ हाथ को मुड़ गया, जहाँ कुछ दूरी पर, अर्जिनवीसों की पाँत बैठती थी। बूढ़ा वकील कुछ मुद्दत से अब यहीं बैठने लगा था। उसने नजर उठाकर देखा, छोटे-से लकड़ी के खोखे में वह बड़े

इत्मीनान से लोहे की कुर्सी पर बैठा था। उसका चौड़ा चेहरा दमक रहा था और सिर के गिने-चुने बाल बिखरे हुए थे। उसे लगा जैसे बूढ़े वकील ने नया सूट पहन रखा है और उसके काले रंग के जूते चमक रहे हैं।

वह अपने बोझिल पाँव घसीटता, धीरे-धीरे चलता हुआ, वकील के खोखे के सामने जा पहुँचा। बूढ़ा वकील कागजों पर झुका हुआ था और एक नोटरी की हैसियत से अर्जियों पर किए गए दस्तखतों की तसदीक कर रहा था और नीचे, जमीन पर खड़ा, उधेड़ उम्र का उसका कारिंदा, हाथ में नोटरी की मोहर उठाए, एक-एक दर्खास्त पर दस्तखत हो जाने पर, ठप्पा लगा रहा था।

“आज भी कुछ काम नहीं हुआ,” खोखे के सामने पहुँचते ही, उसने करीब-करीब चिल्लाकर कहा। वकील को यों आराम से बैठा देखकर उसका गुस्सा भड़क उठा था। खुद तो कुर्सी पर मजे से बैठा, दस्तखतों की तसदीक कर रहा है और पैसे बटोर रहा है, जबकि मैं तहसीलों की धूल फाँक रहा हूँ।

वकील ने सिर उठाया, उसे पहचानते ही मुस्कराया। वकील ने उसका वाक्य सुन लिया था।

“मैंने कहा था ना?” वकील अपनी जानकारी बघारते हुए बोला, “तहसीलों में दस-दस दिन लटकाए रखते हैं। मैं आजिज आ गया था, इसीलिए आपसे कह दिया था कि अब मैं यह काम नहीं करूँगा।”

“आप नहीं करेंगे तो क्या मैं तहसीलों की खाक छानता फिरूँगा?” उसने खीझकर कहा।

“यह काम मैं नहीं कर सकता। यह काम जमीन के मालिक को ही करना होता है।”

उसका मन हुआ बूढ़े वकील से कहे, बरसों तक तुम इस मुकदमे की पैरवी करते रहे हो। मैं तुम्हें मुँह-माँगी उजरत देता रहा हूँ और अब, जब आड़ा वक्त आया है तो तुम इस काम से किनारा कर रहे हो और मुझसे कह रहे हो कि जमीन के मालिक को ही यह काम करना होता है।

पर उसने अपने को रोक लिया, मन में उठती खीझ को दबा लिया। बल्कि बड़ी संयत, सहज आवाज में बोला, “वकील साहिब, आप मुकदमे के एक-एक नुक्ते को जानते हैं। आपकी कोशिशों से हम यहाँ तक पहुँचे हैं। अब इसे छोटा-सा धक्का और देने की जरूरत है और वह आप ही दे सकते हैं।”

पर बूढ़े वकील ने मुँह फेर लिया। उसकी उपेक्षा को देखते हुए वह मन-ही-मन फिर तमक उठा। पर उसकी नजर वकील के चेहरे पर थी-80

साल का बूढ़ा शून्य में देखे जा रहा था। अपने दम-खम के बावजूद वकील की आँखें धुँधला गई थीं और बैठे-बैठे अपने आप उसका मुँह खुल जाता था। इस आदमी से यह उम्मीद करना कि यह तहसीलों-कचहरियों के चक्कर काटेगा, बड़ी-बेइनसाफी-सा लगता था और अगर काटेगा भी तो कितने दिन तक काट पाएगा?

उसे फिर अपनी निःसहायता का भास हुआ। कोई भी और आदमी नहीं था जो इसका बोझ बाँट सके, उसे साँस तक ले पाने की मोहलत दे सके। बेटे थे तो एक बंबई में जा बैठा तो दूसरा अंबाला में और मैं इस उम्र में श्रीनगर में झूख मार रहा हूँ। मैं आज हूँ, कल नहीं रहूँगा। मैं आँखे बंद कर लूँगा तो अपने आप जमीन का मसला सुलझाते फिरेंगे।

“वकील साहिब, आप ही इस नाव को पार लगा सकते हैं।” उसने कहना शुरू ही किया था कि वकील झट से बोला, “मैं कहीं नहीं जा पाऊँगा, आप मुझे माफ करें, अब यह मेरे बस का नहीं है।”

फिर अपने खोखे की ओर इशारा करते हुए बोला, “आपने देख लिया यह काम कैसा है। यहाँ से मैं अगर एक घंटे के लिए भी उठ जाऊँ तो कोई दूसरा नोटरी मेरी कुर्सी पर आकर बैठ जाएगा।”

फिर क्षीण-सी हँसी हँसते हुए कहने लगा, “सभी इस ताक में बैठे हैं कि कब बूढ़ा मरे और वे उसकी कुर्सी सँभालें... मैं अपना अड्डा नहीं छोड़ सकता। मेरी उम्र ज्यादा हो चुकी है और यहाँ पर बिना भाग-दौड़ के मुझे दो पैसे मिल जाते हैं, बुढ़ापे में यही काम कर सकता हूँ।”

“मुश्किल काम तो हो गया, वकील साहिब, अब तो छोटा-सा काम बाकी है।”

“छोटा-सा काम बाकी है?” वकील तुनककर बोला, “जमीन का कब्जा हासिल करना क्या छोटा-सा काम है? यह सबसे मुश्किल काम है।”

“सुनिए, वकील साहिब...” उसने कहना शुरू ही किया था कि वकील ने हाथ जोड़ दिए, “आप मुझे माफ करें, मैं कहीं नहीं जा पाऊँगा...”

सहसा, वकील के चेहरे की ओर देखते हुए एक बात उसके दिमाग में कौंध गई। वह ठिठक गया और कुछ देर तक ठिठका खड़ा रहा, फिर वकील से बोला, “नहीं, वकील साहिब, मैं तो कुछ और ही कहने जा रहा था।”

“कहिए, आप क्या कहना चाहते हैं?”

वह क्षण भर के लिए फिर सोच में पड़ गया, फिर छट से बोला, “अगर आप जमीन पर कब्जा हासिल करने की सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लें, तो कब्जा मिलने पर मैं आपको जमीन का एक-तिहाई हिस्सा दे दूँगा।”

उसने आँख उठाकर बूढ़े वकील की ओर देखा। वकील जैसे सकते में आ गया था और उसका मुँह खुलकर लटक गया था।

“पर इस शर्त पर कि अब इस काम में मैं खुद कुछ नहीं करूँगा। सब काम आप ही करेंगे।” वह कहता जा रहा था।

“मैंने तो अर्ज किया न, मेरी मजबूरी है।..” बूढ़ा वकील बुदबुदाया।

“आप सोच लीजिए। एक तिहाई जमीन का मतलब है करीब चार लाख रुपए..”

यह विचार उसे अचानक ही सूझ गया था, मानो जैसे कौंध गया हो। अपनी विवशता के कारण रहा हो, या दबी-कुचली व्यवहार-कुशलता का कोई अधमरा अंकुर सहसा फूट निकला हो। पर इससे उसका जेहन खुल-सा गया था।

“आप नहीं कर सकते तो मैं आपको मजबूर नहीं करना चाहता। आप किसी अच्छे वकील का नाम तो सुझा सकते हैं, जो दौड़धूप कर सकता हो। मुकदमे की स्थिति आप उसे समझा सकते हैं”, उसने अपनी व्यवहार-कुशलता का एक और तीर छोड़ते हुए कहा, “आप मुकदमे को यहाँ तक ले आए, यही बहुत बड़ी बात है।”

उसने बूढ़े वकील के चेहरे की ओर फिर से देखा। बूढ़े वकील का मुँह अभी भी खुला हुआ था और वह उसकी ओर एकटक देखे जा रहा था।

“अब कोई वकील ही यह काम करेगा...”

बूढ़े वकील की आँखों में हल्की-सी चमक आ गई थी और उसका मुँह बंद हो गया था।

“मैं आपसे इसलिए कह रहा हूँ कि केस की सारी मालूमात आपको है। अपना सुझाव सबसे पहले आपके सामने रखना तो मेरा फर्ज बनता है। आपके लिए कुछ भी मुश्किल नहीं है और अदालत का फैसला हमारे हक में हो चुका है। अब केवल कब्जा लेना बाकी है।..”

अपनी बात का असर बूढ़े वकील के चेहरे पर होता देखकर, वह मन-ही-मन बुदबुदाया: ‘लगता है तीर निशाने पर बैठा है।’

“लेकिन मैं अपने पल्लू से अब और कुछ नहीं दूँगा। न पैसा, न फीस, न मुआवजा, कुछ भी नहीं। बस, एक-तिहाई जमीन आपकी होगी और शेष मेरी...”

बोलते हुए उसे लगा जैसे उसके शरीर में ताकत लौट आई है और आत्मविश्वास लहराने लगा है। उसे लगा जैसे अगर वह इस वक्त चाहे तो भाषण दे सकता है।

“पटवारी, तहसीलदार, घुसपैठिया, जिस किसी को कुछ देना होगा तो आप ही देंगे...”

फिर बड़े ड्रामाई अंदाज में वह चलने को हुआ और धीरे-धीरे बड़े फाटक की ओर कदम बढ़ाने लगा।

“अपना फैसला आज शाम तक मुझे बता दें,” फिर, पहले से भी ज्यादा ड्रामाई अंदाज में बोला, “अगर मंजूर हो तो मैं अभी मुआहिदे पर दस्तखत करने के लिए तैयार हूँ।”

और बिना उत्तर का इंतजार किए, बड़े फाटक की ओर बढ़ गया।

दूसरे दिन, अपनी मृत्यु के कुछ ही देर पहले, वह पार्क में, एक बेंच पर बैठा, हल्की-हल्की धूप का आनंद ले रहा था और पिछले दिनों की थकान उतार रहा था। वह मन-ही-मन बड़ा आश्चर्य था कि उसे एक बहुत बड़े बोझ से छुटकारा मिल गया है। अब वह चैन से बैठ सकता है और फिर से भविष्य के सपने बुन सकता है।

इस प्रस्ताव ने दोनों बूढ़ों की भूमिका बदल दी थी। जिस समय वह धूप में बैठा अधमुँदी आखों से हरी-हरी घास पर चमकते ओस के कण देख रहा था, उसी समय तहसील की ओर जाने वाली खचाखच भरी बस में, डँडहरे को पकड़कर खड़ा वकील अपना घर बनाने के मनसूबे बाँध रहा था। दिल में रह-रहकर गुदगुदी-सी उठती थी। जिंदगी-भर किराए के मकान में, तीसरी मंजिल पर टँगा रहा हूँ। किसी से कहते भी शर्म आती है कि सारी उम्र काम करने के बाद भी अपना घर तक नहीं बना पाया। बेटे बड़े हो गए हैं और दिन-रात शिकायत करते हैं कि तुमने हमारे लिए क्या किया है? ...इधर खुली जमीन होगी, छोटा-सा आँगन होगा, दो-तीन पेड़ फलों के लगा लेंगे, छोटी-सी फुलवाड़ी बना लेंगे। जिंदगी के बचे-खुचे सालों में, कम-से-कम रहने को तो खुली जगह होगी, सँकरी गली में, तीसरी मंजिल पर लटकते तो नहीं रहेंगे... एक स्फूर्ति की लहर, पुलकन-सी, एक झुरझुरी-सी उसके बदन में उठी और सरसराती हुई, सीधी, रीढ़ की हड्डी के रास्ते सिर तक जा पहुँची। खुली जमीन का एक टुकड़ा, लाखों की लागत का, बैठे-बिठाए, मुफ्त में मिल जाएगा, न

हींग लगे, न फिटकरी। अच्छा हुआ जो लिखा-पढ़ी भी हो गई, मुक्किल को दोबारा सोचने का मौका ही नहीं मिला।

इस गुदगुदी में वह बस पर चढ़ा था। पर कुछ फासला तय कर चुकने पर, बस में खड़े-खड़े बूढ़े वकील की कमर दुखने लगी थी। अस्सी साल के बूढ़े के लिए बस के हिचकोलों में अपना संतुलन बनाए रखना कठिन हो रहा था। दो बार वह गिरते-गिरते बचा था। एक बार तो वह, नीचे सीट पर बैठी एक युवती की गोद में जा गिरा था, जिस पर आसपास के लोग ठहाका मारकर हँस दिए थे। पाँच बार-बार लड़खड़ा जाते थे, पर मन में गुदगुदी बराबर बनी हुई थी।

पर कुछ ही देर बाद, बस में खड़े रहने के कारण, घुटनों में दर्द अब बढ़ेगा। तहसील अभी दूर है और वहाँ पहुँचते-पहुँचते मैं परेशान हो उठूँगा। दर्द बढ़ने लगा और कुछ ही देर बाद उसे लगने लगा जैसे किसी जंतु ने अपने दाँत उसके शरीर में गाड़ दिए और उसे झिंझोड़ने लगा है। न जाने तहसील तक पहुँचने-पहुँचते मेरी क्या हालत होगी? ...बैठे-बिठाए मुसीबत मोल ले ली। जाए भाड़ में जमीन का मालिक और वह जहाँ पर खड़ा था, वहीं घुटने पकड़कर बस के फर्श पर, हाय-हाय करता बैठ गया।

उस समय बस, उस बस्ती को पार कर रही थी, जहाँ बेंत के पेड़ों के झुरमुट के बीच, नाले के किनारे-किनारे सड़क चलती जा रही थी और जहाँ पानी की सतह पर लहरियाँ बनाती हुई, बतखें आज भी तैर रही थीं।

उधर, पार्क के बेंच पर बैठा जमीन का मालिक, थकान दूर हो जाने पर, धीरे-धीरे ऊँघने लगा था, उसकी मौत को कुछ ही मिनट बाकी रह गए थे। वह अभी भी आश्वस्त महसूस कर रहा था, चलो, इस सारी चख-चख और फजीहत में से निकल आया हूँ। उसे यह सोचकर सुखद-सा अनुभव हुआ कि वह आराम से बेंच पर बैठा सुस्ता रहा है, जबकि वकील इस समय तहसील में जमीन के कागज निकलवाने के लिए भटक रहा है। ...पर जमीन का ध्यान आते ही उसके मन को धक्का-सा लगा। सहसा ही वह चौंककर उठ बैठा। यह मैं क्या कर बैठा हूँ? एक तिहाई जमीन दे दी? अदालत का फैसला तो मेरे हक में हो चुका है। अब तो केवल कब्जा लेना बाकी था। जमीन तो मुझे मिल ही जाती। लारखों की जमीन उसके हवाले कर दी और लिखत भी दे दी। कहाँ तो वकील को ज्यादा-से-ज्यादा पाँच सौ-हजार की फीस दिया करता था, वह भी चौथे-पाँचवें महीने और कहाँ एक-तिहाई जमीन ही दे दी। लूट कर ले गया, बैठे-बिठाए लूट कर ले गया। उसके मन में चीख-सी उठी। यह मैं क्या कर बैठा हूँ? न किसी

से पूछा, न बात की। देना ही था तो एकमुश्त कुछ रकम देने का वादा कर देता। अपनी जमीन कौन देता है? बैठे-बिठाए मैंने कागज पर-वह भी स्टॉप पेपर पर दस्तखत कर दिए। यह मैं क्या कर बैठा हूँ? और स्टॉप पेपर की तस्वीर आँखों के सामने खिंच गई। तभी कहीं से जोर का धक्का आया और दर्द-सा उठा, पहले एक बार, फिर दूसरी बार, फिर तीसरी बार और वह बेंच पर से लुढ़ककर, नीचे, ओस से सनी, हरी-हरी घास पर, आँधे मुँह जा गिरा।

अमृतसर आ गया है—

भीष्म साहनी

गाड़ी के डिब्बे में बहुत मुसाफिर नहीं थे। मेरे सामने वाली सीट पर बैठे सरदार जी देर से मुझे लाम के किस्से सुनाते रहे थे। वह लाम के दिनों में बर्मा की लड़ाई में भाग ले चुके थे और बात-बात पर खी-खी करके हँसते और गोरे फौजियों की खिल्ली उड़ाते रहे थे। डिब्बे में तीन पठान व्यापारी भी थे, उनमें से एक हरे रंग की पोशाक पहने ऊपरवाली बर्थ पर लेटा हुआ था। वह आदमी बड़ा हँसमुख था और बड़ी देर से मेरे साथवाली सीट पर बैठे एक दुबले-से बाबू के साथ उसका मजाक चल रहा था। वह दुबला बाबू पेशावर का रहने वाला जान पड़ता था क्योंकि किसी-किसी वक्त वे आपस में पश्तो में बातें करने लगते थे। मेरे सामने दाईं ओर कोने में, एक बुढ़िया मुँह-सिर ढाँपे बैठा थी और देर से माला जप रही थी। यही कुछ लोग रहे होंगे। संभव है दो-एक और मुसाफिर भी रहे हों, पर वे स्पष्टतः मुझे याद नहीं।

गाड़ी धीमी रफ्तार से चली जा रही थी और गाड़ी में बैठे मुसाफिर बतिया रहे थे और बाहर गेहूँ के खेतों में हल्की-हल्की लहरियाँ उठ रही थीं और मैं मन-ही-मन बड़ा खुश था क्योंकि मैं दिल्ली में होने वाला स्वतंत्रता-दिवस समारोह देखने जा रहा था।

उन दिनों के बारे में सोचता हूँ, तो लगता है, हम किसी झुटपुटे में जी रहे हैं। शायद समय बीत जाने पर अतीत का सारा व्यापार ही झुटपुटे में बीता जान पड़ता है। ज्यों-ज्यों भविष्य के पट खुलते जाते हैं, यह झुटपुटा और भी गहराता चला जाता है।

उन्हीं दिनों पाकिस्तान के बनाए जाने का ऐलान किया गया था और लोग तरह-तरह के अनुमान लगाने लगे थे कि भविष्य में जीवन की रूपरेखा कैसी होगी। पर किसी की भी कल्पना बहुत दूर तक नहीं जा पाती थी। मेरे सामने बैठे सरदार जी बार-बार मुझसे पूछ रहे थे कि पाकिस्तान बन जाने पर

जिन्ना साहिब बंबई में ही रहेंगे या पाकिस्तान में जा कर बस जाएँगे और मेरा हर बार यही जवाब होता-बंबई क्यों छोड़ेंगे, पाकिस्तान में आते-जाते रहेंगे, बंबई छोड़ देने में क्या तुक है! लाहौर और गुरदासपुर के बारे में भी अनुमान लगाए जा रहे थे कि कौन-सा शहर किस ओर जाएगा। मिल बैठने के ढंग में, गप-शप में, हँसी-मजाक में कोई विशेष अंतर नहीं आया था। कुछ लोग अपने घर छोड़ कर जा रहे थे, जबकि अन्य लोग उनका मजाक उड़ा रहे थे। कोई नहीं जानता था कि कौन-सा कदम ठीक होगा और कौन-सा गलत। एक ओर पाकिस्तान बन जाने का जोश था तो दूसरी ओर हिंदुस्तान के आजाद हो जाने का जोश। जगह-जगह दंगे भी हो रहे थे और योम-ए-आजादी की तैयारियाँ भी चल रही थीं। इस पूष्ठभूमि में लगता, देश आजाद हो जाने पर दंगे अपने-आप बंद हो जाएँगे। वातावरण में इस झुटपुट में आजादी की सुनहरी धूल-सी उड़ रही थी और साथ-ही-साथ अनिश्चय भी डोल रहा था और इसी अनिश्चय की स्थिति में किसी-किसी वक्त भावी रिशतों की रूपरेखा झलक दे जाती थी।

शायद जेहलम का स्टेशन पीछे छूट चुका था जब ऊपर वाली बर्थ पर बैठे पठान ने एक पोटली खोल ली और उसमें से उबला हुआ मांस और नान-रोटी के टुकड़े निकाल-निकाल कर अपने साथियों को देने लगा। फिर वह हँसी-मजाक के बीच मेरी बगल में बैठे बाबू की ओर भी नान का टुकड़ा और मांस की बोटी बढ़ा कर खाने का आग्रह करने लगा था-‘का ले, बाबू, ताकत आएगी। अम जैसा ओ जाएगा। बीवी बी तेरे सात कुश रएगी। काले दालकोर, तू दाल काता ए, इसलिए दुबला ए...’

डिब्बे में लोग हँसने लगे थे। बाबू ने पश्तो में कुछ जवाब दिया और फिर मुस्कराता सिर हिलाता रहा।

इस पर दूसरे पठान ने हँस कर कहा-‘ओ जालिम, अमारे हाथ से नई लेता ए तो अपने हाथ से उठा ले। खुदा कसम बकरे का गोश्त ए और किसी चीज का नईए।’

ऊपर बैठा पठान चहक कर बोला-‘ओ खंजीर के तुम, इदर तुमें कौन देखता ए? अम तेरी बीवी को नई बोलेगा। ओ तू अमारे साथ बोटी तोड़। अम तेरे साथ दाल पिएगा...’

इस पर कहकहा उठा, पर दुबला-पतला बाबू हँसता, सिर हिलाता रहा और कभी-कभी दो शब्द पश्तो में भी कह देता।

‘ओ कितना बुरा बात ए, अम खाता ए और तू अमारा मुँ देखता ए..’ सभी पठान मगन थे।

‘यह इसलिए नहीं लेता कि तुमने हाथ नहीं धोए हैं,’ स्थूलकाय सरदार जी बोले और बोलते ही खी-खी करने लगे! अधलेटी मुद्रा में बैठे सरदार जी की आधी तोंद सीट के नीचे लटक रही थी-‘तुम अभी सो कर उठे हो और उठते ही पोटली खोल कर खाने लग गए हो, इसीलिए बाबू जी तुम्हारे हाथ से नहीं लेते और कोई बात नहीं।’ और सरदार जी ने मेरी ओर देख कर आँख मारी और फिर खी-खी करने लगे।

‘मांस नई खाता ए, बाबू तो जाओ जनाना डब्बे में बैठो, इदर क्या करता ए?’ फिर कहकहा उठा।

डब्बे में और भी अनेक मुसाफिर थे लेकिन पुराने मुसाफिर यही थे जो सफर शुरू होने में गाड़ी में बैठे थे। बाकी मुसाफिर उतरते-चढ़ते रहे थे। पुराने मुसाफिर होने के नाते उनमें एक तरह की बेतकल्लुफी आ गई थी।

‘ओ इदर आ कर बैठो। तुम अमारे साथ बैठो। आओ जालिम, किस्सा-खानी की बातें करेंगे।’

तभी किसी स्टेशन पर गाड़ी रुकी थी और नए मुसाफिरों का रेला अंदर आ गया था। बहुत-से मुसाफिर एक साथ अंदर घुसते चले आए थे।

‘कौन-सा स्टेशन है?’ किसी ने पूछा।

‘वजीराबाद है शायद,’ मैंने बाहर की ओर देख कर कहा।

गाड़ी वहाँ थोड़ी देर के लिए खड़ी रही। पर छूटने से पहले एक छोटी-सी घटना घटी। एक आदमी साथ वाले डिब्बे में से पानी लेने उतरा और नल पर जा कर पानी लोटे में भर रहा था तभी वह भाग कर अपने डिब्बे की ओर लौट आया। छलछलाते लोटे में से पानी गिर रहा था। लेकिन जिस ढंग से वह भागा था, उसी ने बहुत कुछ बता दिया था। नल पर खड़े और लोग भी, तीन-चार आदमी रहे होंगे-इधर-उधर अपने-अपने डिब्बे की ओर भाग गए थे। इस तरह घबरा कर भागते लोगों को मैं देख चुका था। देखते-ही-देखते प्लेटफार्म खाली हो गया। मगर डिब्बे के अंदर अभी भी हँसी-मजाक चल रहा था।

‘कहीं कोई गड़बड़ है,’ मेरे पास बैठे दुबले बाबू ने कहा।

कहीं कुछ था, लेकिन क्या था, कोई भी स्पष्ट नहीं जानता था। मैं अनेक दंगे देख चुका था इसलिए वातावरण में होने वाली छोटी-सी तबदील को भी

भाँप गया था। भागते व्यक्ति, खटाक से बंद होते दरवाजे, घरों की छतों पर खड़े लोग, चुप्पी और सन्नाटा, सभी दंगों के चिह्न थे।

तभी पिछले दरवाजे की ओर से, जो प्लेटफार्म की ओर न खुल कर दूसरी ओर खुलता था, हल्का-सा शोर हुआ। कोई मुसाफिर अंदर घुसना चाह रहा था।

‘कहाँ घुसा आ रहा है, नहीं है, जगह! बोल दिया जगह नहीं है,’ किसी ने कहा।

‘बंद करो जी दरवाजा। यों ही मुँह उठाए घुसे आते हैं।’ आवाजें आ रही थीं।

जितनी देर कोई मुसाफिर डिब्बे के बाहर खड़ा अंदर आने की चेष्टा करता रहे, अंदर बैठे मुसाफिर उसका विरोध करते रहते हैं। पर एक बार जैसे-तैसे वह अंदर जा जाए तो विरोध खत्म हो जाता है और वह मुसाफिर जल्दी ही डिब्बे की दुनिया का निवासी बन जाता है और अगले स्टेशन पर वही सबसे पहले बाहर खड़े मुसाफिरों पर चिल्लाने लगता है—‘नहीं है, जगह, अगले डिब्बे में जाओ... घुसे आते हैं...’

दरवाजे पर शोर बढ़ता जा रहा था। तभी मैले-कुचौले कपड़ों और लटकती मुँहों वाला एक आदमी दरवाजे में से अंदर घुसता दिखाई दिया। चीकट, मैले कपड़े, जरूर कहीं हलवाई की दुकान करता होगा। वह लोगों की शिकायतों-आवाजों की ओर ध्यान दिए बिना दरवाजे की ओर घूम कर बड़ा-सा काले रंग का संदूक अंदर की ओर घसीटने लगा।

‘आ जाओ, आ जाओ, तुम भी चढ़ जाओ! वह अपने पीछे किसी से कहे जा रहा था। तभी दरवाजे में एक पतली सूखी-सी औरत नजर आई और उससे पीछे सोलह-सतरह बरस की साँवली-सी एक लड़की अंदर आ गई। लोग अभी भी चिल्लाए जा रहे थे। सरदार जी को कूल्हों के बल उठ कर बैठना पड़ा।’

‘बंद करो जी दरवाजा, बिना पूछे चढ़े आते हैं, अपने बाप का घर समझ रखा है। मत घुसने दो जी, क्या करते हो, धकेल दो पीछे...’ और लोग भी चिल्ला रहे थे।

वह आदमी अपना सामान अंदर घसीटे जा रहा था और उसकी पत्नी और बेटी संडास के दरवाजे के साथ लग कर खड़े थे।

‘और कोई डिब्बा नहीं मिला? औरत जात को भी यहाँ उठा लाया है?’

वह आदमी पसीने से तर था और हाँफता हुआ सामान अंदर घसीटे जा रहा था। संदूक के बाद रस्सियों से बँधी खाट की पाटियाँ अंदर खींचने लगा।

‘टिकट है, जी मेरे पास, मैं बेटिकट नहीं हूँ।’ इस पर डिब्बे में बैठे बहुत-से लोग चुप हो गए, पर बर्थ पर बैठा पठान उचक कर बोला-‘निकल जाओ इदर से, देखता नई ए, इदर जगा नई ए।’

और पठान ने आव देखा न ताव, आगे बढ़ कर ऊपर से ही उस मुसाफिर के लात जमा दी, पर लात उस आदमी को लगने के बजाए उसकी पत्नी के कलेजे में लगी और वहीं ‘हाय-हाय’ करती बैठ गई।

उस आदमी के पास मुसाफिरों के साथ उलझने के लिए वक्त नहीं था। वह बराबर अपना सामान अंदर घसीटे जा रहा था। पर डिब्बे में मौन छा गया। खाट की पाटियों के बाद बड़ी-बड़ी गठरियाँ आईं। इस पर ऊपर बैठे पठान की सहन-क्षमता चुक गई। ‘निकालो इसे, कौन ए ये?’ वह चिल्लाया। इस पर दूसरे पठान ने, जो नीचे की सीट पर बैठा था, उस आदमी का संदूक दरवाजे में से नीचे धकेल दिया, जहाँ लाल वर्दीवाला एक कुली खड़ा सामान अंदर पहुँचा रहा था।

उसकी पत्नी के चोट लगने पर कुछ मुसाफिर चुप हो गए थे। केवल कोने में बैठों बुढ़िया करलाए जा रही थी-‘ए नेकबख्तो, बैठने दो। आ जा बेटी, तू मेरे पास आ जा। जैसे-तैसे सफर काट लेंगे। छोड़ो बे जालिमो, बैठने दो।’

अभी आधा सामान ही अंदर आ पाया होगा जब सहसा गाड़ी सरकने लगी।

‘छूट गया! सामान छूट गया।’ वह आदमी बदहवास-सा हो कर चिल्लाया।

‘पिताजी, सामान छूट गया।’ संडास के दरवाजे के पास खड़ी लड़की सिर से पाँव तक काँप रही थी और चिल्लाए जा रही थी।

‘उतरो, नीचे उतरो,’ वह आदमी हड़बड़ा कर चिल्लाया और आगे बढ़ कर खाट की पाटियाँ और गठरियाँ बाहर फेंकते हुए दरवाजे का डंडहरा पकड़ कर नीचे उतर गया। उसके पीछे उसकी व्याकुल बेटी और फिर उसकी पत्नी, कलेजे को दोनों हाथों से दबाए हाय-हाय करती नीचे उतर गई।

‘बहुत बुरा क्रिया है तुम लोगों ने, बहुत बुरा क्रिया है।’ बुढ़िया ऊँचा-ऊँचा बोल रही थी -‘तुम्हारे दिल में दर्द मर गया है। छोटी-सी बच्ची उसके साथ थी। बेरहमो, तुमने बहुत बुरा क्रिया है, धक्के दे कर उतार दिया है।’

गाड़ी सूने प्लेटफार्म को लाँघती आगे बढ़ गई। डिब्बे में व्याकुल-सी चुप्पी छा गई। बुढ़िया ने बोलना बंद कर दिया था। पठानों का विरोध कर पाने की हिम्मत नहीं हुई।

तभी मेरी बगल में बैठे दुबले बाबू ने मेरे बाजू पर हाथ रख कर कहा-‘आग है, देखो आग लगी है।’

गाड़ी प्लेटफार्म छोड़ कर आगे निकल आई थी और शहर पीछे छूट रहा था। तभी शहर की ओर से उठते धुएँ के बादल और उनमें लपलपाती आग के शोले नजर आने लगे।

‘दंगा हुआ है। स्टेशन पर भी लोग भाग रहे थे। कहीं दंगा हुआ है।’

शहर में आग लगी थी। बात डिब्बे-भर के मुसाफिरों को पता चल गई और वे लपक-लपक कर खिड़कियों में से आग का दृश्य देखने लगे।

जब गाड़ी शहर छोड़ कर आगे बढ़ गई तो डिब्बे में सन्नाटा छा गया। मैंने घूम कर डिब्बे के अंदर देखा, दुबले बाबू का चेहरा पीला पड़ गया था और माथे पर पसीने की परत किसी मुर्दे के माथे की तरह चमक रही थी। मुझे लगा, जैसे अपनी-अपनी जगह बैठे सभी मुसाफिरों ने अपने आसपास बैठे लोगों का जायजा ले लिया है। सरदार जी उठ कर मेरी सीट पर आ बैठे। नीचे वाली सीट पर बैठा पठान उठा और अपने दो साथी पठानों के साथ ऊपर वाली बर्थ पर चढ़ गया। यही क्रिया शायद रेलगाड़ी के अन्य डिब्बों में भी चल रही थी। डिब्बे में तनाव आ गया। लोगों ने बतियाना बंद कर दिया। तीनों-के-तीनों पठान ऊपरवाली बर्थ पर एक साथ बैठे चुपचाप नीचे की ओर देखे जा रहे थे। सभी मुसाफिरों की आँखें पहले से ज्यादा खुली-खुली, ज्यादा शक्ति-सी लगीं। यही स्थिति संभवतः गाड़ी के सभी डिब्बों में व्याप्त हो रही थी।

‘कौन-सा स्टेशन था यह?’ डिब्बे में किसी ने पूछा।

‘वजीराबाद,’ किसी ने उत्तर दिया।

जवाब मिलने पर डिब्बे में एक और प्रतिक्रिया हुई। पठानों के मन का तनाव फौरन ढीला पड़ गया। जबकि हिंदू-सिक्ख मुसाफिरों की चुप्पी और ज्यादा गहरी हो गई। एक पठान ने अपनी वास्कट की जेब में से नसवार की डिबिया निकाली और नाक में नसवार चढ़ाने लगा। अन्य पठान भी अपनी-अपनी डिबिया निकाल कर नसवार चढ़ाने लगे। बुद्धिया बराबर माला जपे जा रही थी। किसी-किसी वक्त उसके बुदबुदाते होंठ नजर आते, लगता, उनमें से कोई खोखली-सी आवाज निकल रही है।

अगले स्टेशन पर जब गाड़ी रुकी तो वहाँ भी सन्नाटा था। कोई परिंदा तक नहीं फड़क रहा था। हाँ, एक भिश्ती, पीठ पर पानी की मशकल लादे, प्लेटफार्म लाँघ कर आया और मुसाफिरों को पानी पिलाने लगा।

‘लो, पियो पानी, पियो पानी।’ औरतों के डिब्बे में से औरतों और बच्चों के अनेक हाथ बाहर निकल आए थे।

‘बहुत मार-काट हुई है, बहुत लोग मरे हैं। लगता था, वह इस मार-काट में अकेला पुण्य कमाने चला आया है।’

गाड़ी सरकी तो सहसा खिड़कियों के पल्ले चढ़ाए जाने लगे। दूर-दूर तक, पहियों की गड़गड़ाहट के साथ, खिड़कियों के पल्ले चढ़ाने की आवाज आने लगी।

किसी अज्ञात आशंकावश दुबला बाबू मेरे पासवाली सीट पर से उठा और दो सीटों के बीच फर्श पर लेट गया। उसका चेहरा अभी भी मुर्दे जैसा पीला हो रहा था। इस पर बर्थ पर बैठा पठान उसकी ठिठोली करने लगा-‘ओ बेगैरत, तुम मर्द ए कि औरत ए? सीट पर से उट कर नीचे लेटता ए। तुम मर्द के नाम को बदनाम करता ए।’ वह बोल रहा था और बार-बार हँसे जा रहा था। फिर वह उससे पश्तो में कुछ कहने लगा। बाबू चुप बना लेटा रहा। अन्य सभी मुसाफिर चुप थे। डिब्बे का वातावरण बोझिल बना हुआ था।

‘ऐसे आदमी को अम डिब्बे में नई बैठने देगा। ओ बाबू, अगले स्टेशन पर उतर जाओ और जनाना डब्बे में बैठो।’

मगर बाबू की हाज़िरजवाबी अपने कंठ में सूख चली थी। हकला कर चुप हो रहा। पर थोड़ी देर बाद वह अपने आप उठ कर सीट पर जा बैठा और देर तक अपने कपड़ों की धूल झाड़ता रहा। वह क्यों उठ कर फर्श पर लेट गया था? शायद उसे डर था कि बाहर से गाड़ी पर पथराव होगा या गोली चलेगी, शायद इसी कारण खिड़कियों के पल्ले चढ़ाए जा रहे थे।

कुछ भी कहना कठिन था। मुमकिन है किसी एक मुसाफिर ने किसी कारण से खिड़की का पल्ला चढ़ाया हो। उसकी देखा-देखी, बिना सोचे-समझे, धड़ाधड़ खिड़कियों के पल्ले चढ़ाए जाने लगे थे।

बोझिल अनिश्चित-से वातावरण में सफर कटने लगा। रात गहराने लगी थी। डिब्बे के मुसाफिर स्तब्ध और शंकित ज्यों-के-त्यों बैठे थे। कभी गाड़ी की रफ्तार सहसा टूट कर धीमी पड़ जाती तो लोग एक-दूसरे की ओर देखने लगते। कभी रास्ते में ही रुक जाती तो डिब्बे के अंदर का सन्नाटा और भी गहरा हो उठता। केवल पठान निश्चित बैठे थे। हाँ, उन्होंने भी बतियाना छोड़ दिया था, क्योंकि उनकी बातचीत में कोई भी शामिल होने वाला नहीं था।

धीरे-धीरे पठान ऊँघने लगे जबकि अन्य मुसाफिर फटी-फटी आँखों से शून्य में देखे जा रहे थे। बुढ़िया मुँह-सिर लपेटे, टाँगें सीट पर चढ़ाए, बैठी-बैठी सो गई थी। ऊपरवाली बर्थ पर एक पठान ने, अधलेटे ही, कुर्ते की जेब में से काले मनकों की तसबीह निकाल ली और उसे धीरे-धीरे हाथ में चलाने लगा।

खिड़की के बाहर आकाश में चाँद निकल आया और चाँदनी में बाहर की दुनिया और भी अनिश्चित और भी अधिक रहस्यमयी हो उठी। किसी-किसी वक्त दूर किसी ओर आग के शोले उठते नजर आते, कोई नगर जल रहा था। गाड़ी किसी वक्त चिंघाड़ती हुई आगे बढ़ने लगती, फिर किसी वक्त उसकी रफ्तार धीमी पड़ जाती और मीलों तक धीमी रफ्तार से ही चलती रहती।

सहसा दुबला बाबू खिड़की में से बाहर देख कर ऊँची आवाज में बोला-‘हरबंसपुरा निकल गया है।’ उसकी आवाज में उत्तेजना थी, वह जैसे चीख कर बोला था। डिब्बे के सभी लोग उसकी आवाज सुन कर चौंक गए। उसी वक्त डिब्बे के अधिकांश मुसाफिरों ने मानो उसकी आवाज को ही सुन कर करवट बदली।

‘ओ बाबू, चिल्लाता क्यों ए?’ तसबीह वाला पठान चौंक कर बोला-‘इदर उतरेगा तुम? जंजीर खींचूँ?’ और खी-खी करके हँस दिया। जाहिर है वह हरबंसपुरा की स्थिति से अथवा उसके नाम से अनभिज्ञ था।

बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया, केवल सिर हिला दिया और एक-आध बार पठान की ओर देख कर फिर खिड़की के बाहर झाँकने लगा।

डिब्बे में फिर मौन छा गया। तभी इंजन ने सीटी दी और उसकी एकरस रफ्तार टूट गई। थोड़ी ही देर बाद खटाक-का-सा शब्द भी हुआ। शायद गाड़ी ने लाइन बदली थी। बाबू ने झाँक कर उस दिशा में देखा जिस ओर गाड़ी बढ़ी जा रही थी।

‘शहर आ गया है।’ वह फिर ऊँची आवाज में चिल्लाया-‘अमृतसर आ गया है।’ उसने फिर से कहा और उछल कर खड़ा हो गया और ऊपर वाली बर्थ पर लेटे पठान को संबोधित करके चिल्लाया-‘ओ बे पठान के बच्चे! नीचे उतर तेरी माँ की... नीचे उतर, तेरी उस पठान बनाने वाले की मैं...’

बाबू चिल्लाने लगा और चीख-चीख कर गालियाँ बकने लगा था। तसबीह वाले पठान ने करवट बदली और बाबू की ओर देख कर बोला -‘ओ क्या ए बाबू? अमको कुच बोला?’

बाबू को उत्तेजित देख कर अन्य मुसाफिर भी उठ बैठे।

‘नीचे उतर, तेरी मैं... हिंदू औरत को लात मारता है! हरामजादे! तेरी उस..।’

‘ओ बाबू, बक-बकर नई करो। ओ खजीर के तुख्म, गाली मत बको, अमने बोल दिया। अम तुम्हारा जबान खींच लेगा।’

‘गाली देता है मादर...।’ बाबू चिल्लाया और उछल कर सीट पर चढ़ गया। वह सिर से पाँव तक काँप रहा था।

‘बस-बसा।’ सरदार जी बोले-‘यह लड़ने की जगह नहीं है। थोड़ी देर का सफर बाकी है, आराम से बैठो।’

‘तेरी मैं लात न तोड़ूँ तो कहना, गाड़ी तेरे बाप की है?’ बाबू चिल्लाया।

‘ओ अमने क्या बोला! सबी लोग उसको निकालता था, अमने बी निकाला। ये इदर अमको गाली देता ए। अम इसका जबान खींच लेगा।’

बुढ़िया बीच में फिर बोले उठी-‘वे जीण जोगयो, अराम नाल बैठो। वे रब्ब दिए बंदयो, कुछ होश करो।’

उसके होंठ किसी प्रेत की तरह फड़फड़ाए जा रहे थे और उनमें से क्षीण-सी फुसफुसाहट सुनाई दे रही थी।

बाबू चिल्लाए जा रहा था-‘अपने घर में शेर बनता था। अब बोल, तेरी मैं उस पठान बनाने वाले की...।’

तभी गाड़ी अमृतसर के प्लेटफार्म पर रुकी। प्लेटफार्म लोगों से खचाखच भरा था। प्लेटफार्म पर खड़े लोग झाँक-झाँक कर डिब्बों के अंदर देखने लगे। बार-बार लोग एक ही सवाल पूछ रहे थे-‘पीछे क्या हुआ है? कहाँ पर दंगा हुआ है?’

खचाखच भरे प्लेटफार्म पर शायद इसी बात की चर्चा चल रही थी कि पीछे क्या हुआ है। प्लेटफार्म पर खड़े दो-तीन खोमचे वालों पर मुसाफिर टूटे पड़ रहे थे। सभी को सहसा भूख और प्यास परेशान करने लगी थी। इसी दौरान तीन-चार पठान हमारे डिब्बे के बाहर प्रकट हो गए और खिड़की में से झाँक-झाँक कर अंदर देखने लगे। अपने पठान साथियों पर नजर पड़ते ही वे उनसे पश्तो में कुछ बोलने लगे। मैंने घूम कर देखा, बाबू डिब्बे में नहीं था। न जाने कब वह डिब्बे में से निकल गया था। मेरा माथा टिनका। गुम्से में वह पागल हुआ जा रहा था। न जाने क्या कर बैठे! पर इस बीच डिब्बे के तीनों पठान, अपनी-अपनी गठरी उठा कर बाहर निकल गए और अपने पठान साथियों

के साथ गाड़ी के अगले डिब्बे की ओर बढ़ गए। जो विभाजन पहले प्रत्येक डिब्बे के भीतर होता रहा था, अब सारी गाड़ी के स्तर पर होने लगा था।

खोमचे वालों के इर्द-गिर्द भीड़ छँटने लगी। लोग अपने-अपने डिब्बों में लौटने लगे। तभी सहसा एक ओर से मुझे वह बाबू आता दिखाई दिया। उसका चेहरा अभी भी बहुत पीला था और माथे पर बालों की लट झूल रही थी। नजदीक पहुँचा, तो मैंने देखा, उसने अपने दाएँ हाथ में लोहे की एक छड़ उठा रखी थी। जाने वह उसे कहाँ मिल गई थी! डिब्बे में घुसते समय उसने छड़ को अपनी पीठ के पीछे कर लिया और मेरे साथ वाली सीट पर बैठने से पहले उसने हौले से छड़ को सीट के नीचे सरका दिया। सीट पर बैठते ही उसकी आँखें पठान को देख पाने के लिए ऊपर को उठीं। पर डिब्बे में पठानों को न पा कर वह हड़बड़ा कर चारों ओर देखने लगा।

‘निकल गए हरामी, मादर... सब-के-सब निकल गए!’ फिर वह सितपिटा कर उठ खड़ा हुआ चिल्ला कर बोला-‘तुमने उन्हें जाने क्यों दिया? तुम सब नामर्द हो, बुजदिल!’

पर गाड़ी में भीड़ बहुत थी। बहुत-से नए मुसाफिर आ गए थे। किसी ने उसकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

गाड़ी सरकने लगी तो वह फिर मेरी वाली सीट पर आ बैठा, पर वह बड़ा उत्तेजित था और बराबर बड़बड़ाए जा रहा था।

धीरे-धीरे हिचकोले खाती गाड़ी आगे बढ़ने लगी। डिब्बे में पुराने मुसाफिरों ने भरपेट पूरियाँ खा ली थीं और पानी पी लिया था और गाड़ी उस इलाके में आगे बढ़ने लगी थी, जहाँ उनके जान-माल को खतरा नहीं था।

नए मुसाफिर बतिया रहे थे। धीरे-धीरे गाड़ी फिर समतल गति से चलने लगी थी। कुछ ही देर बाद लोग ऊँघने भी लगे थे। मगर बाबू अभी भी फटी-फटी आँखों से सामने की ओर देखे जा रहा था। बार-बार मुझसे पूछता कि पठान डिब्बे में से निकल कर किस ओर को गए हैं। उसके सिर पर जुनून सवार था।

गाड़ी के हिचकोलों में मैं खुद ऊँघने लगा था। डिब्बे में लेट पाने के लिए जगह नहीं थी। बैठे-बैठे ही नौद में मेरा सिर कभी एक ओर को लुढ़क जाता, कभी दूसरी ओर को। किसी-किसी वक्त झटके से मेरी नौद टूटती और मुझे सामने की सीट पर अस्त-व्यस्त से पड़े सरदार जी के खरटे सुनाई देते। अमृतसर पहुँचने के बाद सरदार जी फिर से सामने वाली सीट पर टाँगें पसार कर लेट

गए थे। डिब्बे में तरह-तरह की आड़ी-तिरछी मुद्राओं में मुसाफिर पड़े थे। उनकी बीभत्स मुद्राओं को देख कर लगता, डिब्बा लाशों से भरा है। पास बैठे बाबू पर नजर पड़ती तो कभी तो वह खिड़की के बाहर मुँह किए देख रहा होता, कभी दीवार से पीठ लगाए तन कर बैठा नजर आता।

किसी-किसी वक्त गाड़ी किसी स्टेशन पर रुकती तो पहियों की गड़गड़ाहट बंद होने पर निस्तब्धता-सी छा जाती। तभी लगता, जैसे प्लेटफार्म पर कुछ गिरा है, या जैसे कोई मुसाफिर गाड़ी में से उतरा है और मैं झटके से उठ कर बैठ जाता।

इसी तरह जब एक बार मेरी नींद टूटी तो गाड़ी की रफ्तार धीमी पड़ गई थी और डिब्बे में अँधेरा था। मैंने उसी तरह अधलेटे खिड़की में से बाहर देखा। दूर, पीछे की ओर किसी स्टेशन के सिगनल के लाल कुमकुमे चमक रहे थे। स्पष्टतः गाड़ी कोई स्टेशन लाँघ कर आई थी। पर अभी तक उसने रफ्तार नहीं पकड़ी थी।

डिब्बे के बाहर मुझे धीमे-से अस्फुट स्वर सुनाई दिए। दूर ही एक धूमिल-सा काला पुंज नजर आया। नींद की खुमारी में मेरी आँखें कुछ देर तक उस पर लगी रहीं, फिर मैंने उसे समझ पाने का विचार छोड़ दिया। डिब्बे के अंदर अँधेरा था, बत्तियाँ बुझी हुई थीं, लेकिन बाहर लगता था, पौ फटने वाली है।

मेरी पीठ-पीछे, डिब्बे के बाहर किसी चीज को खरोंचने की-सी आवाज आई। मैंने दरवाजे की ओर घूम कर देखा। डिब्बे का दरवाजा बंद था। मुझे फिर से दरवाजा खरोंचने की आवाज सुनाई दी। फिर, मैंने साफ-साफ सुना, लाठी से कोई डिब्बे का दरवाजा पटपटा रहा था। मैंने झाँक कर खिड़की के बाहर देखा। सचमुच एक आदमी डिब्बे की दो सीढ़ियाँ चढ़ आया था। उसके कंधे पर एक गठरी झूल रही थी और हाथ में लाठी थी और उसने बदरंग-से कपड़े पहन रखे थे और उसके दाढ़ी भी थी। फिर मेरी नजर बाहर नीचे की ओर आ गई। गाड़ी के साथ-साथ एक औरत भागती चली आ रही थी, नंगे पाँव और उसने दो गठरियाँ उठा रखी थीं। बोझ के कारण उससे दौड़ा नहीं जा रहा था। डिब्बे के पायदान पर खड़ा आदमी बार-बार उसकी ओर मुड़ कर देख रहा था और हाँफता हुआ कहे जा रहा था-‘आ जा, आ जा, तू भी चढ़ आ, आ जा!’

दरवाजे पर फिर से लाठी पटपटाने की आवाज आई-‘खोलो जी दरवाजा, खुदा के वास्ते दरवाजा खोलो।’

वह आदमी हाँफ रहा था—‘खुदा के लिए दरवाजा खोलो। मेरे साथ में औरतजात है। गाड़ी निकल जाएगी...’

सहसा मैंने देखा, बाबू हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ और दरवाजे के पास जा कर दरवाजे में लगी खिड़की में से मुँह बाहर निकाल कर बोला—‘कौन है? इधर जगह नहीं है।’

बाहर खड़ा आदमी फिर गिड़गिड़ाने लगा—‘खुदा के वास्ते दरवाजा खोलो। गाड़ी निकल जाएगी...’

और वह आदमी खिड़की में से अपना हाथ अंदर डाल कर दरवाजा खोल पाने के लिए सिटकनी टटोलने लगा।

‘नहीं है, जगह, बोल दिया, उतर जाओ गाड़ी पर से।’ बाबू चिल्लाया और उसी क्षण लपक कर दरवाजा खोल दिया।

‘या अल्लाह! उस आदमी के अस्फुट-से शब्द सुनाई दिए। दरवाजा खुलने पर जैसे उसने इत्मीनान की साँस ली हो।’

और उसी वक्त मैंने बाबू के हाथ में छड़ चमकते देखा। एक ही भरपूर वार बाबू ने उस मुसाफिर के सिर पर किया था। मैं देखते ही डर गया और मेरी टाँगें लरज गईं। मुझे लगा, जैसे छड़ के वार का उस आदमी पर कोई असर नहीं हुआ। उसके दोनों हाथ अभी भी जोर से डंडहरे को पकड़े हुए थे। कंधे पर से लटकती गठरी खिसट कर उसकी कोहनी पर आ गई थी।

तभी सहसा उसके चेहरे पर लहू की दो-तीन धारें एक साथ फूट पड़ीं। मुझे उसके खुले होंठ और चमकते दाँत नजर आए। वह दो-एक बार ‘या अल्लाह!’ बुदबुदाया, फिर उसके पैर लड़खड़ा गए। उसकी आँखों ने बाबू की ओर देखा, अधमुँदी-सी आँखें, जो धीर-धीरे सिकुड़ती जा रही थीं, मानो उसे पहचानने की कोशिश कर रही हों कि वह कौन है और उससे किस अदावत का बदला ले रहा है। इस बीच अँधेरा कुछ और छन गया था। उसके होंठ फिर से फड़फड़ाए और उनमें सफेद दाँत फिर से झलक उठे। मुझे लगा, जैसे वह मुस्कराया है, पर वास्तव में केवल क्षय के ही कारण होंठों में बल पड़ने लगे थे।

नीचे पटरी के साथ-साथ भागती औरत बड़बड़ाए और कोसे जा रही थी। उसे अभी भी मालूम नहीं हो पाया था कि क्या हुआ है। वह अभी भी शायद यह समझ रही थी कि गठरी के कारण उसका पति गाड़ी पर ठीक तरह से चढ़ नहीं पा रहा है, कि उसका पैर जम नहीं पा रहा है। वह गाड़ी के साथ-साथ

भागती हुई, अपनी दो गठरियों के बावजूद अपने पति के पैर पकड़-पकड़ कर सीढ़ी पर टिकाने की कोशिश कर रही थी।

तभी सहसा डंडहरे से उस आदमी के दोनों हाथ छूट गए और वह कटे पेड़ की भाँति नीचे जा गिरा और उसके गिरते ही औरत ने भागना बंद कर दिया, मानो दोनों का सफर एक साथ ही खत्म हो गया हो।

बाबू अभी भी मेरे निकट, डिब्बे के खुले दरवाजे में बुत-का-बुत बना खड़ा था, लोहे की छड़ अभी भी उसके हाथ में थी। मुझे लगा, जैसे वह छड़ को फेंक देना चाहता है, लेकिन उसे फेंक नहीं पा रहा, उसका हाथ जैसे उठ नहीं रहा था। मेरी साँस अभी भी फूली हुई थी और डिब्बे के अँधियारे कोने में मैं खिड़की के साथ सट कर बैठा उसकी ओर देखे जा रहा था।

फिर वह आदमी खड़े-खड़े हिला। किसी अज्ञात प्रेरणावश वह एक कदम आगे बढ़ आया और दरवाजे में से बाहर पीछे की ओर देखने लगा। गाड़ी आगे निकलती जा रही थी। दूर, पटरी के किनारे अँधियारा पुंज-सा नजर आ रहा था।

बाबू का शरीर हरकत में आया। एक झटके में उसने छड़ को डिब्बे के बाहर फेंक दिया। फिर घूम कर डिब्बे के अंदर दाएँ-बाएँ देखने लगा। सभी मुसाफिर सोए पड़े थे। मेरी ओर उसकी नजर नहीं उठी।

थोड़ी देर तक वह खड़ा डोलता रहा, फिर उसने घूम कर दरवाजा बंद कर दिया। उसने ध्यान से अपने कपड़ों की ओर देखा, अपने दोनों हाथों की ओर देखा, फिर एक-एक करके अपने दोनों हाथों को नाक के पास ले जा कर उन्हें सूँघा, मानो जानना चाहता हो कि उसके हाथों से खून की बू तो नहीं आ रही है। फिर वह दबे पाँव चलता हुआ आया और मेरी बगलवाली सीट पर बैठ गया।

धीरे-धीरे झुटपुटा छँटने लगा, दिन खुलने लगा। साफ-सुथरी-सी रोशनी चारों ओर फैलने लगी। किसी ने जंजीर खींच कर गाड़ी को खड़ा नहीं किया था, छड़ खा कर गिरी उसकी देह मीलों पीछे छूट चुकी थी। सामने गेहूँ के खेतों में फिर से हल्की-हल्की लहरियाँ उठने लगी थीं।

सरदार जी बदन खुजलाते उठ बैठे। मेरी बगल में बैठा बाबू दोनों हाथ सिर के पीछे रखे सामने की ओर देखे जा रहा था। रात-भर में उसके चेहरे पर दाढ़ी के छोटे-छोटे बाल उग आए थे। अपने सामने बैठा देख कर सरदार उसके साथ बतियाने लगा- 'बड़े जीवट वाले हो बाबू, दुबले-पतले हो, पर बड़े गुर्दे वाले हो। बड़ी हिम्मत दिखाई है। तुमसे डर कर ही वे पठान डिब्बे में से निकल गए। यहाँ

बने रहते तो एक-न-एक की खोपड़ी तुम जरूर दुरुस्त कर देते...' और सरदार जी हँसने लगे।

झूमर

भीष्म साहनी

खुले मैदान में अर्जुनदास कुर्सी पर बैठा सुस्ता रहा था। मैदान में धूल में उड़ रही थी, पाँवों को मच्छर काट रहे थे, उधर शाम के साए उतरने लगे थे और अर्जुनदास का मन खिन्न-सा होने लगा था।

जिन बातों ने जिंदगी भर परेशान नहीं किया था, वे जीवन के इस चरण में पहुँचने पर अंदर ही अंदर से गाहे-बगाहे कचोटने-कुरेदने लगती थीं। अनबुझी-सी उदासी, मन पर छाने लगती थी। कभी-कभी मन में सवाल उठता, अगर फिर से जिंदगी जीने को मिल जाती तो उसे मैं कैसे जीता? क्या करता, क्या नहीं करता? यह तय कर पाने के लिए भी मन में उत्सुकता नहीं थी। थका-थका सा महसूस करने लगा था।

यों तो ऐसे सवाल ही निरर्थक होते हैं पर उनके बारे में सोचने के लिए भी मन में उत्साह चाहिए, जो इस समय उसमें नहीं था। जो कुछ जीवन में आज तक करता आया हूँ शायद फिर से वही कुछ करने लगूँगा, पर ज्यादा समझदारी के साथ, दाएँ-बाएँ देख कर, सोच-सूझकर, अंधाधुंध भावुकता की रौ में बह कर कुछ नहीं करूँगा। अपना हानि-लाभ भी सोच कर और इतनी जल्दबाजी में भी नहीं जितनी जल्दबाजी में मैं अपनी जिंदगी के फ़ैसले करता रहा हूँ। सोचते-सोचते ही उसने अपने कंधे बिचका दिए। क्या जिंदगी के अहम फ़ैसले कभी सोच-समझ कर भी किए जाते हैं?

साए और अधिक गहराने लगे थे। मैदान में बत्तियाँ जल उठी थीं। लंबे-चौड़े मैदान के एक ओर मंच खड़ा किया गया था। मंच पर रोशनियाँ, माइक्रोफोन आदि फिट किए जा रहे थे, मंच ऊँचा था लगभग छह फुट ऊँचा रहा होगा। मंच के नीचे, दाएँ हाथ को कनात लगा कर कलाकारों के लिए वेशभूषा कक्ष बना दिया गया था। अभी से कनात के पीछे से तबला हारमोनियम बजने की आवाजें आने लगी थी। युवक-युवतियाँ नाटक से पहले पूर्वाभ्यास करने लगे थे। अपनी-अपनी वेशभूषा में सजने लगे थे।

मंच को देखने पर उसके मन में पहले जैसी हिलोर नहीं उठी थी। इसी पुराने ढर्रे पर अभी भी हमारा रंगमंच चल रहा है। दुनिया कहाँ से कहाँ पहुँच गई है, हम अभी भी वहीं पर खड़े हैं, जहाँ पचास साल पहले खड़े थे। फटीचर-सा मंच खड़ा किया करते थे। बिजली की रोशनी नहीं मिलती तो गैस के लैंप उठा लाते। रात पड़ जाती तो वहीं मंच पर अभिनय के बाद सो भी जाते थे। तब भी न जेब में पैसा था न कहीं से चंदा उगाह पाते थे। बस, खेल दिखाओ, दर्शकों के सामने झोली फैलाओ और खर्च निकाल लो। कोई दुवन्नी डाल देता, कोई चवन्नी, कभी कोई दर्शक अधिक भावुक हो उठता तो चमकता रूप का सिक्का डाल देता। मैं और मेरे साथी, सब कुछ भूले हुए इसी काम में मस्त थे। इसी काम में सारी जवानी खप गई। न जाने कैसे खप गई। उन दिनों भी अर्जुनदास के पाँवों में फटे हुए सस्ते चप्पल हुआ करते थे, आज भी वैसे ही चप्पल है, केवल अब जिंदगी ढलने लगी है। बहुत से साथी काल प्रवाह में बहते हुए न जाने किस ठौर जा लगे हैं। अब वह स्वयं बहुत कम अभिनय कर पाता है, साँस फूलने लगती है, आवाज बैठ जाती है, माथे पर पसीना आ जाता है और टाँगें काँपने-थरथराने लगती हैं।

मैदान में युवक-युवतियाँ अब अधिक संख्या में इकट्ठा होने लगे थे। कुछेक बड़ी उम्र के संयोजकों को छोड़ कर बहुत कम लोग इसे जानते-पहचानते थे। कुछ लोग दूर से इसकी ओर इशारा करते। वह रंगमंच का खलीफा बन गया था, छोटा-मोटा नेता। इस रंगोत्सव में उसे पुरस्कार देने के लिए बुलाया गया था। आज से नाट्य-समारोह शुरू होने जा रहा था। संयोजक उसकी खातिरदारी कर रहे थे। सब कुछ था, पर मन में वह उछाह नहीं था, जो कभी रहा करता था।

समारोह आरंभ होने में अभी देर थी। अब इस तरह के कार्यक्रम अर्जुनदास से निभते भी नहीं थे। नौ बजे का वक्त देते हैं, दस बजे शुरू करते हैं। दर्शक लोग भोजन करने के बाद, पान चबाते, टहलते हुए आएँगे गप्पे हाँकते। कहीं कोई उतावली नहीं होगी, कोई समय का ध्यान नहीं होगा। यहाँ पर वक्त की पाबंदी कोई अर्थ नहीं रखती। किसी से पूछो, नाटक कब शुरू होगा? तो कहेंगे, यही नौ-दस बजे। समाप्त कब होगा? यही ग्यारह-बारह बजे। अध्यक्ष महोदय कब आएँगे? बस आते ही होंगे। वह जानता था कि नाटक अधकचरा होगा। मंच की साज-सज्जा से ही उसका नौसिखुआपन झलक रहा था। इसके मन में टीस उठने का एक कारण यह भी रहा था। अभिनय और कला कहाँ से कहाँ पहुँच चुकी है पर हमारा यह रंगमंच अभी भी पुराने ढर्रे पर चल रहा है। आज रंगमंच में

प्रविधि के स्तर पर एक विशेष निपुणता आ गई है। रोशनी का प्रयोग मंच की सज्जा, वेश-भूषा, चुस्ती-मुस्तैदी, वह नहीं कि धूल भरे मैदान में-जहाँ पानी का छिड़काव कराने तक के लिए पैसे संयोजकों की जेब में न हों-और फटे-पुराने पर्दे और कनातें और मुड़ी-निचुड़ी दरियाँ और जहाँ हाथों से, खींच-खींच कर पर्दा गिराया जा रहा हो और वह भी पूरी तरह स्टेज को ढक नहीं पाए और पर्दे के पीछे, इधर से उधर भागते अभिनेता नजर आ रहे हों। पर ऐसे ही रंगमंच पर अर्जुनदास ने जिंदगी बिता दी थी।

वह जानता था नाटक बेढंगा होगा, न ढंग की, वेशभूषा, प्रांपटर की आवाज पर्दे के पीछे से एक्टर की आवाज से ज्यादा ऊँची सुनाई देगी। केवल संवादों के बल पर नाटक चलेगा, या फिर गीतों के बल पर, वे असरदार हुए तो नाटक जम जाएगा, वरना वह भी नहीं जमेगा। युवा अभिनेता पंक्तियाँ भूलेंगे, स्टेज पर डोलते रहेंगे, एक-दूसरे का रास्ता काटते रहेंगे। तुम लोग केवल भावना के बल पर नाटक का अभिप्राय दर्शकों के दिल में उतारना चाहते हो, अब यह नहीं चलेगा। लोग नफासत माँगते हैं और कला और अभिनय का ऊँचा स्तर और मंच कौशल। अनगढ़ नाटक के दिन बीत गए यहाँ लोग आएँगे, सैंकड़ों की संख्या में भले ही लोग इकट्ठा हो जाएँगे, पर वह तुम्हारे नाटक के कारण नहीं वे तफरीह चाहते हैं, जिसे तुम मुफ्त में जुटा रहे हो, इसलिए आएँगे। तुम्हारी कला देखने नहीं आएँगे, रात को खाना खा चुकने के बाद पान चबाते हुए, यहाँ घड़ी दो घड़ी मन बहलाने आएँगे। वह भी इसलिए कि तुम अपने खेल मुफ्त में दिखाते हो, टिकट लगाते तो कोई देखने नहीं आता।

आज से दसियों साल पहले भी यही स्थिति थी। एक जगह पर नाटक खेलते फिर वहाँ से भागते हुए बगल में वेशभूषा का बुक्का दबाए किसी दूसरी बस्ती में नाटक खेलने पहुँच जाते। सिर पर जुनून तारी था, वरना धैर्य से सोच-विचार करते थे समझ जाते कि इस तरह यह गाड़ी दूर तक नहीं जा पाएगी कि लोग थक जाएँगे, नाटक खेलने वाले थक जाएँगे, दर्शक उब जाएँगे।

आज ही प्रातः कृष्णक पुराने रंगकर्मियों की चौकड़ी जमी थी। वे सब युवा नाट्य समारोह को एक तरह से आशीर्वाद देने आए थे। उनमें अर्जुनदास भी था। अर्जुनदास की पत्नी कमला भी थी। दो-एक अन्य स्त्रियाँ भी थीं जो किसी जमाने में इनके साथ गान मंडली आदि में भाग लिया करती थीं। सभी मिल बैठे गप्प लड़ा रहे थे। पुराने दिनों को याद कर रहे थे। अपने-अपने अनुभव, किस्से सुना रहे थे, पुराना उत्साह मानो फिर से जाग

उठा था। तरह-तरह के अनूठे अनुभवों, जोखिम भरे अनुभवों की चर्चा चल रही थी।

याद है? जब कि बस्ती में शिखरिणी खेला था? अर्जुनदास सुना रहा था, रात इतनी देर से शो खत्म हुआ कि सामान समेटते-समेटते एक बज गया। सभी बसें बंद, गाड़ियाँ बंद, हमारे कुछ साथी तो शो खत्म होते ही निकल गए थे, वे तो घरों को पहुँच गए, रह गया मैं और रमेश। हम रात को वहीं मंच पर पसर गए। जाते भी कहाँ? सुबह उठ कर सामान बाँधा, एक बैलगाड़ी भाड़े पर ली, सारा सामान लादा और सामान के अंबार के ऊपर हम दोनों बैठ गए, कहते-कहते अर्जुनदास की आँखों में पहले-सी चमक आ गई और बैलगाड़ी धीरे-धीरे एक सड़क से दूसरी सड़क और हम सामान के ऊपर बैठे गीत गा रहे थे, एक गीत के बाद दूसरा गीत, बैलगाड़ी रेंगती हुई, सुबह दस बजे की निकली दोपहर चार बजे कार्यालय के सामने जा कर रुकी। सारा दिन इसी में निकल गया पर उसी शाम शो भी हुआ और शो के बाद हम लोग घर पहुँचे। ऐसे भी दिन थे।

इस पर कोई दूसरा रंगकर्मी अपनी आपबीती सुनाने जा ही रहा था जब अर्जुनदास की बगल में बैठा उसकी पत्नी बोली, तुम तो दिन भर बैलगाड़ी पर बैठे गीत गा सकते थे, शहर भर की सैर कर सकते थे, तुम्हें मैं जो मिली हुई थी, घर में पिसने वाली।

कमला ने कहा तो मजाक में कहने के बाद स्वयं हँस भी दी, पर इससे अर्जुनदास सिमट कर चुप हो गया।

पंजाब का एक वयोवृद्ध साथी सुना रहा था, एक नाटक था, कुर्सी, तुम्हें याद होगा। उस नाटक पर सरकार ने रोक लगा दी थी। पर हमने वह नाटक अजीब ढंग से खेला। एक जगह खेलते तो फौरन ही बाद, बस में बैठ कर अगले शहर जा पहुँचते, वहाँ खेलते और फिर अगले शहर के लिए रवाना हो जाते। पुलिस पीछे-पीछे, हम आगे-आगे पुलिस की चर्चा चली तो अर्जुनदास को अपना एक और किस्सा याद हो आया -

मेरे खिलाफ वारंट तो नहीं था। पर मुझे शहर में घुसने की इजाजत नहीं थी। पर वहाँ हमारी केंद्रीय कार्यकारिणी की बैठक होने वाली थी। मुझे वहाँ पहुँचना था, मैं लुक-छिप कर पहुँच गया। एक स्कूल की ऊपर वाली मंजिल पर मीटिंग चल रही थी। अब मैं मीटिंग में अपनी बात कह ही रहा था जब खबर मिली कि बाहर पुलिस पहुँच गई है। मैं समझ गया कि मुझे ही पकड़ने आई होगी। मैंने अपनी बात खत्म की, अभी बहस चल ही रही थी कि मैं चुपचाप

उठा और कमरे के बाहर आ गया। स्कूल का गलियारा लॉघ कर मैं पिछवाड़े की ओर जा पहुँचा। स्कूल के पीछे कोई मंदिर था। उस वक्त शाम के साए उतरने लगे थे और मंदिर में सायंकाल की आरती चल रही थी। घंटियाँ बज रही थीं। गर्मी के दिन थे। मैं ऊपर बरामदे में खड़ा था। मैंने बुशर्ट उतारी और उसकी दोनों आस्तीनें कमर में बाँध ली और उसकी छत पर से कूद पड़ा और सीधा मंदिर के आँगन में जा उतरा। जमीन कच्ची थी, मुझे चोट नहीं आई। फिर मैंने वैसे ही भक्तों की तरह, बुशर्ट को कमर में से उतार कर कंधे पर रखा और धीरे-धीरे टहलता हुआ बाहर निकल आया। मंदिर के फाटक के ऐन सामने सड़क पर एक सिपाही खड़ा था। उससे थोड़ा हट कर दाईं ओर को, एक और सिपाही तैनात था। दोनों के हाथ में लाठियाँ थी, बहुत से भक्त आ जा रहे थे, सिपाही ने मेरी ओर कोई ध्यान नहीं दिया। मैं बाहर आ गया और दाएँ हाथ को टहलता हुआ आगे बढ़ने लगा। ज्यों ही मैं अँधेरे में पहुँचा कि मैं सरपट दौड़ने लगा, ऐसा भागा कि शहर के दूसरे कोने में ही जा कर दम लिया जहाँ हरीश, मेरा मित्र रहता था

इस जोखिम भरी घटना के ब्योरे को सुनते हुए भी उसकी पत्नी के मन में क्षोभ-सा उठा था। उसे भी वह दिन याद आ गया था। उसे याद आ गया था कि उसी दिन उनकी बिटिया को खसरा निकला हुआ था और उसे तेज बुखार था और थकी-मादी वह बच्ची के सिरहाने बैठा घड़ियाँ गिन रही थी कि कब उसका पति घर लौटेगा और बेटी के उपचार का कोई प्रबंध कर पाएगा।

जिस मस्ती में अर्जुनदास का लड़कपन और जवानी बीते थे उसका आकर्षण अब कुछ मंद पड़ चुका था, स्वयं अर्जुनदास की नजर मंद पड़ चुकी थी। इतना वक्त इस काम को दिया, क्या तुक थी।

उसके इस जुनून की आलोचना, उसकी पत्नी, उन बीते दिनों में किया करती थीं। वह सुन लिया करता था और सिर झटक दिया करता था या हँस दिया करता था, क्योंकि उन दिनों उसे इस काम की सार्थकता में गहरा विश्वास था। पर अब, वर्षों बाद उसका विश्वास शिथिल पड़ने लगा था और उसके साथ उसका आग्रह भी मंद पड़ने लगा था और उसी समय से उसके अंदर एक प्रकार की अपराध भावना भी बढ़ने लगी थी, कि वह मात्र अपनी आदर्शवादिता और जुनून में खोया रहा है, कि वह अभी भी व्यवहार के धरातल पर नहीं उतरा, अपने दायित्व नहीं निभाए, एक तरह से कहो तो 'स्वांतः सुखा' ही जीता रहा है।

उसकी नजर फिर मंच पर पड़ी। अब वहाँ पहले से ज्यादा गहमागहमी थी। बार-बार माइक्रोफोन पर कुछ न कुछ बोला जा रहा था। माइक्रोफोन को टेस्ट किया जा रहा था। पर्दे पर बार-बार खींचा-खोला जा रहा था। बहुत से बच्चे और लौंडे-लपाड़े मंच के आस-पास मँडराए लगे थे। एक ऊँचा-लंबा, छरहरे शरीर वाला युवक, हाथ में एक कागज उठाए, कभी एक ओर तो कभी दूसरी ओर मैदान में भागता फिर रहा था, बार-बार माथे पर से बालों की लट को हटाता हुआ, वह शायद कार्यक्रम का संयोजक था, कागज पर खेलने वालों के नाम होंगे, जरूरी कामों की फेहरिस्त होगी, पर उसके चेहरे पर ऐसा भाव था मानो सारे देश का संचालन उसी के हाथ में हो, जैसे उसके हाथ में पकड़ा कागज का टुकड़ा, कोई सूची न हो कर कोई ऐतिहासिक दस्तावेज हो। अर्जुनदास को उसकी भागदौड़ में अपनी भागदौड़ की झलक नजर आ रही थी। कुछ बरसों बाद शायद इसका विश्वास भी शिथिल पड़ने लगेगा। इस समय तो अगर इसके हाथ से कागज का टुकड़ा गिर जाए तो मानों पृथ्वी की गति थम जाएगी। उसकी ओर देखते हुए अर्जुनदास के अंदर विचित्र-सी भावनाएँ उठ रही थीं, कभी स्फूर्ति की लहर दौड़ जाती। कभी संशय डोलने लगता, कभी उसके उत्साह में उसे बचकानापन नजर आने लगता।

और अब युवक, हाथ में कागज का फड़का उठाए अर्जुनदास की ओर बढ़ता आ रहा था। शायद रंगमंच की रूप-सज्जा तैयार हो गई है और खेल शुरू होने वाला है। संभवतः युवक उसे कोई सूचना देने या बुलाने आ रहा है। चलिए, देर आए दुरुस्त आए, ज्यादा देर इंतजार नहीं करना पड़ा। ग्यारह बजे तक भी खेल समाप्त हो जाए तो जल्दी छुटकारा मिल जाएगा।

लड़का पास आ गया था। अर्जुनदास ने कुर्सी पर से टाँगें हटा लीं। पर युवक खड़ा रहा। बुजुर्ग के सामने उसे कुर्सी पर बैठने में झेंप हो रही थी।

कहो बरखुरदार, सब तैयारी हो गई? अब पर्दा उठने वाला है?

नहीं साहिब, हमारे दो कलाकार अभी तक नहीं पहुँच पाए हैं। उन्हें स से आना है, उन्हें पहुँचने में देर हो गई है।

अर्जुनदास के मन में खीझ उठी पर वह चुप रहा। स्वयं अतिथि होने के कारण कुछ कहते नहीं बनता था। ओखली में सिर दिया तो रोना क्या।

क्या वे स से आ रहे हैं?

जी!

वह तो बहुत दूर है।

जी पर बसें, हर आधे घंटे के बाद चलती रहती हैं। उन्हें अब तक पहुँच जाना चाहिए था।

अर्जुनदास चुप रहा। यह सोच कर कि वे दोनों युवक इस आयोजन में भाग ले पाने के लिए इतनी दूर से बसों में धक्के खाते पहुँचेंगे, दो घंटे के शो के लिए दस घंटे का सफर तय करके आएँगे और फिर कल लौट जाएँगे। यह मौका शिकायत करने का नहीं था।

अर्जुनदास ने युवक की ओर देखा। बड़ा प्यारा-सा लड़का था, मसं भीग रही थीं, चेहरे पर जवानी की लुनाई थी, आखों में स्वच्छ-सी चमक जिसका भास सायंकाल के इस झुटपुटे में भी हो जाता था।

बैठो। अर्जुनदास ने खाली कुर्सी की ओर इशारा करते हुए कहा।

लड़का कुछ सकुचाया, फिर बैठ गया।

सर, आपसे एक अनुरोध है, आप मेरी सहायता करें।

क्या बात है?

सर, आप मेरे पिताजी को समझाएँ। वह नहीं चाहते कि मैं रंगमंच का काम करूँ।

वह क्या चाहते हैं?

वह चाहते हैं मैं नौकरी करूँ, कोई सरकारी नौकरी। वह इसे फिजूल काम समझते हैं, आप समझाएँगे तो वह समझ जाएँगे।

अर्जुनदास ने हँस कर कहा, मैं क्या समझाऊँगा। मैं तो बाहर का आदमी हूँ। मैं तुम्हारी परिस्थितियों को तो नहीं जानता हूँ।

नहीं सर आपने बहुत काम किया है आपको जिंदगी भर का अनुभव है।

अर्जुनदास को अपनी जवानी के दिन याद आए। वह दिन भी जिस दिन उसने स्वयं रंगमंच के साथ नाता जोड़ा था। पर वह तो किसी से परामर्श करने अथवा सहायता लेने नहीं गया था। उसने तो न पत्नी से पूछा था, न घर वालों से और इस काम में कूद पड़ा था। इसने कम से कम अपने पिता की बात सुनी तो। इतनी समझदारी तो की।

अभी तुम व्यस्त हो, तुम्हारा शो हो जाए अभी मैं यहीं पर हूँ। बाद में मिल-बैठ कर बात करेंगे। यह मसला सुलझाना इतना आसान नहीं है।

अच्छा सर, मैं कल आपसे मिलूँगा।

और वह उठ कर, कदम बढ़ाता रंगमंच की ओर चला गया।

इस युवक ने अर्जुनदास की पुरानी यादों को और ज्यादा कुरेद दिया था।

रंगमंच के साथ जुड़ने से पहले वह देश के स्वतंत्रता संग्राम की ओर उन्मुख हुआ था। न जाने वह भी कैसे हुआ। शायद इसलिए कि वातावरण में अजीब सी धड़कन पाई जाती थी, अजीब सा तनाव और आत्मोत्सर्ग की भावना। दिल में भावनाओं के ज्वार से उठते थे और एक दिन वह खादी का कुर्ता-पायजामा पहन कर घर के बाहर निकल आया था। बात मामूली-सी थी, खादी का कुर्ता-पायजामा पहनने में क्या रखा है, लेकिन उसकी नजर में यह देश-सेवियों का पहरावा था। विद्रोह का प्रतीक था। इसे पहनना देश के विराट आंदोलन के साथ जुड़ना था, उसे बार-बार रोमांच हो रहा था, उसे लग रहा था जैसे वह किसी घेरे को तोड़ कर बाहर निकल आया है और ठाठें मारते किसी महानगर में कूद गया है।

रंगमंच की ओर भी वह कुछ इसी तरह से ही आकृष्ट हुआ था। बंगाल में दुर्भिक्ष पड़ा था और बंगाल से कलाकर्मियों का एक दल उसके शहर में आया था। वे लोग बंगाल के संकट को नाटक-संगीत द्वारा प्रस्तुत कर रहे थे। उस दिन वह शाम को घूमने के लिए कैटोन्मेंट की तरफ निकल गया था। आम तौर पर वह सैर करने के लिए खेतों की ओर निकल जाया करता था, उस दिन अनायास ही उसके पाँव इस ओर को उठ गए थे। उसे इस अभिनय की जानकारी भी नहीं थी। घूम चुकने पर वह घर की ओर लौट रहा था जब एक सिनेमाघर के सामने उसे छोटी सी भीड़ खड़ी नजर आई थी और अर्जुनदास कुतूहलवश उस ओर चला गया था।

पर्दा उठने पर एक वयोवृद्ध व्यक्ति, कोई अभिनेता, जो वयोवृद्ध व्यक्ति की भूमिका निभा रहा था, पीठ झुकी हुई, सफेद दाढ़ी, हाथ में हरीकेन लैप उठाए मंच पर आया था और काँपती आवाज में बोला था, सुनोगे? अभागे बंगाल की कहानी सुनोगे?

और अर्जुनदास को जैसे बिजली छू गई थी और उसके बाद जितने दृश्य सामने आए थे सभी उद्वेलित करने वाले, सभी उसके दिल को मथते रहे थे। लगभग डेढ़ घंटे तक कार्यक्रम चलता रहा था, अनेक गीत थे, वृंदगान के रूप में, कुछ हिंदुस्तानी में, कुछ बाँग्ला में, सभी हृदयस्पर्शी, दिल को गहरे में छूने वाले, वह पहली बार ऐसा नाटक देख रहा था जो अन्य नाटकों से भिन्न था। मंच-सज्जा न के बराबर थी, अनगढ़-सी पर हाल में बैठे लोग मंत्र-मुग्ध से देखे जा रहे थे। दृश्यशृंखलाबद्ध भी नहीं थे। पर उनमें कुछ था जो सीधा दिल में उतरता था।

और अंत में उसी वयोवृद्ध ने मंच पर से उतर कर दुर्भिक्ष-पीड़ितों के लिए झोली फैलाई थी और झोली फैलाए दर्शकों की पाँतों के सामने आने लगा था। तभी अर्जुनदास के आगे वाली सीट पर बैठा एक भाववि]वल युवती ने अपने कानों में से झिल मिलाते सोने के झूमर उतार कर वयोवृद्ध की झोली में डाल दिए थे और उसी क्षण मानो अर्जुनदास के जीवन का काँटा भी बदल गया था।

तब भी उसने किसी से परामर्श नहीं किया था और रंगकर्मियों की टोली में शामिल हो गया था।

यह मेरे स्वभाव का ही दोष रहा होगा कि मैं भावोद्वेग में अपना संतुलन खो बैठता हूँ और बिना हानि-लाभ पर विचार किए बिना आगा-पीछा देखे, कूद पड़ता हूँ। पर यह स्वभाव का दोष केवल मेरा ही तो नहीं रहा। अनेकानेक लोगों का रहा है और वे कितने निखरे-निखरे व्यक्तित्व वाले लोग थे। कितने सच्चे, कितने ईमानदार।

उसकी आँखों के सामने दूर अतीत का किसी जलसे का दृश्य घूम गया। तब वह बहुत छोटा सा था, स्कूल में पढ़ता था। न जाने वह आदमी कौन था, उन दिनों नमक का कानून तोड़ने का आंदोलन चल रहा था। भरे जलसे में, जहाँ मंच पर गैस का लैंप जल रहा था और समूचे जलसे के लिए यही एक रोशनी थी, एक आदमी मंच पर चढ़ कर आया था। छोटी सी सिर पर पगड़ी, पतली-पतली सी मूँछें, हाथ उठा कर उसने एक शेर पढ़ा था—

वह देख सितारा टूटा है,
मगरब का नसीब फूटा है।

और उसके साथ ही जब में से एक कागज की पुड़िया निकाल लाया था और गैस की रोशनी में सभी को दिखाते हुए ऊँची आवाज में बोला था, साहिबान, यह नमक की पुड़िया है। आज मैंने नमक कानून तोड़ा है। यह मेरी बापू को छोटी-सी भेंट है। छोटी नदी के किनारे पानी को सुखा कर नमक तैयार किया गया है। वंदे मातरम्! कह कर मंच पर से उतर गया था। हॉल तालियों से गूँज उठा था। श्रोताओं के आगे वाली पांत में पुलिस के तीन बावर्दी अफसर कुर्सियों पर बैठे थे और भीड़ के पीछे मैदान में ही एक सिरे पर पुलिस की सींखचों वाली गाड़ी खड़ी थी। जलसा अभी खत्म ही हुआ था कि उसे हथकड़ी लगा दी गई थी और उसे पुलिस की गाड़ी में धकेल कर बंद कर दिया गया था और देर तक जब तक बंद गाड़ी दूर नहीं चली गई, उसके नारे सुनाई देते

रहे थे, इंकलाब जिंदाबाद! बोल महात्मा गांधी की जय और वह जैसे ही लोगों की आँखों के सामने आया था वैसे ही ओझल भी हो गया था।

क्या मालूम उस रोज अर्जुनदास, बंगाल के दुर्भिक्ष से जुड़े अभिनय को देखने हॉल में अचानक प्रवेश नहीं कर जाता तो कभी इस रास्ते आता ही नहीं। क्या मालूम हॉल में अर्जुनदास के सामने बैठी युवती ने अगर सोने के झूमर उतार कर उस अभिनेता की झोली में नहीं डाल दिए होते तो उसकी जिंदगी का काँटा नहीं बदलता। कौन जाने? क्या मालूम जिंदगी का काँटा बदलने के लिए कोई और कारण बन जाता।

उसके कानों में फिर से उसकी पत्नी का वह वाक्य गूँज गया। जिसे वह अकसर कहा करती थी, तुम्हें ब्याह नहीं करना चाहिए था। तुम जैसे लोग ब्याह करके अपने घर वालों को भी दुखी करते हैं और खुद भी दुखी होते हैं।

जिंदगी में अनेक अवसरों पर उसकी पत्नी उसे झिंझोड़ती रही थी। अपने बच्चों का वास्ता डालती रही थी। सुबह से शाम तक घर के कामों में पिसती रही थी पर अर्जुनदास के सिर पर तो जुनून सवार था। बंबई में कांग्रेस का अधिवेशन था। अर्जुनदास को तो जाना ही जाना था। तुम भी चलो। उसने अपनी पत्नी से कहा। पर छोटे-छोटे दो बच्चों को छोड़ कर कैसे जाती? देश सेवा का काम तो मर्दों के लिए बना है, तुम ही जाओ। मैं घर में ठीक हूँ और अर्जुनदास बुक्का उठा कर चला गया था। हर बार ऐसा ही होता था। बुक्का उठा कर चल देता था।

अर्जुनदास को धनोपार्जन के लिए और तो कोई धंधा नहीं सूझा था, उसने पुस्तकों की दुकान खोल ली थी। यह काम रंगकर्म के आड़े नहीं आता था। कभी-कभी छोटी-मोटी पूँजी लगा कर पुस्तकें प्रकाशित भी कर देता। पर दुकान खोल देना एक बात है, उसे चलाना, बिल्कुल दूसरी बात। लोग-बाग मुफ्त में पुस्तकें उठा कर ले जाते। अपने पैसे लगा कर पुस्तक छापता, पुस्तक-विक्रेता महीनों तक अदायगी नहीं करते। दुकान पर मित्रों, रंगकर्मियों का ताँता लगा रहता। सभी अर्जुनदास की जेब से चाय पीते और गप्पें हाँकते, कुछ लोग अपनी घटिया किताबें छपवा लेते। उसी दुकान में ही गान-मंडली की रिहर्सलें होती, ऊँची-ऊँची तानें उठतीं।

कमला को पता चलता तो मन ही मन कुढ़ती रहती, अंत में जब बच्चे कुछ बड़े हुए तो वह स्वयं दुकान पर जा कर बैठने लगी थी। इससे कुछ तो इस महादानी पर अंकुश लगेगा, चाय की प्यालियाँ कुछ तो कम होंगी और इसके

निगोड़े साथियों को कुछ तो शर्म आएगी। पर दुकान पर बैठने का मतलब था, घर पर भी पिसो और अब दुकान पर भी। तभी कमला ने निश्चय किया कि वह किसी स्कूल में नौकरी कर लेगी। जिस दिन उसे एक प्राइमरी स्कूल में नौकरी मिली और उसने दुकान पर लड्डू बाँटें, उसी दिन अपने पति से यह कह भी दिया, अब तुम स्वतंत्र हो, जो मन में आए करो और ऐन इसके महीने भर बाद अर्जुनदास जेलखाने में पहुँच गया था।

बंबई में जहाजियों की बगावत हुई थी। जगह-जगह पर विरोध-प्रदर्शन हुए थे और पकड़-धकड़ शुरू हो गई थी। कमला ने दुकान को ताला लगाया और घर चली आई। सारा रास्ता मन को समझाती रही: उसे पकड़े तो जाना ही था। वह कुछ भी नहीं करता तो भी सरकार इसे पकड़ ले जाती।

पूरे दो साल तक अर्जुनदास जेल में रहा था और पूरे दो साल तक कमला, प्रति सप्ताह उसे मिलने पाँच मील दूर, जेलखाने जाती रही थी। जीवन की कठिनाइयों को देखने के अलग-अलग नजरिए होते हैं। कमला ने अर्जुनदास की सरगर्मियों को स्वीकार कर लिया था। वह जानती थी कि वह उन्हें छोड़ेगा नहीं। इसी ढर्रे पर उसका जीवन चलेगा। जब कठिनाई बढ़ जाती तो वह रो देती। पर मन ही मन उसने अपनी नियति को स्वीकार कर लिया था और नियति को स्वीकारने का एक परिणाम यह भी हुआ था कि कमला की भावनाओं में से कटुता और झल्लाहट कम होने लगी थी और कभी-कभी उसके मन में अपने प्रति सहानुभूति-सी भी उठने लगी थी। करता है, पर कोई बुरा काम तो नहीं करता, अपनी भूख-प्यास भी तो भूले हुए है।

जब अर्जुनदास जेल से छूट कर आया तो वह वामपंथी बन कर लौटा था। जेल के अंदर कुछ ऐसे देशभक्त भी थे जो मार्क्स और लेनिन की चर्चा किया करते थे, अर्जुनदास उनकी बातें सुनता रहता, उनकी दी हुई किताबें पढ़ता। कहने को तो वह भी अनायास ही हुआ था। अगर उसी जेल में दर्शनसिंह कैद हो कर नहीं आता तो अर्जुनदास पर मार्क्सवादी विचारों का रंग नहीं चढ़ता। पर ये सब कहने की बातें हैं। होता वही है, जो हो कर रहता है।

आजादी आई। देशवासियों के हाथ में सत्ता की बागडोर आई। उसके अनेक साथियों ने हवा का रुख देख लिया और समझ गए कि अब जेलयात्रा वाले आंदोलन नहीं चलेंगे। अर्जुनदास के बहुत से पुरानी साथी छिटक गए। पर अर्जुनदास तो यह कहता फिरता था कि स्वतंत्रता-आंदोलन अभी समाप्त नहीं

हुआ है बल्कि अब तो निर्माण कार्य होगा न्यायसंगत समाज की स्थापना के लिए संघर्ष होगा।

मतलब कि अर्जुनदास की गाड़ी पहले की ही भाँति चलती रही। उसकी चाल बेढंगी ही रही। उन्हीं दिनों दिल्ली की एक सड़क पर उसे देवराज मिला था। देवराज आकाशवाणी में नौकरी करता था और अच्छे ओहदे पर था। उसने उसे आकाशवाणी में नौकरी कर लेने का सुझाव दिया था। देश का बँटवारा हो गया था और शरणार्थी सड़कों पर मारे-मारे घूम रहे थे।

बहुत सी नौकरियाँ निकली हैं। कहो तो बात करूँ? देवराज ने कहा था।

और अर्जुनदास ने देवराज की ओर यों देखा था मानो देवराज ने उसका अपमान किया हो। वह और नौकरी? इस पर सरकारी नौकरी? देवराज के मन में यह ख्याल ही कैसे आया था। उसी शाम उसकी गान मंडली ने कनाट प्लेस के बड़े मैदान में अपना रंगारंग प्रोग्राम प्रस्तुत करना था और नए गीत पेश करना था। यह तो वह यों ही चाय का प्याला पीने एक ढाबे में चला आया था। देवराज को इस बात का ख्याल ही कैसे आया कि मैं नौकरी के लिए दरखास्त दूँगा और उसने देवराज को नाटक देखने का न्यौता दिया था। बहुत दिन बाद, जब एक दिन, उसने डींग हाँकते हुए इस घटना की चर्चा अपनी पत्नी से की थी तो उसने सुन कर मुँह फेर लिया था, तुम्हें घर परिवार की चिंता होती तो तुम नौकरी करते। तुम तो आदर्शवाद के घोड़े पर सवार तीसमारखाँ बने घूम रहे थे। जमीन पर तुम्हारे पाँव ही नहीं टिकते थे। फिर तनिक संयत हो कर बोली, उस वक्त रेडियो की नौकरी कर ली होती तो इस वक्त क्या मालूम तुम डायरेक्टर होते, पंडारा रोड पर तुम्हें बंगला मिला होता, बाद में पेंशन मिलती, मैं भी कुछ सीख-पढ़ लेती।

उन्हीं दिनों अनेक अन्य अनुभव भी हुए। आजादी के बाद कुछ ही सालों में बड़ा अंतर आ गया था। उसके अनेक साथी छिटक कर अलग हो गए थे। वैद्य रमानाथ का औषधालय चल निकला। हंसराज को ठेके पर ठेके मिलने लगे। मोहनसिंह विदेशी दूतावासों के साथ संपर्क बढ़ाने लगा, उनके पेंफलैट छापता और देखते ही देखते उसने अर्जुनदास के ही मुहल्ले में एक दुर्माजिला मकान खरीद लिया। वारे-न्यारे होने लगे।

उसकी आँखों के सामने बोधराज का चेहरा घूम गया। बोधराज स्वतंत्रता संग्राम के विलक्षण सेनानी रह चुके थे। जीवन के सोलह वर्ष जेलों में काट चुके थे, पर आजादी के बाद एक ही झटके से मानों घूरे पर फेंक दिए गए थे। आजादी के बाद एक नई पौध उभरी थी-सियासतदानों की। सियासतदान उभरने लगे थे

और देशभक्त घूरे पर फेंक दिए गए थे। आजादी के बाद पाँचेक साल में ही, वह आदमी जो कभी घर-घर जा कर स्वतंत्रता-संग्राम के लिए लोगों को उत्प्रेरित किया करता था, अब अपने मुहल्ले में पड़ा सड़ रहा था, देश को कहीं भी उसकी जरूरत नहीं रह गई थी और काम तो क्या करता, लोगों के घर-घर जा कर तंबाकू-नोशी के नुकसान समझाता फिरता था और उनसे वचन लेता फिरता था कि वे सिगरेट नहीं पिँएँगे।

हुआ यह कि हंसराज-जो आजादी के बाद ठेके लेने लगा था, बोधराज को राजधानी में ले गया था। वहाँ वह उन्हें किसी केंद्रीय नेता के पास ले गया। केंद्रीय नेता बड़े आदर-सत्कार के साथ बोधराज से मिले थे, हंसराज को धन्यवाद कहा था कि उसके सौजन्य से वह एक अनन्य देशसेवी के दर्शन कर पाए हैं। हंसराज ने ही यह सुझाव रखा कि एक समाज कल्याण योजना बनाई जाए जिसकी अध्यक्षता बोधराज जी करें। अभी बात चल ही रही थी और बोधराज प्रस्ताव की तह तक पहुँचने की कोशिश कर ही रहे थे कि उनके हाथ में कलम थमा दी गई थी और वह किसी कागज पर हस्ताक्षर कर रहे थे।

यह तो बहुत बाद में उन्हें चेत हुआ कि हंसराज उनके साथ दाँव खेल गया है। उन्हीं का नाम ले कर उन्हीं के नाम पर पचास हजार रुपए का अनुदान हड़प गया है। यह उन्हें तब पता चला जब साल भर बाद, सरकार की ओर से बोधराज को एक पत्र मिला कि अनुदान का हिसाब भेजें और बोधराज भौँचकके रह गए थे और बोधराज की वह रगड़ाई हुई थी कि दिन को भी उन्हें तारे नजर आने लगे थे।

वहीं स्वतंत्रता सेनानी बोधराज अब लोगों के सिगरेट छुड़वाता फिर रहा था।

ऐसे ही धक्के अर्जुनदास के दिल और दिमाग को उन दिनों बार-बार लगते रहे थे और वह पिटा-पिटा सा महसूस करने लगा था।

एक दिन उसे भी एक पत्र मिला। जिस समय डाकिया चिट्ठी ले कर आया उस समय कमला घर पर नहीं थी। वास्तव में यह पत्र न हो कर एक निमंत्रण था। स्वतंत्रता सेनानियों का कोई जमाव राजधानी में होने जा रहा था और उसमें एक जाने-माने स्वतंत्रता सेनानी के नाते उसे आमंत्रित किया जा रहा था। पत्र के साथ एक फॉर्म भेजा गया था जिसे भरकर सम्मेलन के कार्यालय को भेजना था। फॉर्म में यह पूछा गया था कि स्वतंत्रता संघर्ष में आपका क्या योगदान रहा है। उनके प्रश्न थे: कितने दिन जेल काटी, कभी भूख हड़ताल की, जेल

के अंदर, जेल के बाहर, कभी किसी लाठी चार्ज में जख्मी हुए, किसी गोली-कांड में, रचनात्मक कार्य में कैसा योगदान रहा, कभी पदाधिकारी रहे तो, रहे हों तो किस समिति के स्थानीय, जिला अथवा प्रादेशिक? आदि आदि। लगता था इस फॉर्म में दी गई सूचनाओं के आधार पर सरकार स्वतंत्रता आंदोलन का कोई वृहद इतिहास-ग्रंथ छापेगी।

पत्र देख चुकने पर उसके मन की पहली प्रतिक्रिया तो यही हुई कि चलो, देर से ही सही, सरकार को स्वतंत्रता सेनानियों की सुधि तो आई। उनकी निष्ठा, उनके काम पर उनकी कुर्बानियों की ओर किसी का ध्यान तो गया।

कमला अभी बाहर से लौटी नहीं थी और अर्जुनदास हाथ में पत्र उठाए, खाट की पाटी पर बैठा अपने योगदान पर विचार कर रहा था। वह कमला को यह पत्र और फॉर्म दोनों दिखाना चाहता था और उसकी प्रतिक्रिया जानना चाहता था। कमला के इंतजार में वह बार-बार बरामदे में जा कर खिड़की में से दाएँ-बाएँ बाहर देखता रहा था और गली की ओर देखते हुए पहली बार उसका ध्यान इस ओर गया था कि मुहल्ला अब भले लोगों के रहने लायक नहीं रह गया है। कमला की बहुत दिनों से शिकायत रही थी कि मुहल्ले में तरह-तरह के लोग आ गए थे। शराब और जुए के अड्डे बन गए थे, माल लादने वाले ट्रकों के ड्राइवर जो सुनने में आया था, तस्करी भी करने लगे थे। कमला कहा करती थी, बेटी बड़ी हो रही है, अब हमारा यहाँ पर रहना ठीक नहीं। पर जवाब से अर्जुनदास तुनक उठा करता था।

हम लोग शरीफ हैं तो ये लोग बदमाश है, क्या? हाथ से काम करने वाले लोग कभी बुरे नहीं होते। इस बात को समझ लो।

पर आज पहली बार उसे लगा था कि नहीं, मुहल्ला बदनाम बस्ती सा बनता जा रहा है। इसमें अब रहना ठीक नहीं, बच्चों पर बुरे संस्कार पड़ेंगे।

और तभी उसे कमला सड़क पर आती नजर आई थी और उस पर आँख पड़ते ही उसका दिल भर आया था। पत्नी को घर के अंदर देखना एक बात है और उसे सड़क पर अकेले चुपचाप चलते हुए देखना बिल्कुल दूसरी बात। तब उसके प्रति अपनेपन की भावना अधिक जागती है। तब उसमें स्त्री सुलभ कमनीयता भी होती है और अपनत्व का भाव भी। तभी अर्जुनदास को इस बात का भी भास हुआ कि उसकी पत्नी को उसके साथ रहते हुए बहुत कुछ सहना पड़ा है कि वह उसे कोई भी सुख-सुविधा नहीं दे पाया। कमला के प्रति भावना का ज्वार-सा उसके अंदर उठा था।

जब कमला अंदर पहुँची, हाथ-मुँह धोए, दो घूँट पानी पिया और दुपट्टे से हाथ-मुँह पोंछती हुई उसके पास आ कर बैठी तो उसने बात चलाई।

सरकार की तरफ से चिट्ठी आई है।

तुम्हें? उसने तनिक हैरानी से पूछा।

हाँ, मुझे।

क्या लिखा है?

बुलाया है।

तुम्हें बुलाया है? सरकार को तुम्हारी क्या जरूरत पड़ गई?

आजादी की वर्षगाँठ है, बहुत से लोगों को बुलाया है जिन्होंने आजादी की लड़ाई में भाग लिया था राजधानी में।

वहाँ तुम लोगों का अचार डालेंगे क्या? और कमला हँस दी थी।

कमला की लापरवाही-सी हँसी को ले कर अर्जुनदास को तनिक झेंप हुई थी। वह स्वयं सारा वक्त सरकार की आलोचना करने लगा था, पर यह पत्र मिलने पर उसे अपनी विशिष्टता का कुछ-कुछ भास होने लगा था।

जाओगे?

हाँ, जाएँगे, क्यों नहीं, जाएँगे। आजादी की सालगिरह है। फिर फॉर्म की ओर इशारा करते हुए बोला, यह फॉर्म भेजा है और फॉर्म कमला की ओर बढ़ा दिया।

कमला देर तक बैठा उसे पढ़ती रही। फिर बोली, यह किसलिए है? क्या देशभक्तियों को उनकी देशसेवा का मुआवजा मिलेगा? और लापरवाही से फॉर्म पति को लौटा दिया।

मुआवजे का ख्याल अर्जुनदास को नहीं आया था। मुमकिन है सरकार कुछ मुआवजा देने की ही सोच रही हो। बात अनोखी-सी थी पर देर तक उसके मन में बार-बार उठती रही।

वह राजधानी गया था। उसके शहर से नौ और व्यक्ति भी गए थे। राजधानी पहुँचने पर वह बेहद उत्साहित हुआ था। स्वतंत्रता सेनानियों का कैंप लगा था। तंबू ही तंबू थे। पूरी की पूरी बस्ती उठ खड़ी हुई थी। अर्जुनदास पुलक-पुलक उठा था। मेरी भी इस महायज्ञ में अल्प-सी आहुति रही है, वह मन ही मन बार-बार कहता। राजधानी में रैली क्या रही थी मानो मानवता का सैलाब उमड़ पड़ा था। उसका मन चाहा इस जनप्रवाह में डूब जाए, उसे बार-बार रोमांच हो

आता। मैं इस मिट्टी की उपज हूँ और अपने देश की इसी मिट्टी में मिल जाना चाहता हूँ। इसी प्रकार के उद्गार उसके दिल में हिलोरे ले रहे थे।

और यहाँ पहुँच कर एक और निर्णय उसने भावावेश में कर डाला था।

बात मुआवजे को ले कर ही थी। कमला को फार्म का आशय ठीक ही सूझा था।

जब से अर्जुनदास राजधानी पहुँचा था, कैंप में जगह-जगह सरकारी भत्ते की ही चर्चा सुन रहा था। सरकार प्रत्येक स्वतंत्रता सेनानी का मासिक भत्ता बाँधने जा रही थी, ऐसा सुनने में आया था। चारों ओर उसी की चर्चा चल रही थी। तरह-तरह की टिप्पणियाँ सुनने को मिलतीं। उसके अपने शहर से नौ और देशसेवी आए थे।

क्या सभी को एक जैसा भत्ता देंगे? इसमें क्या तुक है? जिसने तीन महीने जेल काटी है, उसे भी उतना ही भत्ता मिले जितना उस आदमी को जिसने ग्यारह साल जेल काटी है? कोई कह रहा था। इस पर किसी ने हँस कर जोड़ा, नहीं सबको तोल-तोल कर मिठाई बाँटेंगे, कुर्बानी के मुताबिक।

क्या सूत कातना भी कुर्बानी माना जाएगा? प्रभात फेरी भी? तामीरी काम भी? इसे भी फॉर्म में लिखूँ?

उन्हीं के तंबू में एक बार झगड़ा उठ खड़ा हुआ था। किसी ने कहा, अब मैं नाम नहीं लेना चाहता लेकिन रोशन लाल ने कौन-सी जेल काटी है? एक जुलूस में उसने भाग लिया था जिस पर लाठी चार्ज हुआ था। मैंने अपनी आँखों से रोशन लाल को वहाँ भागते हुए देखा था, भाग कर हलवाई के तख्ते के नीचे छिप गया था। वह भी यहाँ भत्ता लेने पहुँचा हुआ है।

इस पर एक और ने जोड़ा, ऐसे लोग भी भत्ता माँगेंगे जो कांग्रेस में काम भी करते थे और अंग्रेज सरकार की मुखबरी भी करते थे।

कुर्बानी की तसदीक कौन करेगा?

कोई कह रहा था, कौन दरयाप्त करने जाएगा कि मैंने तीन महीने जेल काटी है या तीन साल? भत्ता माँगने वालों में ऐसे लोग भी होंगे जो झूठी दरखास्तें दे कर भत्ता मंजूर करवा लेंगे।

इस पर कोई आदमी बिफर कर बोला था और जो मर गए, जो फाँसी चढ़ गए? उन्हें क्या मिलेगा?

दो आदमियों को उसने फुसफुसाते हुए भी सुना था।

दख्खास्त तो दे दो, जो मन में आए भर दो, तसदीक करवा लेंगे। तसदीक करने वाला भी मिल जाएगा, क्या मुश्किल है।

इसी तरह एक आदमी घबराया हुआ, चिंतित-सा कह रहा था: मैंने तो जेल, सियालकोट में काटी है और वह पाकिस्तान में चला गया है। मैं तसदीक किससे करवाऊँगा।

तरह-तरह के टिप्पण सुनता रहा था और उत्तरोत्तर अटपटा महसूस करता रहा था। कहीं कुछ घट रहा था जो उसकी समझ में नहीं आ रहा था।

नतीजा यह हुआ कि वह कार्यालय में अपना फॉर्म दिए बिना घर लौट आया था।

और जब घर लौट कर आया और पत्नी को सारी वार्ता कह सुनाई तो भावावेश में बोला, मैंने भत्ते के लिए दख्खास्त नहीं दी। यह मेरी देशसेवा का अपमान नहीं है क्या? क्या मैं जेल इसलिए गया था कि एक दिन मैं उसके लिए भत्ता माँगूँगा?

कमला चुप रही थी। वह न तो निराश हुई थी न ही आश्वस्त, केवल मुस्करा कर सिर हिला दिया था, अगर तुम दख्खास्त दे कर आते तो मैं जरूर हैरान होती। उसने कहा था और वह अपने काम में लग गई थी।

यह बात भी धीरे-धीरे आई-गई हो गई थी, अर्जुनदास को इसका खेद भी नहीं था, वह इसे भूल भी चुका था, पर कहीं पर एक हलका-सा बोझ उसकी छाती पर छोड़ गई थी।

बाद में बहुत से लोगों को भत्ता मिला। महँगाई बढ़ रही थी, इस छोटे से भत्ते से निश्चय ही लोगों को लाभ पहुँचा था, पर घर पर इसकी चर्चा बंद हो गई थी, न कभी अर्जुनदास ने की, न कभी कमला ने।

राजधानी से लौटते समय एक और अटपटा-सा अनुभव अर्जुनदास को हुआ था, जिसने निश्चय ही उसे विचलित किया था। उसे लगा था जैसे कुछ घट रहा है, जो उसकी पकड़ में नहीं आ रहा जैसे कोई चीज पटरी पर से उतर गई हो।

राजधानी से लौटते समय रेलगाड़ी खचाखच भरी थी। उसके डिब्बे में उसके अपने शहर के देशवासियों के अतिरिक्त बहुत से वयोवृद्ध देशभक्त बैठे थे। किसी को कहीं पर उतरना था, किसी को दूसरे स्टेशन पर। जब गाड़ी चली तो प्लेटफॉर्म पर नारे गूँज उठे। वातावरण में फिर से उत्तेजना और देशभक्ति की

लहर दौड़ गई। अर्जुनदास भी इससे अछूता नहीं रहा। लगा पहले वाला वक्त फिर से लौट आया है।

जब गाड़ी ने रफ्तार पकड़ी तो डिब्बे में बैठे बहुत से वयोवृद्ध देशभक्त एक आवाज हो कर गाने लगे—

जरा वी लगन आजादी दी
 लग गई जिन्हां दे मन विच्च!
 और मजनुँ वण फिरदे ने
 हर सहरा हर वन दे विच्च!

कुछ लोग सुर में गा रहे थे। कुछ बेसुरे थे, कुछेक की आवाज सधी हुई, कुछेक की खरखराती। कोई पंचम में, कोई सप्तम में, कुछेक को खाँसी आ गई, पर मस्ती में सभी के सिर हिल रहे थे, सभी वज्द में थे।

दूसरी बार जब गीत की दूसरी पंक्ति गाई गई—
 लग गई जिन्हा दे मन दे विच्च!
 तो डिब्बे में कहीं से हँसने, मसखरी करने की आवाज आई—
 वि च च च!

ओ बाबू, यह विच्च क्या हुआ? कहीं से ठहाका फूटा।

सचमुच इस विच्च शब्द से बड़ी मजाकिया स्थिति बन गई थी। दूसरी बार जब देशभक्तों ने वही पंक्ति दोहराई, हो गई जिन्हां दे मन दे विच्च!

तो चार-पाँच मनचले डिब्बे में एक ओर को बैठे हुए एक साथ बोल उठे, विच्च और फिर ठहाका हुआ।

अब की बार भी देशभक्तों ने विशेष ध्यान नहीं दिया पर फिर अगली पंक्ति के अंत में यही शब्द आया।

ओह मजनुँ वण फिरदे ने
 हर सहरा, हर बन दे विच्च!

तो अब की बार पूरा डिब्बा गूँज उठा: विच्च!

अर्जुनदास मन ही मन बौखला उठा। तमतमाते चेहरे के साथ उठ खड़ा हुआ।

आपको शर्म आनी चाहिए देशभक्त के गीत का आप मजाक उड़ा रहे हैं?
 इस पर चार-पाँच नौजवान फिर बोल उठे, विच्च!

और फिर ठहाका हुआ।

पर अर्जुनदास तर्जनी हिला-हिला कर गुस्से से बोलने लगा, आपने शर्म हया बेच खाई है? ये लोग जो यहाँ बैठे हैं, सब देशभक्त हैं, इन्होंने कुर्बानियाँ दी हैं, जेलें काटी हैं, देश आजाद हुआ तो इनके बल पर और आज...

अर्जुनदास का वाक्य अभी पूरा नहीं हुआ था कि फिर से कोई मनचला चहक उठा, विच्च!

रेलगाड़ी आगे बढ़ती जा रही थी। अर्जुनदास मन मसोस कर बैठ गया। सारा मजा किरकिरा हो गया था। त्याग और आत्मोत्सर्ग का जो माहौल इस गीत में बनने लगा था, वह छिन्न-भिन्न हो गया। कुछ लोगों पर अभी भी वज्द तारी था। उनमें से एक ने फिर से कोई इंकलाबी गीत गाना शुरू कर दिया—

सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में हैं

देखना है, जोर कितना बाजू-ए-कातिल में हैं।

कुछ देर के लिए तो डिब्बे में चुप्पी छा गई। लोग ध्यान से सुनने लगे। अर्जुनदास ने भी मन ही मन कहा, क्यों नहीं सुनेंगे इस गीत को तो देश का दुश्मन भी सिर झुका कर सुनेगा। यह गीत लिखने वाला तो स्वयं फाँसी के तख्त पर झूल गया था।

पर अर्जुनदास भूल कर रहा था। मनचले फिर से खी-खी करने लगे थे। एक ने फिर से विच्च चिल्ला कर कहा। दूसरे ने गीत के गंभीर स्वर की नकल उतारते हुए कहा, हाय, मार डाला! तीसरे ने दिल पर हाथ रख कर कहा, कुंद छूरी से जबह कर डाला! और फिर से ठहाके लगने लगे।

अर्जुनदास को अभी भी समझ लेना चाहिए था कि बीते काल के माहौल को फिर से पकड़ पाने का प्रयास, उसे फिर से जीवित कर पाने का प्रयास विफल रहेगा, कि उनकी मानसिकता पकड़ नहीं पा रही है, कि उनका कालखंड समय के प्रबल प्रवाह में कब का डूब चुका है।

राजधानी से लौट कर अर्जुनदास अपनी नई गान मंडली संगठित करने में जुट गया था। बेशक राजधानी के उस दौर से उसे धक्का लगा था पर वह बिल्कुल अप्रत्याशित भी नहीं था। पिछले दौर की अपनी माँगे थीं, आज के दौर की अपनी माँगे हैं। अपनी भावुकता भरी यादों के कारण तो वह पिछले दौर से चिपटा नहीं रह सकता था।

उसके मन में कभी-कभी जरूर सवाल उठता: क्या मैं दिग्भ्रमित हो गया हूँ? क्या सचमुच मैं आदर्शवाद के हवाई घोड़े पर सवार इधर-उधर भटक रहा हूँ? क्या वे लोग जो आजादी मिलने के बाद अपने पैर जमाने के लिए ठेके और

लाइसेंस हथियाने लगे थे, ज्यादा समझदार थे जो हवा का रुख पहचानते थे? पर अर्जुनदास का मन नहीं मानता था कि वह भूल कर रहा है।

अर्जुनदास की गाड़ी पहले की ही भाँति चलती रही, अभी भी दुकान थी, प्रकाशन गृह था। पर अब उसमें समाजवाद का समर्थन तथा प्रचार करने वाली पुस्तकें अधिक छपती थीं, वाम कवियों के संग्रह छपते थे। अर्जुनदास सन 45 के नाविक विद्रोह के बाद जब जेल से छूट कर आया था तो मार्क्सवादी विचारों का रंग उस पर गहरा हो गया था। जेल के अंदर कुछ ऐसे देशभक्त भी थे जो मार्क्स और लेनिन की चर्चा किया करते थे। अर्जुनदास उनकी बातें सुनता रहता, उन्होंने कुछ साहित्य पढ़ने को दिया। उसे भी वह बड़े चाव से पढ़ता रहा था।

अर्जुनदास पहले की तुलना में और ज्यादा कर्मठ और उत्साही हो गया था। उधर गान मंडली भी बदल गई थी। नए-नए युवक युवतियाँ उसमें आ गए थे, स्फूर्ति और उत्साह पाए जाने लगे थे। अमरदास उन्हीं में से था। हाथ पसार कर ऐसी तान छेड़ता कि सारा पंडाल गूँज उठता। सच तो यह है कि अब जलसों-जुलूसों के मात्र देशभक्ति के अथवा गांधी-नेहरू के प्रति श्रद्धा के गीत बहुत जमते भी नहीं थे। भले ही स्वर योजना कितनी ही सुरीली क्यों न हो। मात्र भारत माता का गौरवगान दिल को छूता नहीं था, झिंझोड़ता नहीं था।

अर्जुनदास की दुकान और प्रकाशन गृह पहले ही तरह घिसट रहे थे। न दो कौड़ी की कमाई आजादी के पहले हुई थी, न दो कौड़ी की कमाई आजादी के बाद हो रही थी। पर अपने ढर्रे पर अर्जुनदास के पाँव फिर भी नहीं डगमगाए थे। अब वह हर बात का आर्थिक-सामाजिक कारण निकाल लेता और संतुष्ट हो जाता। यदि पत्नी के दिल में अभी भी अच्छे रहन-सहन की चाह है तो इसलिए कि बचपन में उसका लालन-पालन मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था और मध्यवर्ग वह वर्ग है, जो सदा धन-ऐश्वर्य को प्राथमिकता देता है, आदि आदि।

पत्नी की माँगें इतनी बड़ी और असाध्य नहीं थीं। पर अर्जुनदास की धृष्टता उनके आड़े आती रही थी। आदर्शवाद ने उसे अंदर से कड़ा बना दिया था वरना क्या था, वह ऐसे घर में रहना चाहती थी जिसके आगे छोटा सा आँगन हो, जिसमें वह बेल-बूटे उगा सके। या कि उनका घर किसी सँकरे बाजार में न हो कर किसी खुले इलाके में हो। इसके पिता छोटे सरकारी अफसर रहे थे, इसलिए उनका रहन-सहन अधिक सुचारु और करीने वाला था, समय पर भोजन वह भी मेज पर, साफ-सुथरे कपड़े, हर चीज अपनी जगह पर, घर में कहीं भी बेतरतीबी नहीं थी, बड़ा सुचारु सुव्यवस्थित जीवन था।

पर अर्जुनदास को इसमें भी, अंग्रेजियत की बू आया करती थी। सुव्यवस्थित रहन-सहन की इन विशिष्टताओं को भी वह अंग्रेजियत का नाम दिया करता था। एक बार यह वह जमाना था जब शादी के कुछ ही साल बाद वह सक्रिय रूप से रंगमंच पर काम करने लगा था। वे दोनों किसी रेलवे स्टेशन पर उतरे थे और कुछ फल खरीद कर साथ में ले लेना चाहते थे। उसकी पत्नी आम खरीदना चाहती थी जबकि वह खरबूजा लेने के हक में था। खरबूजे की तुलना में उसकी पत्नी को आम ज्यादा पसंद था और जब उसने आम लेने पर इसरार किया तो वह तुनक उठा था। वह आम इसलिए लेना चाहती है क्योंकि आम ज्यादा महंगा फल है, उसे ऊँचे दर्जे के लोग खाते हैं, जबकि खरबूजा आम आदमी का फल है। अंत में वह चुप हो गई थी और उसने खरबूजा लेना ही मान लिया था, लेकिन उसे यह तर्क सुन कर बड़ा अचंभा हुआ था।

मैंने कब कहा है आम बड़े आदमियों का फल है और खरबूजा छोटे आदमियों का? यह तुम कैसी बातें करने लग जाते हो? और वह रो पड़ी थी।

आज इस छोटी सी घटना को याद करके उसका मन आत्म-ग्लानि से भर उठता था। पर उन दिनों उसे इसका कोई क्षोभ नहीं हुआ था।

जिंदगी इसी तरह हिचकोले खाती यहाँ तक पहुँची थी।

जमाना बीतता गया था। न तो अर्जुनदास की अपनी दिनचर्या बदली थी न पत्नी की। किताबों की कमाई में वृद्धि तो असंभव थी, हाँ, पत्नी की जोड़-तोड़ से नौका डूबने से बची रही। वह स्कूल में भी पढ़ाती रही और दुकान का काम भी देखती रही। घर बना रहा, बेटी बड़ी हो गई, उसकी शादी भी हो गई। बेटा जहीन निकला उसे राजनीति से तो चिढ़ थी, पर किताबों के माहौल में पला था इसलिए उसकी जिज्ञासा बनी रही और वह अपनी नौका अलग से ठेल ले जाने में सफल हो गया।

अधेड़ उम्र तक पहुँचते-पहुँचते, हर आए दिन विचित्र अनुभव होते रहे थे। उनकी बेटी उनके आदर्शवाद की खिल्ली उड़ाने लगी थी। (वैसे ही जैसे, बरसों पहले रेलगाड़ी के सफर में, मनचले युवक देशभक्तों के गीत की खिल्ली उड़ाते रहते थे।) बेटी को, या तो मन-ही-मन अपनी माँ के साथ हमदर्दी थी कि उसके पिता ने उसकी माँ को परेशान किया था और इसके लिए वह उसे क्षमा नहीं कर पा रही थी। या यही नहीं, उसकी मूल आपत्ति उसकी मान्यताओं, उसकी आदर्शवादिता के प्रति थी, जिसमें उसका कोई विश्वास नहीं था। उसकी बातें सुनते हुए, अर्जुनदास हताश तो नहीं होता था-हर युग के अपने ध्येय अपने

आदर्श होते हैं—उसे अचंभा इस बात का होता था कि उसकी आदर्शवादिता उसकी बेटी को कहीं पर भी छूती तक नहीं थी। बस बस, पिताजी, सुन लिया, बहुत सुन लिया वह उसका मुँह बंद करने के लिए खीझ कर कहती और उठ कर चली जाती थी।

बेटे ने भी कुछ बरस बाद ऐसा ही रुख अपनाया था। जब बी.ए. की पढ़ाई खत्म कर चुका तो एक दिन बाप से तुनक कर बोला, न आपको कोई पूछता है, न जानता है, आप मेरी मदद क्या करेंगे?

जहाँ धन का अभाव हो वहाँ जिंदगी आए दिन थपेड़े मारती रहती है, छोटे-मोटे थपेड़े तो यों ही पड़ते रहते हैं, पर बड़ा धक्का तभी लगा जब पहले एक फिर दूसरा बच्चा, हाथ से निकल गए थे।

और जब पति-पत्नी वृद्धावस्था में प्रवेश कर रहे थे तो पहली बार अर्जुनदास को इस बात का भास होने लगा था कि उसका आदर्शवाद जो रोशनी की लौ की तरह उसका पथ प्रदर्शन करता रहा था, कुछ-कुछ मंद पड़ने लगा और यह सवाल बार-बार उसके मन में उठने लगा था। क्या मैंने अपनी जिंदगी नासमझी में व्यतीत की है? यदि मैं फिर से जन्म ले कर आऊँ तो क्या फिर से ऐसा ही जीवन व्यतीत करना चाहूँगा?

मैदान में बैठा वह अपने से यही प्रश्न पूछ रहा था और उसे कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिल रहा था। बैठे-बैठे ही वह बुदबुदाया।

जिस दिल पे मुझको नाज था,
वह दिल नहीं रहा।

तभी रंगमंच की ओर घंटी की आवाज सुनाई दी। अर्जुनदास मानों तंद्रा से जागा। मैदान में अच्छी-खासी भीड़ जमा थी। रोशनी कम थी, केवल कुछ खंभों पर ही तारें जोड़ कर रोशनी के कुमकुमे लगाए गए थे, वह भी मद्धम से। कार्यक्रम आरंभ होने वाला था।

सहसा अर्जुनदास को चेत हुआ, कार्यक्रम के बाद युवक उसके पास आएगा, मार्गदर्शन के लिए, मैं उससे क्या कहूँगा? क्या मैं उससे कहूँगा कि बेटा, कूद जाओ, दिल का रास्ता ही सीधा रास्ता होता है या मैं उससे कहूँगा कि जो निर्णय करो, सोच-विचार कर करो, अपनी स्थिति पर विचार करके, अपने दायित्वों पर भी।

उसकी आँखों के सामने युवक का चेहरा उभर आया, ऊँचा-लंबा कद छरहरा बदन, मसं भीगी हुई, स्वच्छ उत्साह भरी आँखें, अनछुआ व्यक्तित्व, कहीं

किसी थपेड़े की छाया नहीं, न ही किसी संघर्ष का तनाव। उत्साह ही उत्साह, उत्साह और उत्सुकता। आज वह उस स्थल पर खड़ा है, जहाँ से उसकी जीवनयात्रा आरंभ होगी।

मैं उससे क्या कहूँगा? उसे कहूँ कि प्रत्येक ध्येय की एक उम्र होती है, वह उस समय तक जीवित रहता है और लोगों को उत्प्रेरित करता रहता है, जब तक उसके चरितार्थ किए जाने की संभावना बनी रहती है। जब वह संभावना समाप्त हो जाती है तो उस ध्येय की प्रासंगिकता भी समाप्त हो जाती है, यदि एक बार पता चल जाए कि वह जीवन की संभावनाओं से दूर हो गया है तो उसकी सार्थकता समाप्त हो जाती है।

पर क्या वह समझ पाएगा? और क्या सचमुच इस युवक के ध्येय की प्रासंगिकता समाप्त हो गई है? क्या सचमुच स्थितियाँ बदल गई हैं और ध्येय की सार्थकता मंद पड़ गई है? कहीं ऐसा तो नहीं—अर्जुनदास ने मन ही मन कहा—कि मैं अपनी कमजोरी को आदर्शों-ध्येयों पर थोप रहा हूँ? यह समझ रहा हूँ कि जिन आदर्शों का दामन पकड़ कर मैं दसियों साल पहले इस रास्ते पर आया था वे अपनी सार्थकता खो चुके हैं। वास्तव में अपने जीवन की विकट स्थितियों को मैं सँभाल नहीं पाया, अपने निजी विरोधाभासों को मैं देख नहीं पाया और आदर्शों और ध्येयों को दोष देने लगा हूँ।

सहसा उसके कानों में किसी गीत के स्वर पड़े। बहुत से कंठ एक साथ गा रहे थे और स्वर लहरियाँ वातावरण में हिलोरे लेने लगी थीं। अर्जुनदास उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे चलता हुआ दर्शकों की पाँतों की ओर बढ़ गया। उसे पता नहीं चला कि कब उसके वयोवृद्ध साथी, उसकी पत्नी, अन्य लोग, मैदान में पहुँच गए थे और कहाँ पर जा बैठे थे। खंभों पर लगी मद्धिम-सी बत्तियों की रोशनी में वह मैदान में बढ़ता हुआ, पिछली एक पाँत में बैठ गया। मैदान में भारी भीड़ जमा हो गई थी और ऊँचे मंच पर, माइक के पीछे एक गान मंडली खड़ी गा रही थी। मंडली के आगे वही युवक खड़ा था, अपना दायाँ हाथ ऊँचा उठाए, गहरी रूँधी हुई भावना में ओतप्रोत आवाज में वह सहगान में अपनी मंडली का नेतृत्व कर रहा था। सारा वातावरण उद्वेलित होने लगा था।

एक साथ है कदम, जहान साथ है

लोगों की भीड़ पर उस गीत का असर होने लगा था। देश की विकट स्थिति आँखों के सामने उभरने लगी थीं, मानो उनकी आवाज में वह दारूण स्थिति मुखर हो उठी हो। स्वर लहरियाँ उठ रही थी, गीत के शब्द दिलों पर

दस्तक देने लगे थे। अर्जुनदास पीछे की कतारों में से एक कतार में चुपचाप आ कर बैठ गया था। लोग इस भावोद्बलित गीत को सुनने में इतने तन्मय थे कि संयोजकों में से किसी का ध्यान वयोवृद्ध अर्जुनदास की ओर नहीं गया, नहीं तो उसके पास दौड़े आते और उसका हाथ थाम कर उसे अगली पाँत में बैठने के लिए ले जाते।

गीत समाप्त हुआ, पर उसका स्पंदन वायु मंडल को उद्वेलित किए रहा। फिर एक और गीत गाया गया, वही मंडली फिर से गा रही थी। मंडली के पास केवल एक ढोल और एक हारमोनियम था, गाने वाले भी सही निपुण कलाकार नहीं थे, परंतु भावना सभी अभावों की पूर्ति कर रही थी, कहीं कुछ था जो उनके अनगढ़, कहीं-कहीं बेमेल आवाजों में भी मर्मस्पर्शी संगीत का संचार कर रहा था। अर्जुनदास को बैठे-बैठे अमरदास याद हो आया जो हाथ पसार कर ऐसे तान छेड़ता था कि सारा पंडाल गूँज उठता था। अमरदास जो अभावों में मरा था, पर जो हजारों-हजार लोगों के दिलों को बाँध लिया करता था।

अर्जुनदास धीरे-धीरे उस कार्यक्रम में खोता चला गया। ऐसा अक्सर होता था, गीत सुनते हुए भाव-विभोर हो उठता था, पर कार्यक्रम समाप्त हो जाने पर उसका नशा जल्दी उतरने भी लगता और वस्तुस्थिति के कंकड़-पत्थर जैसे फिर से उसे चुभने लगते।

फिर वैसी ही बात हुई जैसी दसियों साल पहले, अर्जुनदास की जवानी के दिनों में हुई थी, मानो अतीत के धुँधलके में घटी हो। वही छरहरे शरीर वाला युवक मंच पर लालटेन उठाए बूढ़े बुजुर्ग की दाढ़ी लगाए, ऊँची थरथराती आवाज में कह रहा था, सुनोगे? इस विपदा की कहानी सुनोगे?

और दर्शकों की भीड़ दत्तचित्त सुने जा रही थी। उस युवक के हाथ में झूलता हरीकेन लैंप लगता किन्हीं सुनसान बियाबानों को लौंघ रहा था।

लगभग डेढ़ घंटे बाद खेल समाप्त हुआ। खेल समाप्त होने पर वही युवक मंच पर से उतर आया और झोली पसारे मैदान में बैठे दर्शकों की पाँतों की ओर बढ़ने लगा। युवक के पीछे-पीछे मंडली के अन्य युवक युवतियाँ भी उतर आए थे। सभी नीचे पहुँच कर छितर गए थे और झोली फैलाए एक पाँत से दूसरी पाँत की ओर जाने लगे थे।

जब वही युवक, झोली फैलाए, अर्जुनदास के निकट, सामने वाली पाँत के सामने से गुजर रहा था तो एक स्त्री ने भावविह्वल हो कर अपने दोनों हाथ उठा कर अपने कानों में से झूमर उतार कर युवक की झोली में डाल दिए थे।

अर्जुनदास चौंका, उसने ध्यान से देखा उसकी पत्नी कमला ने झूमर उतार कर झोली में फेंके थे। उसका एकमात्र झूमरों का जोड़ा जो बेटी की शादी के समय उसने अपने लिए बनवाया था। झूमर फेंक चुकने के बाद, कमला सिर पर अपनी ओढ़नी ठीक कर रही थी और अपनी आँखें पोंछ रही थी।

7

फणीश्वर नाथ 'रेणु'

(फणीश्वर नाथ रेणु से अनुप्रेषित)

फणीश्वर नाथ 'रेणु' (4 मार्च 1921 औराही हिंगना, फारबिसगंज-11 अप्रैल 1977) एक हिन्दी भाषा के साहित्यकार थे। इनके पहले उपन्यास मैला आंचल को बहुत ख्याति मिली थी, जिसके लिए उन्हें पद्मश्री पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

जीवनी

फणीश्वर नाथ 'रेणु' का जन्म 4 मार्च 1921 को बिहार के अररिया जिले में फारबिसगंज के पास औराही हिंगना गाँव में हुआ था। उस समय यह पूर्णिया जिले में था। उनकी शिक्षा भारत और नेपाल में हुई। प्रारंभिक शिक्षा फारबिसगंज तथा अररिया में पूरी करने के बाद रेणु ने मैट्रिक नेपाल के विराटनगर के विराटनगर आदर्श विद्यालय से कोईराला परिवार में रहकर की। इन्होंने इन्टरमीडिएट काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1942 में की जिसके बाद वे स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। बाद में 1950 में उन्होने नेपाली क्रांतिकारी आन्दोलन में भी हिस्सा लिया जिसके परिणामस्वरूप नेपाल में जनतंत्र की स्थापना हुई। पटना विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के साथ छात्र संघर्ष समिति में सक्रिय रूप से भाग लिया और जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति में अहम भूमिका निभाई। 1952-53 के समय वे भीषण रूप से रोगग्रस्त रहे थे जिसके बाद लेखन की ओर उनका

झुकाव हुआ। उनके इस काल की झलक उनकी कहानी तबे एकला चलो रे में मिलती है। उन्होंने हिन्दी में आंचलिक कथा की नींव रखी। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, एक समकालीन कवि, उनके परम मित्र थे। इनकी कई रचनाओं में कटिहार के रेलवे स्टेशन का उल्लेख मिलता है।

लेखन-शैली

इनकी लेखन-शैली वर्णणात्मक थी जिसमें पात्र के प्रत्येक मनोवैज्ञानिक सोच का विवरण लुभावने तरीके से किया होता था। पात्रों का चरित्र-निर्माण काफी तेजी से होता था क्योंकि पात्र एक सामान्य-सरल मानव मन (प्रायः) के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता था। इनकी लगभग हर कहानी में पात्रों की सोच घटनाओं से प्रधान होती थी। एक आदिम रात्रि की महक इसका एक सुंदर उदाहरण है।

रेणु की कहानियों और उपन्यासों में उन्होंने आंचलिक जीवन के हर धुन, हर गंध, हर लय, हर ताल, हर सुर, हर सुंदरता और हर कुरूपता को शब्दों में बांधने की सफल कोशिश की है। उनकी भाषा-शैली में एक जादुई सा असर है, जो पाठकों को अपने साथ बांध कर रखता है। रेणु एक अद्भुत किस्सागो थे और उनकी रचनाएँ पढ़ते हुए लगता है मानों कोई कहानी सुना रहा हो। ग्राम्य जीवन के लोकगीतों का उन्होंने अपने कथा साहित्य में बड़ा ही सर्जनात्मक प्रयोग किया है।

इनका लेखन प्रेमचंद की सामाजिक यथार्थवादी परंपरा को आगे बढ़ाता है और इन्हें आजादी के बाद का प्रेमचंद की संज्ञा भी दी जाती है। अपनी कृतियों में उन्होंने आंचलिक पदों का बहुत प्रयोग किया है।

साहित्यिक कृतियाँ

उपन्यास

रेणु को जितनी ख्याति हिंदी साहित्य में अपने उपन्यास मैला आँचल से मिली, उसकी मिसाल मिलना दुर्लभ है। इस उपन्यास के प्रकाशन ने उन्हें रातो-रात हिंदी के एक बड़े कथाकार के रूप में प्रसिद्ध कर दिया। कुछ आलोचकों ने इसे गोदान के बाद इसे हिंदी का दूसरा सर्वश्रेष्ठ उपन्यास घोषित करने में भी देर नहीं की। हालाँकि विवाद भी कम नहीं खड़े किये उनकी

प्रसिद्धि से जलने वालों ने. इसे सतीनाथ भादुरी के बंगला उपन्यास 'धोधाई चरित मानस' की नकल बताने की कोशिश की गयी। पर समय के साथ इस तरह के झूठे आरोप ठण्डे पड़ते गए।

रेणु के उपन्यास लेखन में मैला आँचल और परती परिकथा तक लेखन का ग्राफ ऊपर की ओर जाता है पर इसके बाद के उपन्यासों में वो बात नहीं दिखी।

मैला आँचल
 परती परिकथा
 जूलूस
 दीर्घतपा
 कितने चौराहे
 पलटू बाबू रोड
 कथा-संग्रह
 एक आदिम रात्रि की महक
 ठुमरी
 अग्निखोर
 अच्छे आदमी
 रिपोर्ताज
 ऋणजल-धनजल
 नेपाली क्रांतिकथा
 वनतुलसी की गंध
 श्रुत अश्रुत पूर्वे
 प्रसिद्ध कहानियाँ
 मारे गये गुलफाम (तीसरी कसम)
 एक आदिम रात्रि की महक
 लाल पान की बेगम
 पंचलाइट
 तबे एकला चलो रे
 ठेस
 संवदिया

तीसरी कसम पर इसी नाम से राजकपूर और वहीदा रहमान की मुख्य भूमिका में प्रसिद्ध फिल्म बनी जिसे बासु भट्टाचार्य ने निर्देशित किया और सुप्रसिद्ध गीतकार शैलेन्द्र इसके निर्माता थे। यह फिल्म हिंदी सिनेमा में मील का पत्थर मानी जाती है। हीरामन और हीराबाई की इस प्रेम कथा ने प्रेम का एक अद्भुत महाकाव्यात्मक पर दुखांत कसक से भरा आख्यान सा रचा जो आज भी पाठकों और दर्शकों को लुभाता है।

सम्मान

अपने प्रथम उपन्यास 'मैला आंचल' के लिये उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया गया।

पुस्तक

फणीश्वर नाथ रेणु का कथा शिल्प, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के ग्रांट से प्रकाशित (1990), लेखक: रेणु शाह

भारत रत्न की मांग

वर्ष 2019 में यूथ फॉर बिहार के राष्ट्रीय अध्यक्ष एवं अखिल भारतीय धानुक एकता महासंघ के राष्ट्रीय महासचिव उदय मंडल ने भारत सरकार से फणीश्वरनाथ 'रेणु' को भारत रत्न देने की मांग की।

तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम फणीश्वरनाथ रेणु

हिरामन गाड़ीवान की पीठ में गुदगुदी लगती है।..

पिछले बीस साल से गाड़ी हाँकता है हिरामन। बैलगाड़ी। सीमा के उस पार, मोरंग राज नेपाल से धान और लकड़ी ढो चुका है। कंट्रोल के जमाने में चोरबाजारी का माल इस पार से उस पार पहुँचाया है। लेकिन कभी तो ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में!

कंट्रोल का जमाना! हिरामन कभी भूल सकता है उस जमाने को! एक बार चार खेप सीमेंट और कपड़े की गाँठों से भरी गाड़ी, जोगबानी में विराटनगर पहुँचने के बाद हिरामन का कलेजा पोखता हो गया था। फारबिसगंज का हर चोर-व्यापारी उसको पक्का गाड़ीवान मानता। उसके बैलों की बड़ाई बड़ी गद्दी के बड़े सेठ जी खुद करते, अपनी भाषा में।

गाड़ी पकड़ी गई पाँचवी बार, सीमा के इस पार तराई में।

महाजन का मुनीम उसी की गाड़ी पर गाँठों के बीच चुक्की-मुक्की लगा कर छिपा हुआ था। दारोगा साहब की डेढ़ हाथ लंबी चोरबत्ती की रोशनी कितनी

तेज होती है, हिरामन जानता है। एक घंटे के लिए आदमी अंधा हो जाता है, एक छटक भी पड़ जाए आँखों पर! रोशनी के साथ कड़कती हुई आवाज-‘ऐ-य! गाड़ी रोको! साले, गोली मार देंगे?’

बीसों गाड़ियाँ एक साथ कचकचा कर रुक गईं। हिरामन ने पहले ही कहा था, ‘यह बीस विषावेगा!’ दारोगा साहब उसकी गाड़ी में दुबके हुए मुनीम जी पर रोशनी डाल कर पिशाची हँसी हँसे-‘हा-हा-हा! मुनीम जी-ई-ई-ई! ही-ही-ही! ऐ-य, साला गाड़ीवान, मुँह क्या देखता है रे-ए-ए! कंबल हटाओ इस बोरे के मुँह पर से!’ हाथ की छोटी लाठी से मुनीम जी के पेट में खोंचा मारते हुए कहा था, ‘इस बोरे को! स-स्साला!’

बहुत पुरानी अखज-अदावत होगी दारोगा साहब और मुनीम जी में। नहीं तो उतना रुपया कबूलने पर भी पुलिस-दारोगा का मन न डोले भला! चार हजार तो गाड़ी पर बैठा ही दे रहा है। लाठी से दूसरी बार खोंचा मारा दारोगा ने। ‘पाँच हजार!’ फिर खोंचा-‘उतरो पहले...’

मुनीम को गाड़ी से नीचे उतार कर दारोगा ने उसकी आँखों पर रोशनी डाल दी। फिर दो सिपाहियों के साथ सड़क से बीस-पच्चीस रस्सी दूर झाड़ी के पास ले गए। गाड़ीवान और गाड़ियों पर पाँच-पाँच बंदूकवाले सिपाहियों का पहरा! हिरामन समझ गया, इस बार निस्तार नहीं। जेल? हिरामन को जेल का डर नहीं। लेकिन उसके बैल? न जाने कितने दिनों तक बिना चारा-पानी के सरकारी फाटक में पड़े रहेंगे-भूखे-प्यासे। फिर नीलाम हो जाएँगे। भैया और भौजी को वह मुँह नहीं दिखा सकेगा कभी। ...नीलाम की बोली उसके कानों के पास गूँज गई-एक-दो-तीन! दारोगा और मुनीम में बात पट नहीं रही थी शायद।

हिरामन की गाड़ी के पास तैनात सिपाही ने अपनी भाषा में दूसरे सिपाही से धीमी आवाज में पूछा, ‘का हो? मामला गोल होखी का?’ फिर खैनी-तंबाकू देने के बहाने उस सिपाही के पास चला गया।

एक-दो-तीन! तीन-चार गाड़ियों की आड़। हिरामन ने फ़ैसला कर लिया। उसने धीरे-से अपने बैलों के गले की रस्सियाँ खोल लीं। गाड़ी पर बैठे-बैठे दोनों को जुड़वाँ बाँध दिया। बैल समझ गए उन्हें क्या करना है। हिरामन उतरा, जुती हुई गाड़ी में बाँस की टिकटी लगा कर बैलों के कंधों को बेलाग किया। दोनों के कानों के पास गुदगुदी लगा दी और मन-ही-मन बोला, ‘चलो भैयन, जान बचेगी तो ऐसी-ऐसी सगगड़ गाड़ी बहुत मिलेगी।’ ...एक-दो-तीन! नौ-दो-ग्यारह! ..

गाड़ियों की आड़ में सड़क के किनारे दूर तक घनी झाड़ी फैली हुई थी। दम साध कर तीनों प्राणियों ने झाड़ी को पार किया-बेखटक, बेआहट! फिर एक ले, दो ले-दुलकी चाल! दोनों बैल सीना तान कर फिर तराई के घने जंगलों में घुस गए। राह सूँघते, नदी-नाला पार करते हुए भागे पूँछ उठा कर। पीछे-पीछे हिरामन। रात-भर भागते रहे थे तीनों जन।

घर पहुँच कर दो दिन तक बेसुध पड़ा रहा हिरामन। होश में आते ही उसने कान पकड़ कर कसम खाई थी-अब कभी ऐसी चीजों की लदनी नहीं लादेंगे। चोरबाजारी का माल? तोबा, तोबा!... पता नहीं मुनीम जी का क्या हुआ! भगवान जाने उसकी सगगड़ गाड़ी का क्या हुआ! असली इस्पात लोहे की धुरी थी। दोनों पहिए तो नहीं, एक पहिया एकदम नया था। गाड़ी में रंगीन डोरियों के फुँदने बड़े जतन से गूँथे गए थे।

दो कसमें खाई हैं उसने। एक चोरबाजारी का माल नहीं लादेंगे। दूसरी-बाँस। अपने हर भाड़ेदार से वह पहले ही पूछ लेता है-‘चोरी-चमारीवाली चीज तो नहीं? और, बाँस? बाँस लादने के लिए पचास रूपए भी दे कोई, हिरामन की गाड़ी नहीं मिलेगी। दूसरे की गाड़ी देखे।

बाँस लदी हुई गाड़ी! गाड़ी से चार हाथ आगे बाँस का अगुआ निकला रहता है और पीछे की ओर चार हाथ पिछुआ! काबू के बाहर रहती है गाड़ी हमेशा। सो बेकाबूवाली लदनी और खरैहिया। शहरवाली बात! तिस पर बाँस का अगुआ पकड़ कर चलने वाला भाड़ेदार का महाभकूआ नौकर, लड़की-स्कूल की ओर देखने लगा। बस, मोड़ पर घोड़ागाड़ी से टक्कर हो गई। जब तक हिरामन बैलों की रस्सी खींचे, तब तक घोड़ागाड़ी की छतरी बाँस के अगुआ में फँस गई। घोड़ा-गाड़ीवाले ने तड़ातड़ चाबुक मारते हुए गाली दी थी! बाँस की लदनी ही नहीं, हिरामन ने खरैहिया शहर की लदनी भी छोड़ दी और जब फारबिसगंज से मोरंग का भाड़ा ढोना शुरू किया तो गाड़ी ही पार! कई वर्षों तक हिरामन ने बैलों को आधीदारी पर जोता। आधा भाड़ा गाड़ीवाले का और आधा बैलवाले का। हिस्स! गाड़ीवानी करो मुफ्त! आधीदारी की कमाई से बैलों के ही पेट नहीं भरते। पिछले साल ही उसने अपनी गाड़ी बनवाई है।

देवी मैया भला करें उस सरकस-कंपनी के बाघ का। पिछले साल इसी मेले में बाघगाड़ी को ढोने वाले दोनों घोड़े मर गए। चंपानगर से फारबिसगंज मेला आने के समय सरकस-कंपनी के मैनेजर ने गाड़ीवान-पट्टी में ऐलान करके कहा-‘सौ रुपया भाड़ा मिलेगा!’ एक-दो गाड़ीवान राजी हुए। लेकिन, उनके बैल

बाघगाड़ी से दस हाथ दूर ही डर से डिकरने लगे-बाँ-आँ! रस्सी तुड़ा कर भागे। हिरामन ने अपने बैलों की पीठ सहलाते हुए कहा, 'देखो भैयन, ऐसा मौका फिर हाथ न आएगा। यही है मौका अपनी गाड़ी बनवाने का। नहीं तो फिर आधेदारी। अरे पिंजड़े में बंद बाघ का क्या डर? मोरंग की तराई में दहाड़ते हुई बाघों को देख चुके हो। फिर पीठ पर मैं तो हूँ!...''

गाड़ीवानों के दल में तालियाँ पटपटा उठीं थीं एक साथ। सभी की लाज रख ली हिरामन के बैलों ने। हुमक कर आगे बढ़ गए और बाघगाड़ी में जुट गए-एक-एक करके। सिर्फ दाहिने बैल ने जुतने के बाद ढेर-सा पेशाब किया। हिरामन ने दो दिन तक नाक से कपड़े की पट्टी नहीं खोली थी। बड़ी गद्दी के बड़े सेठ जी की तरह नकबन्धन लगाए बिना बघाइन गंध बरदास्त नहीं कर सकता कोई।

बाघगाड़ी की गाड़ीवानी की है हिरामन ने। कभी ऐसी गुदगुदी नहीं लगी पीठ में। आज रह-रह कर उसकी गाड़ी में चंपा का फूल महक उठता है। पीठ में गुदगुदी लगने पर वह अँगोछे से पीठ झाड़ लेता है।

हिरामन को लगता है, दो वर्ष से चंपानगर मेले की भगवती मैया उस पर प्रसन्न है। पिछले साल बाघगाड़ी जुट गई। नकद एक सौ रूपए भाड़े के अलावा बुताद, चाह-बिस्कुट और रास्ते-भर बंदर-भालू और जोकर का तमाशा देखा सो फोकट में!

और, इस बार यह जनानी सवारी औरत है या चंपा का फूल! जब से गाड़ी मह-मह महक रही है।

कच्ची सड़क के एक छोटे-से खड्ड में गाड़ी का दाहिना पहिया बेमौके हिचकोला खा गया। हिरामन की गाड़ी से एक हल्की 'सिस' की आवाज आई। हिरामन ने दाहिने बैल को दुआली से पीटते हुए कहा, 'साला! क्या समझता है, बोरे की लदनी है क्या?'

'अहा! मारो मत!'

अनदेखी औरत की आवाज ने हिरामन को अचरज में डाल दिया। बच्चों की बोली जैसी महीन, फेनूगिलासी बोली!

मथुरामोहन नौटंकी कंपनी में लैला बनने वाली हीराबाई का नाम किसने नहीं सुना होगा भला! लेकिन हिरामन की बात निराली है! उसने सात साल तक लगातार मेलों की लदनी लादी है, कभी नौटंकी-थियेटर या बायस्कोप सिनेमा नहीं देखा। लैला या हीराबाई का नाम भी उसने नहीं सुना कभी। देखने की क्या

बात! सो मेला टूटने के पंद्रह दिन पहले आधी रात की बेला में काली ओढ़नी में लिपटी औरत को देख कर उसके मन में खटका अवश्य लगा था। बक्सा ढोने वाले नौकर से गाड़ी-भाड़ा में मोल-मोलाई करने की कोशिश की तो ओढ़नीवाली ने सिर हिला कर मना कर दिया। हिरामन ने गाड़ी जोतते हुए नौकर से पूछा, 'क्यों भैया, कोई चोरी चमारी का माल-वाल तो नहीं?' हिरामन को फिर अचरज हुआ। बक्सा ढोने वाले आदमी ने हाथ के इशारे से गाड़ी हाँकने को कहा और अँधेरे में गायब हो गया। हिरामन को मेले में तंबाकू बेचने वाली बूढ़ी की काली साड़ी की याद आई थी।

ऐसे में कोई क्या गाड़ी हाँके!

एक तो पीठ में गुदगुदी लग रही है। दूसरे रह-रह कर चंपा का फूल खिल जाता है उसकी गाड़ी में। बैलों को डाँटो तो 'इस-बिस' करने लगती है उसकी सवारी। उसकी सवारी! औरत अकेली, तंबाकू बेचने वाली बूढ़ी नहीं! आवाज सुनने के बाद वह बार-बार मुड़ कर टप्पर में एक नजर डाल देता है, अँगोछे से पीठ झाड़ता है। ...भगवान जाने क्या लिखा है इस बार उसकी किस्मत में! गाड़ी जब पूरब की ओर मुड़ी, एक टुकड़ा चाँदनी उसकी गाड़ी में समा गई। सवारी की नाक पर एक जुगनू जगमगा उठा। हिरामन को सबकुछ रहस्यमय-अजगुत-अजगुत-लग रहा है। सामने चंपानगर से सिंधिया गाँव तक फैला हुआ मैदान... कहीं डाकिन-पिशाचिन तो नहीं?

हिरामन की सवारी ने करवट ली। चाँदनी पूरे मुखड़े पर पड़ी तो हिरामन चीखते-चीखते रुक गया-अरे बाप! ई तो परी है!

परी की आँखें खुल गईं। हिरामन ने सामने सड़क की ओर मुँह कर लिया और बैलों को टिटकारी दी। वह जीभ को तालू से सटा कर टिट-टिट-टिट आवाज निकालता है। हिरामन की जीभ न जाने कब से सूख कर लकड़ी-जैसी हो गई थी!

'भैया, तुम्हारा नाम क्या है?'

हू-ब-हू फेनूगिलास! ...हिरामन के रोम-रोम बज उठे। मुँह से बोली नहीं निकली। उसके दोनों बैल भी कान खड़े करके इस बोली को परखते हैं।

'मेरा नाम! ...नाम मेरा है हिरामन!'

उसकी सवारी मुस्कराती है। ...मुस्कराहट में खुशबू है।

'तब तो मीता कहूँगी, भैया नहीं।-मेरा नाम भी हीरा है।'

'इस्स!' हिरामन को परतीत नहीं, 'मर्द और औरत के नाम में फर्क होता है।'

'हाँ जी, मेरा नाम भी हीराबाई है।'

कहाँ हिरामन और कहाँ हीराबाई, बहुत फर्क है।

हिरामन ने अपने बैलों को झिड़की दी—'कान चुनिया कर गप सुनने से ही तीस कोस मंजिल कटेगी क्या? इस बाएँ नाटे के पेट में शैतानी भरी है।' हिरामन ने बाएँ बैल को दुआली की हल्की झड़प दी।

'मारो मत, धीरे धीरे चलने दो। जल्दी क्या है!'

हिरामन के सामने सवाल उपस्थित हुआ, वह क्या कह कर 'गप' करे हीराबाई से? 'तोहे' कहे या 'अहाँ'? उसकी भाषा में बड़ों को 'अहाँ' अर्थात् 'आप' कह कर संबोधित किया जाता है, कचराही बोली में दो-चार सवाल-जवाब चल सकता है, दिल-खोल गप तो गाँव की बोली में ही की जा सकती है किसी से।

आसिन-कातिक के भोर में छा जाने वाले कुहासे से हिरामन को पुरानी चिढ़ है। बहुत बार वह सड़क भूल कर भटक चुका है। किंतु आज के भोर के इस घने कुहासे में भी वह मगन है। नदी के किनारे धन-खेतों से फूले हुए धान के पौधों की पवनिया गंध आती है। पर्व-पावन के दिन गाँव में ऐसी ही सुगंध फैली रहती है। उसकी गाड़ी में फिर चंपा का फूल खिला। उस फूल में एक परी बैठी है। ...जै भगवती।

हिरामन ने आँख की कनखियों से देखा, उसकी सवारी ...मीता ...हीराबाई की आँखें गुजुर-गुजुर उसको हेर रही हैं। हिरामन के मन में कोई अजानी रागिनी बज उठी। सारी देह सिरसिरा रही है। बोला, 'बैल को मारते हैं तो आपको बहुत बुरा लगता है?'

हीराबाई ने परख लिया, हिरामन सचमुच हीरा है।

चालीस साल का हट्टा-कट्टा, काला-कलूटा, देहाती नौजवान अपनी गाड़ी और अपने बैलों के सिवाय दुनिया की किसी और बात में विशेष दिलचस्पी नहीं लेता। घर में बड़ा भाई है, खेती करता है। बाल-बच्चे वाला आदमी है। हिरामन भाई से बढ़ कर भाभी की इज्जत करता है। भाभी से डरता भी है। हिरामन की भी शादी हुई थी, बचपन में ही गौने के पहले ही दुलहिन मर गई। हिरामन को अपनी दुलहिन का चेहरा याद नहीं। ...दूसरी शादी? दूसरी शादी न करने के अनेक कारण हैं। भाभी की जिद, कुमारी लड़की से ही हिरामन की शादी करवाएगी। कुमारी का मतलब हुआ पाँच-सात साल की लड़की। कौन मानता है सरधा-कानून? कोई लड़कीवाला दोब्याहू को अपनी लड़की गरज में

पड़ने पर ही दे सकता है। भाभी उसकी तीन-सत्त करके बैठी है, सो बैठी है। भाभी के आगे भैया की भी नहीं चलती! ...अब हिरामन ने तय कर लिया है, शादी नहीं करेगा। कौन बलाय मोल लेने जाए! ...ब्याह करके फिर गाड़ीवानी क्या करेगा कोई! और सब कुछ छूट जाए, गाड़ीवानी नहीं छोड़ सकता हिरामन।

हीराबाई ने हिरामन के जैसा निश्छल आदमी बहुत कम देखा है। पूछा, 'आपका घर कौन जिल्ला में पड़ता है?' कानपुर नाम सुनते ही जो उसकी हँसी छूटी, तो बैल भड़क उठे। हिरामन हँसते समय सिर नीचा कर लेता है। हँसी बंद होने पर उसने कहा, 'वाह रे कानपुर! तब तो नाकपुर भी होगा?' 'और जब हीराबाई ने कहा कि नाकपुर भी है, तो वह हँसते-हँसते दुहरा हो गया।

'वाह रे दुनिया! क्या-क्या नाम होता है! कानपुर, नाकपुर!' हिरामन ने हीराबाई के कान के फूल को गौर से देखा। नाक की नकछवि के नग देख कर सिहर उठा-लहू की बूँद!

हिरामन ने हीराबाई का नाम नहीं सुना कभी। नौटंकी कंपनी की औरत को वह बाईजी नहीं समझता है। ...कंपनी में काम करने वाली औरतों को वह देख चुका है। सरकस कंपनी की मालकिन, अपनी दोनों जवान बेटियों के साथ बाघगाड़ी के पास आती थी, बाघ को चारा-पानी देती थी, प्यार भी करती थी खूब। हिरामन के बैलों को भी डबलरोटी-बिस्कुट खिलाया था बड़ी बेटी ने।

हिरामन होशियार है। कुहासा छँटते ही अपनी चादर से टप्पर में परदा कर दिया - 'बस दो घंटा! उसके बाद रास्ता चलना मुश्किल है। कातिक की सुबह की धूल आप बर्दास्त न कर सकिएगा। कजरी नदी के किनारे तेगछिया के पास गाड़ी लगा देंगे। दुपहरिया काट कर...।'

सामने से आती हुई गाड़ी को दूर से ही देख कर वह सतर्क हो गया। लीक और बैलों पर ध्यान लगा कर बैठ गया। राह काटते हुए गाड़ीवान ने पूछा, 'मेला टूट रहा है क्या भाई?'

हिरामन ने जवाब दिया, वह मेले की बात नहीं जानता। उसकी गाड़ी पर 'बिदागी' (नैहर या ससुराल जाती हुई लड़की) है। न जाने किस गाँव का नाम बता दिया हिरामन ने।

'छतापुर-पचीरा कहाँ है?'

'कहीं हो, यह ले कर आप क्या करिएगा?' हिरामन अपनी चतुराई पर हँसा। परदा डाल देने पर भी पीठ में गुदगुदी लगती है।

हिरामन परदे के छेद से देखता है। हीराबाई एक दियासलाई की डिब्बी को बराबर आईने में अपने दाँत देख रही है। ...मदनपुर मेले में एक बार बैलों को नन्हीं-चिती कौड़ियों की माला खरीद दी थी। हिरामन ने, छोटी-छोटी, नन्हीं-नन्हीं कौड़ियों की पाँत।

तेगछिया के तीनों पेड़ दूर से ही दिखलाई पड़ते हैं। हिरामन ने परदे को जरा सरकाते हुए कहा, 'देखिए, यही है तेगछिया। दो पेड़ जटामासी बड़ है और एक उस फूल का क्या नाम है, आपके कुरते पर जैसा फूल छपा हुआ है, वैसा ही, खूब महकता है, दो कोस दूर तक गंध जाती है, उस फूल को खमीरा तंबाकू में डाल कर पीते भी हैं लोग।'

'और उस अमराई की आड़ से कई मकान दिखाई पड़ते हैं, वहाँ कोई गाँव है या मंदिर?'

हिरामन ने बीड़ी सुलगाने के पहले पूछा, 'बीड़ी पीएँ? आपको गंध तो नहीं लगेगी? ...वही है नामलगर ड्योढ़ी। जिस राजा के मेले से हम लोग आ रहे हैं, उसी का दियाद-गोतिया है। ...जा रे जमाना!'

हिरामन ने जा रे जमाना कह कर बात को चाशनी में डाल दिया। हीराबाई ने टप्पर के परदे को तिरछे खोंस दिया। हीराबाई की दंतपंक्ति।

'कौन जमाना?' तुड्डी पर हाथ रख कर साग्रह बोली।

'नामलगर ड्योढ़ी का जमाना! क्या था और क्या-से-क्या हो गया!'

हिरामन गप रसाने का भेद जानता है। हीराबाई बोली, 'तुमने देखा था वह जमाना?'

'देखा नहीं, सुना है। राज कैसे गया, बड़ी हैफवाली कहानी है। सुनते हैं, घर में देवता ने जन्म ले लिया। कहिए भला, देवता आखिर देवता है। है या नहीं? इंदरासन छोड़ कर मिरतूभुवन में जन्म ले ले तो उसका तेज कैसे सम्हाल सकता है कोई! सूरजमुखी फूल की तरह माथे के पास तेज खिला रहता। लेकिन नजर का फेर, किसी ने नहीं पहचाना। एक बार उपलैन में लाट साहब मय लाटनी के, हवागाड़ी से आए थे। लाट ने भी नहीं, पहचाना आखिर लटनी ने। सूरजमुखी तेज देखते ही बोल उठी-ए मैन राजा साहब, सुनो, यह आदमी का बच्चा नहीं है, देवता है।'

हिरामन ने लाटनी की बोली की नकल उतारते समय खूब डैम-फैट-लैट किया। हीराबाई दिल खोल कर हँसी। हँसते समय उसकी सारी देह दुलकती है।

हीराबाई ने अपनी ओढ़नी ठीक कर ली। तब हिरामन को लगा कि... लगा कि...

‘तब? उसके बाद क्या हुआ मीता?’

‘इस्स! कथा सुनने का बड़ा सौक है आपको? ...लेकिन, काला आदमी, राजा क्या महाराजा भी हो जाए, रहेगा काला आदमी ही। साहेब के जैसे अक्कल कहाँ से पाएगा! हँस कर बात उड़ा दी सभी ने। तब रानी को बार-बार सपना देने लगा देवता! सेवा नहीं कर सकते तो जाने दो, नहीं, रहेंगे तुम्हारे यहाँ। इसके बाद देवता का खेल शुरू हुआ। सबसे पहले दोनों दंतार हाथी मरे, फिर घोड़ा, फिर पटपटांग...।’

‘पटपटांग क्या है?’

हिरामन का मन पल-पल में बदल रहा है। मन में सतरंगा छाता धीरे-धीरे खिल रहा है, उसको लगता है। ...उसकी गाड़ी पर देवकुल की औरत सवार है। देवता आखिर देवता है!

‘पटपटांग! धन-दौलत, माल-मवेसी सब साफ! देवता इंदरासन चला गया।’

हीराबाई ने ओझल होते हुए मंदिर के काँचूरे की ओर देख कर लंबी साँस ली।

‘लेकिन देवता ने जाते-जाते कहा, इस राज में कभी एक छोड़ कर दो बेटा नहीं होगा। धन हम अपने साथ ले जा रहे हैं, गुन छोड़ जाते हैं। देवता के साथ सभी देव-देवी चले गए, सिर्फ सरोसती मैया रह गई। उसी का मंदिर है।’

देसी घोड़े पर पाट के बोझ लादे हुए बनियों को आते देख कर हिरामन ने टप्पर के परदे को गिरा दिया। बैलों को ललकार कर बिदेसिया नाच का बंदनागीत गाने लगा -

‘जै मैया सरोसती, अरजी करत बानी,

हमरा पर होखू सहाई हे मैया, हमरा पर होखू सहाई!’

घोड़लदे बनियों से हिरामन ने हुलस कर पूछा, ‘क्या भाव पटुआ खरीदते हैं महाजन?’

लँगड़े घोड़े वाले बनिए ने बटगमनी जवाब दिया-‘नीचे सताइस-अठाइस, ऊपर तीस। जैसा माल, वैसा भाव।’

जवान बनिये ने पूछा, ‘मेले का क्या हालचाल है, भाई? कौन नौटंकी कंपनी का खेल हो रहा है, रौता कंपनी या मथुरामोहन?’

'मेले का हाल मेलावाला जाने?' हिरामन ने फिर छतापुर-पचीरा का नाम लिया।

सूरज दो बाँस ऊपर आ गया था। हिरामन अपने बैलों से बात करने लगा- 'एक कोस जमीन! जरा दम बाँध कर चलो। प्यास की बेला हो गई न! याद है, उस बार तेगछिया के पास सरकस कंपनी के जोकर और बंदर नचाने वाला साहब में झगड़ा हो गया था। जोकरवा ठीक बंदर की तरह दाँत किटकटा कर किक्रियाने लगा था, न जाने किस-किस देस-मुलुक के आदमी आते हैं!'

हिरामन ने फिर परदे के छेद से देखा, हीराबाई एक कागज के टुकड़े पर आँख गड़ा कर बैठी है। हिरामन का मन आज हल्के सुर में बँधा है। उसको तरह-तरह के गीतों की याद आती है। बीस-पच्चीस साल पहले, बिदेसिया, बलवाही, छोकरा-नाचने वाले एक-से-एक गजल खेमटा गाते थे। अब तो, भोंपा में भोंपू-भोंपू करके कौन गीत गाते हैं लोग! जा रे जमाना! छोकरा-नाच के गीत की याद आई हिरामन को -

'सजनवा बैरी हो ग' य हमारो! सजनवा.....!

अरे, चिठिया हो ते सब कोई बाँचे, चिठिया हो तो....

हाय! करमवा, हो, करमवा....

गाड़ी की बल्ली पर उँगलियों से ताल दे कर गीत को काट दिया हिरामन ने। छोकरा-नाच के मनुवाँ नटुवा का मुँह हीराबाई-जैसा ही था। ...कहाँ चला गया वह जमाना? हर महीने गाँव में नाचने वाले आते थे। हिरामन ने छोकरा-नाच के चलते अपनी भाभी की न जाने कितनी बोली-ठोली सुनी थी। भाई ने घर से निकल जाने को कहा था।

आज हिरामन पर माँ सरोसती सहाय हैं, लगता है। हीराबाई बोली, 'वाह, कितना बढ़िया गाते हो तुम!'

हिरामन का मुँह लाल हो गया। वह सिर नीचा कर के हँसने लगा।

आज तेगछिया पर रहने वाले महावीर स्वामी भी सहाय हैं हिरामन पर। तेगछिया के नीचे एक भी गाड़ी नहीं। हमेशा गाड़ी और गाड़ीवानों की भीड़ लगी रहती हैं यहाँ। सिर्फ एक साइकिलवाला बैठ कर सुस्ता रहा है। महावीर स्वामी को सुमर कर हिरामन ने गाड़ी रोकी। हीराबाई परदा हटाने लगी। हिरामन ने पहली बार आँखों से बात की हीराबाई से-साइकिलवाला इधर ही टकटकी लगा कर देख रहा है।

बैलों को खोलने के पहले बाँस की टिकटी लगा कर गाड़ी को टिका दिया। फिर साइकिलवाले की ओर बार-बार घूरते हुए पूछा, 'कहाँ जाना है? मेला? कहाँ से आना हो रहा है? बिसनपुर से? बस, इतनी ही दूर में थसथसा कर थक गए?—जा रे जवानी!'

साइकिलवाला दुबला-पतला नौजवान मिनमिना कर कुछ बोला और बीड़ी सुलगा कर उठ खड़ा हुआ। हिरामन दुनिया-भर की निगाह से बचा कर रखना चाहता है हीराबाई को। उसने चारों ओर नजर दौड़ा कर देख लिया—कहीं कोई गाड़ी या घोड़ा नहीं।

कजरी नदी की दुबली-पतली धारा तेगछिया के पास आ कर पूरब की ओर मुड़ गई है। हीराबाई पानी में बैठी हुई भैसों और उनकी पीठ पर बैठे हुए बगुलों को देखती रही।

हिरामन बोला, 'जाइए, घाट पर मुँह-हाथ धो आइए!'

हीराबाई गाड़ी से नीचे उतरी। हिरामन का कलेजा धड़क उठा। ...नहीं, नहीं! पाँव सीधे हैं, टेढ़े नहीं। लेकिन, तलुवा इतना लाल क्यों हैं? हीराबाई घाट की ओर चली गई, गाँव की बहू-बेटी की तरह सिर नीचा कर के धीरे-धीरे। कौन कहेगा कि कंपनी की औरत है! ...औरत नहीं, लड़की। शायद कुमारी ही है।

हिरामन टिकटी पर टिकी गाड़ी पर बैठ गया। उसने टप्पर में झाँक कर देखा। एक बार इधर-उधर देख कर हीराबाई के तकिए पर हाथ रख दिया। फिर तकिए पर केहुनी डाल कर झुक गया, झुकता गया। खुशबू उसकी देह में समा गई। तकिए के गिलाफ पर कढ़े फूलों को उँगलियों से छू कर उसने सूँघा, हाय रे हाय! इतनी सुगंध! हिरामन को लगा, एक साथ पाँच चिलम गाँजा फूँक कर वह उठा है। हीराबाई के छोटे आईने में उसने अपना मुँह देखा। आँखें उसकी इतनी लाल क्यों हैं?

हीराबाई लौट कर आई तो उसने हँस कर कहा, 'अब आप गाड़ी का पहरा दीजिए, मैं आता हूँ तुरंत।'

हिरामन ने अपना सफरी झोली से सहेजी हुई गंजी निकाली। गमछा झाड़ कर कंधे पर लिया और हाथ में बालटी लटका कर चला। उसके बैलों ने बारी-बारी से 'हुँक-हुँक' करके कुछ कहा। हिरामन ने जाते-जाते उलट कर कहा, 'हाँ,हाँ, प्यास सभी को लगी है। लौट कर आता हूँ तो घास दूँगा, बदमासी मत करो!'

बैलों ने कान हिलाए।

नहा-धो कर कब लौटा हिरामन, हीराबाई को नहीं मालूम। कजरी की धारा को देखते-देखते उसकी आँखों में रात की उचटी हुई नींद लौट आई थी। हिरामन पास के गाँव से जलपान के लिए दही-चूड़ा-चीनी ले आया है।

‘उठिए, नींद तोड़िए! दो मुट्ठी जलपान कर लीजिए!’

हीराबाई आँख खोल कर अचरज में पड़ गई। एक हाथ में मिट्टी के नए बरतन में दही, केले के पत्ते। दूसरे हाथ में बालटी-भर पानी। आँखों में आत्मीयतापूर्ण अनुरोध!

‘इतनी चीजें कहाँ से ले आए!’

‘इस गाँव का दही नामी है। ...चाह तो फारबिसगंज जा कर ही पाइएगा।

हिरामन की देह की गुदगुदी मिट गई। ‘हीराबाई ने कहा, ‘तुम भी पत्तल बिछाओ। ...क्यों? तुम नहीं खाओगे तो समेट कर रख लो अपनी झोली में। मैं भी नहीं खाऊँगी।’

‘इस्स!’ हिरामन लजा कर बोला, ‘अच्छी बात! आप खा लीजिए पहले!’

‘पहले-पीछे क्या? तुम भी बैठो।’

हिरामन का जी जुड़ा गया। हीराबाई ने अपने हाथ से उसका पत्तल बिछा दिया, पानी छींट दिया, चूड़ा निकाल कर दिया। इस्स! धन्न है, धन्न है! हिरामन ने देखा, भगवती मैया भोग लगा रही है। लाल होठों पर गोरस का परस! ...पहाड़ी तोते को दूध-भात खाते देखा है?

दिन ढल गया।

टप्पर में सोई हीराबाई और जमीन पर दरी बिछा कर सोए हिरामन की नींद एक ही साथ खुली। ...मेले की ओर जाने वाली गाड़ियाँ तेगछिया के पास रूकी हैं। बच्चे कचर-पचर कर रहे हैं।

हिरामन हड़बड़ा कर उठा। टप्पर के अंदर झाँक कर इशारे से कहा-दिन ढल गया! गाड़ी में बैलों को जोतते समय उसने गाड़ीवानों के सवालियों का कोई जवाब नहीं दिया। गाड़ी हाँकते हुए बोला, ‘सिरपुर बाजार के इसपिताल की डागडरनी हैं। रोगी देखने जा रही हैं। पास ही कुड़मागाम।’

हीराबाई छत्तापुर-पचीरा का नाम भूल गई। गाड़ी जब कुछ दूर आगे बढ़ आई तो उसने हँस कर पूछा, ‘पत्तापुर-छपीरा?’

हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाए हिरामन के-‘पत्तापुर-छपीरा! हा-हा। वे लोग छत्तापुर-पचीरा के ही गाड़ीवान थे, उनसे कैसे कहता! ही-ही-ही!’

हीराबाई मुस्कराती हुई गाँव की ओर देखने लगी।

सड़क तेगछिया गाँव के बीच से निकलती है। गाँव के बच्चों ने परदे वाली गाड़ी देखी और तालियाँ बजा-बजा कर रटी हुई पंक्तियाँ दुहराने लगे -

‘लाली-लाली डोलिया में

लाली रे दुलहिनिया

पान खाए...!’

हिरामन हँसा। ...दुलहिनिया ...लाली-लाली डोलिया! दुलहिनिया पान खाती है, दुलहा की पगड़ी में मुँह पोंछती है। ओ दुलहिनिया, तेगछिया गाँव के बच्चों को याद रखना। लौटती बेर गुड़ का लड्डू लेती आइयो। लाख बरिस तेरा हुलहा जीए! ...कितने दिनों का हौसला पूरा हुआ है हिरामन का! ऐसे कितने सपने देखे हैं उसने! वह अपनी दुलहिन को ले कर लौट रहा है। हर गाँव के बच्चे तालियाँ बजा कर गा रहे हैं। हर आँगन से झाँक कर देख रही हैं औरतें। मर्द लोग पूछते हैं, ‘कहाँ की गाड़ी है, कहाँ जाएगी? उसकी दुलहिन डोली का परदा थोड़ा सरका कर देखती है और भी कितने सपने।

गाँव से बाहर निकल कर उसने कनखियों से टप्पर के अंदर देखा, हीराबाई कुछ सोच रही है। हिरामन भी किसी सोच में पड़ गया। थोड़ी देर के बाद वह गुनगुनाने लगा-

‘सजन रे झूठ मति बोलो, खुदा के पास जाना है।

नहीं हाथी, नहीं घोड़ा, नहीं गाड़ी -

वहाँ पैदल ही जाना है। सजन रे...।’

हीराबाई ने पूछा, ‘क्यों मीता? तुम्हारी अपनी बोली में कोई गीत नहीं क्या?’

हिरामन अब बेखटक हीराबाई की आँखों में आँखें डाल कर बात करता है। कंपनी की औरत भी ऐसी होती है? सरकस कंपनी की मालकिन मेम थी। लेकिन हीराबाई! गाँव की बोली में गीत सुनना चाहती है। वह खुल कर मुस्कराया-‘गाँव की बोली आप समझिएगा?’

‘हूँ-ऊँ-ऊँ !’ हीराबाई ने गर्दन हिलाई। कान के झुमके हिल गए।

हिरामन कुछ देर तक बैलों को हाँकता रहा चुपचाप। फिर बोला, ‘गीत जरूर ही सुनिएगा? नहीं मानिएगा? इस्स! इतना सौक गाँव का गीत सुनने का है आपको! तब लीक छोड़ानी होगी। चालू रास्ते में कैसे गीत गा सकता है कोई!’

हिरामन ने बाएँ बैल की रस्सी खींच कर दाहिने को लीक से बाहर किया और बोला, 'हरिपुर हो कर नहीं जाएँगे तब।'

चालू लीक को काटते देख कर हिरामन की गाड़ी के पीछे वाले गाड़ीवान ने चिल्ला कर पूछा, 'काहे हो गाड़ीवान, लीक छोड़ कर बेलीक कहाँ उधर?'

हिरामन ने हवा में दुआली घुमाते हुए जवाब दिया—'कहाँ है बेलीकी? वह सड़क नननपुर तो नहीं जाएगी।' फिर अपने-आप बड़बड़ाया, 'इस मुलुक के लोगों की यही आदत बुरी है। राह चलते एक सौ जिरह करेंगे। अरे भाई, तुमको जाना है, जाओ। ...देहाती भुच्च सब!'

नननपुर की सड़क पर गाड़ी ला कर हिरामन ने बैलों की रस्सी ढीली कर दी। बैलों ने दुलकी चाल छोड़ कर कदमचाल पकड़ी।

हीराबाई ने देखा, सचमुच नननपुर की सड़क बड़ी सूनी है। हिरामन उसकी आँखों की बोली समझता है—'घबराने की बात नहीं। यह सड़क भी फारबिसगंज जाएगी, राह-घाट के लोग बहुत अच्छे हैं। ...एक घड़ी रात तक हम लोग पहुँच जाएँगे।'

हीराबाई को फारबिसगंज पहुँचने की जल्दी नहीं। हिरामन पर उसको इतना भरोसा हो गया कि डर-भय की कोई बात नहीं उठती है मन में। हिरामन ने पहले जी-भर मुस्करा लिया। कौन गीत गाए वह! हीराबाई को गीत और कथा दोनों का शौक है ...इस्स! महुआ घटवारिन? वह बोला, 'अच्छा, जब आपको इतना सौक है तो सुनिए महुआ घटवारिन का गीत। इसमें गीत भी है, कथा भी है।'

...कितने दिनों के बाद भगवती ने यह हौसला भी पूरा कर दिया। जै भगवती! आज हिरामन अपने मन को खलास कर लेगा। वह हीराबाई की थमी हुई मुस्कराहट को देखता रहा।

'सुनिए! आज भी परमार नदी में महुआ घटवारिन के कई पुराने घाट हैं। इसी मुलुक की थी महुआ! थी तो घटवारिन, लेकिन सौ सतवंती में एक थी। उसका बाप दा-ताड़ी पी कर दिन-रात बेहोश पड़ा रहता। उसकी सौतेली माँ साच्छात राकसनी! बहुत बड़ी नजर-चालक। रात में गाँजा-दारू-अफीम चुरा कर बेचने वाले से ले कर तरह-तरह के लोगों से उसकी जान-पहचान थी। सबसे घुट्टा-भर हेल-मेल। महुआ कुमारी थी। लेकिन काम कराते-कराते उसकी हड्डी निकाल दी थी राकसनी ने। जवान हो गई, कहीं शादी-ब्याह की बात भी नहीं चलाई। एक रात की बात सुनिए!'

हिरामन ने धीरे-धीरे गुनगुना कर गला साफ किया -
 हे अ-अ-अ-सावना-भादवा के-र-उमड़ल नदिया -गे-में-मैं-यो-ओ-ओ,
 मैयो गे रैन भयावनि-हे-ए-ए-एय
 तड़का-तड़के-धड़के करेज-आ-आ मोरा
 कि हमहूँ जे बार-नान्ही रे-ए-ए ...।'

ओ माँ! सावन-भादों की उमड़ी हुई नदी, भयावनी रात, बिजली कड़कती है, मैं बारी-क्वारी नन्ही बच्ची, मेरा कलेजा धड़कता है। अकेली कैसे जाऊँ घाट पर? सो भी परदेशी राही-बटोही के पैर में तेल लगाने के लिए! सत-माँ ने अपनी बज्जर-किवाड़ी बंद कर ली। आसमान में मेघ हड़बड़ा उठे और हरहरा कर बरसा होने लगी। महुआ रोने लगी, अपनी माँ को याद करके। आज उसकी माँ रहती तो ऐसे दुरदिन में कलेजे से सटा कर रखती अपनी महुआ बेटी को। गे मइया, इसी दिन के लिए, यही दिखाने के लिए तुमने कोख में रखा था? महुआ अपनी माँ पर गुस्साई-क्यों वह अकेली मर गई, जी-भर कर कोसती हुई बोली।

हिरामन ने लक्ष्य किया, हीराबाई तकिए पर केहुनी गड़ा कर, गीत में मगन एकटक उसकी ओर देख रही है। ...खोई हुई सूत कैंसी भोली लगती है!

हिरामन ने गले में कँपकँपी पैदा की -
 'हूँ-ऊँ-ऊँ-रे डाइनियाँ मैयो मोरी-ई-ई,
 नोनवा चटाई काहे नाहिं मारलि सौरी-घर-अ-आ।
 एहि दिनवाँ खातिर छिनरो धिया
 तेंहु पोसलि कि नेनू-दूध उगटन ..।

हिरामन ने दम लेते हुए पूछा, 'भाखा भी समझती हैं कुछ या खाली गीत ही सुनती हैं?'

हीरा बोली, 'समझती हूँ। उगटन माने उबटन-जो देह में लगाते हैं।'

हिरामन ने विस्मित हो कर कहा, 'इस्स!' ...सो रोने-धोने से क्या होए! सौदागर ने पूरा दाम चुका दिया था महुआ का। बाल पकड़ कर घसीटता हुआ नाव पर चढ़ा और माँझी को हुकुम दिया, नाव खोलो, पाल बाँधो! पालवाली नाव परवाली चिड़िया की तरह उड़ चली। रात-भर महुआ रोती-छटपटाती रही। सौदागर के नौकरों ने बहुत डराया-धमकाया-चुप रहो, नहीं तो उठा कर पानी में फेंक देंगे। बस, महुआ को बात सूझ गई। भोर का तारा मेघ की आड़ से जरा बाहर आया, फिर छिप गया। इधर महुआ भी छपाक से कूद पड़ी पानी में। ...सौदागर का एक नौकर महुआ को देखते ही मोहित हो गया था। महुआ

की पीठ पर वह भी कूदा। उलटी धारा में तैरना खेल नहीं, सो भी भरी भादों की नदी में। महुआ असल घटवारिन की बेटी थी। मछली भी भला थकती है पानी में! सफरी मछली-जैसी फरफराती, पानी चीरती भागी चली जा रही है और उसके पीछे सौदागर का नौकर पुकार-पुकार कर कहता है- 'महुआ जरा थमो, तुमको पकड़ने नहीं आ रहा, तुम्हारा साथी हूँ। जिंदगी-भर साथ रहेंगे हम लोग।' लेकिन...

हिरामन का बहुत प्रिय गीत है यह। महुआ घटवारिन गाते समय उसके सामने सावन-भादों की नदी उमड़ने लगती है, अमावस्या की रात और घने बादलों में रह-रह कर बिजली चमक उठती है। उसी चमक में लहरों से लड़ती हुई बारी-कुमारी महुआ की झलक उसे मिल जाती है। सफरी मछली की चाल और तेज हो जाती है। उसको लगता है, वह खुद सौदागर का नौकर है। महुआ कोई बात नहीं सुनती। परतीत करती नहीं। उलट कर देखती भी नहीं और वह थक गया है, तैरते-तैरते।

इस बार लगता है महुआ ने अपने को पकड़ा दिया। खुद ही पकड़ में आ गई है। उसने महुआ को छू लिया है, पा लिया है, उसकी थकन दूर हो गई है। पंद्रह-बीस साल तक उमड़ी हुई नदी की उलटी धारा में तैरते हुए उसके मन को किनारा मिल गया है। आनंद के आँसू कोई भी रोक नहीं मानते।

उसने हीराबाई से अपनी गीली आँखें चुराने की कोशिश की। किंतु हीरा तो उसके मन में बैठी न जाने कब से सब कुछ देख रही थी। हिरामन ने अपनी काँपती हुई बोली को काबू में ला कर बैलों को झिड़की दी- 'इस गीत में न जाने क्या है कि सुनते ही दोनों थसथसा जाते हैं। लगता है, सौ मन बोझ लाद दिया किसी ने।'

हीराबाई लंबी साँस लेती है। हिरामन के अंग-अंग में उमंग समा जाती है।

'तुम तो उस्ताद हो मीता!'

'इस्स!'

आसिन-कातिक का सूरज दो बाँस दिन रहते ही कुम्हला जाता है। सूरज डूबने से पहले ही नननपुर पहुँचना है, हिरामन अपने बैलों को समझा रहा है- 'कदम खोल कर और कलेजा बाँध कर चलो ...ए ...छि ...छि! बढ़के भैयन! ले-ले-ले-ए हे -य!'

नननपुर तक वह अपने बैलों को ललकारता रहा। हर ललकार के पहले वह अपने बैलों को बीती हुई बातों की याद दिलाता-याद नहीं, चौधरी की बेटी

की बरात में कितनी गाड़ियाँ थीं, सबको कैसे मात किया था! हाँ, वह कदम निकालो। ले-ले-ले! नननपुर से फारबिसगंज तीन कोस! दो घंटे और!

नननपुर के हाट पर आजकल चाय भी बिकने लगी है। हिरामन अपने लोटे में चाय भर कर ले आया। ...कंपनी की औरत जानता है वह, सारा दिन, घड़ी घड़ी भर में चाय पीती रहती है। चाय है या जान!

हीरा हँसते-हँसते लोट-पोट हो रही है—‘अरे, तुमसे किसने कह दिया कि क्वारे आदमी को चाय नहीं पीनी चाहिए?’

हिरामन लजा गया। क्या बोले वह? ...लाज की बात। लेकिन वह भोग चुका है एक बार। सरकस कंपनी की मेम के हाथ की चाय पी कर उसने देख लिया है। बड़ी गर्म तासीर!

‘पीजिए गुरु जी!’ हीरा हँसी!

‘इस्स!’

नननपुर हाट पर ही दीया-बाती जल चुकी थी। हिरामन ने अपना सफरी लालटेन जला कर पिछवा में लटका दिया। आजकल शहर से पाँच कोस दूर के गाँववाले भी अपने को शहरू समझने लगे हैं। बिना रोशनी की गाड़ी को पकड़ कर चालान कर देते हैं। बारह बखेड़ा !

‘आप मुझे गुरु जी मत कहिए।’

‘तुम मेरे उस्ताद हो। हमारे शास्त्र में लिखा हुआ है, एक अच्छर सिखाने वाला भी गुरु और एक राग सिखाने वाला भी उस्ताद!’

‘इस्स! सास्त्र-पुरान भी जानती हैं! ...मैंने क्या सिखाया? मैं क्या ...?’

हीरा हँस कर गुनगुनाने लगी—‘हे-अ-अ-अ-सावना-भादवा के-र ...!’

हिरामन अचरज के मारे गूँगा हो गया। ...इस्स! इतना तेज जेहन! हू-ब-हू महुआ घटवारिन!

गाड़ी सीताधार की एक सूखी धारा की उतराई पर गड़गड़ा कर नीचे की ओर उतरी। हीराबाई ने हिरामन का कंधा धर लिया एक हाथ से। बहुत देर तक हिरामन के कंधे पर उसकी उँगलियाँ पड़ी रहीं। हिरामन ने नजर फिरा कर कंधे पर केंद्रित करने की कोशिश की, कई बार। गाड़ी चढ़ाई पर पहुँची तो हीरा की ढीली उँगलियाँ फिर तन गईं।

सामने फारबिसगंज शहर की रोशनी झिलमिला रही है। शहर से कुछ दूर हट कर मेले की रोशनी ...टप्पर में लटके लालटेन की रोशनी में छाया नाचती

है आसपास।... डबडबाई आँखों से, हर रोशनी सूरजमुखी फूल की तरह दिखाई पड़ती है।

फारबिसगंज तो हिरामन का घर-दुआर है!

न जाने कितनी बार वह फारबिसगंज आया है। मेले की लदनी लादी है। किसी औरत के साथ? हाँ, एक बार। उसकी भाभी जिस साल आई थी गौने में। इसी तरह तिरपाल से गाड़ी को चारों ओर से घेर कर बासा बनाया गया था।

हिरामन अपनी गाड़ी को तिरपाल से घेर रहा है, गाड़ीवान-पट्टी में। सुबह होते ही रौता नौटंकी कंपनी के मैनेजर से बात करके भरती हो जाएगी हीराबाई। परसों मेला खुल रहा है। इस बार मेले में पालचट्टी खूब जमी है। ...बस, एक रात। आज रात-भर हिरामन की गाड़ी में रहेगी वह। ...हिरामन की गाड़ी में नहीं, घर में!

'कहाँ की गाड़ी है? ...कौन, हिरामन! किस मेले से? किस चीज की लदनी है?'

गाँव-समाज के गाड़ीवान, एक-दूसरे को खोज कर, आसपास गाड़ी लगा कर बासा डालते हैं। अपने गाँव के लालमोहर, धुन्नीराम और पलटदास वगैरह गाड़ीवानों के दल को देख कर हिरामन अचकचा गया। उधर पलटदास टप्पर में झाँक कर भड़का। मानो बाघ पर नजर पड़ गई। हिरामन ने इशारे से सभी को चुप किया। फिर गाड़ी की ओर कनखी मार कर फुसफुसाया

—'चुप! कंपनी की औरत है, नौटंकी कंपनी की।'

'कंपनी की -ई-ई-ई!'

'?? ...?? ...!'

एक नहीं, अब चार हिरामन! चारों ने अचरज से एक-दूसरे को देखा। कंपनी नाम में कितना असर है! हिरामन ने लक्ष्य किया, तीनों एक साथ सटक-दम हो गए। लालमोहर ने जरा दूर हट कर बतियाने की इच्छा प्रकट की, इशारे से ही। हिरामन ने टप्पर की ओर मुँह करके कहा, 'होटिल तो नहीं खुला होगा कोई, हलवाई के यहाँ से पक्की ले आवें!'

'हिरामन, जरा इधर सुनो। ...मैं कुछ नहीं खाऊँगी अभी। लो, तुम खा आओ।'

'क्या है, पैसा? इस्स!' ...पैसा दे कर हिरामन ने कभी फारबिसगंज में कच्ची-पक्की नहीं खाई। उसके गाँव के इतने गाड़ीवान हैं, किस दिन के लिए? वह छू नहीं सकता पैसा। उसने हीराबाई से कहा, 'बेकार, मेला-बाजार में हुज्जत

मत कीजिए। पैसा रखिए।' मौका पा कर लालमोहर भी टप्पर के करीब आ गया। उसने सलाम करते हुए कहा, 'चार आदमी के भात में दो आदमी खुसी से खा सकते हैं। बासा पर भात चढा हुआ है। हें-हें-हें! हम लोग एकहि गाँव के हैं। गौवाँ-गिरामिन के रहते होटिल और हलवाई के यहाँ खाएगा हिरामन?'

हिरामन ने लालमोहर का हाथ टीप दिया- 'बेसी भचर-भचर मत बको।'

गाड़ी से चार रस्सी दूर जाते-जाते धुन्नीराम ने अपने कुलबुलाते हुए दिल की बात खोल दी- 'इस्स! तुम भी खूब हो हिरामन! उस साल कंपनी का बाघ, इस बार कंपनी की जनानी!'

हिरामन ने दबी आवाज में कहा, 'भाई रे, यह हम लोगों के मुलुक की जनाना नहीं कि लटपट बोली सुन कर भी चुप रह जाए। एक तो पच्छिम की औरत, तिस पर कंपनी की!'

धुन्नीराम ने अपनी शंका प्रकट की- 'लेकिन कंपनी में तो सुनते हैं पतुरिया रहती है।'

'धत्!' सभी ने एक साथ उसको दुरदुरा दिया, 'कैसा आदमी है! पतुरिया रहेगी कंपनी में भला! देखो इसकी बुद्धि। सुना है, देखा तो नहीं है कभी!'

धुन्नीराम ने अपनी गलती मान ली। पलटदास को बात सूझी- 'हिरामन भाई, जनाना जात अकेली रहेगी गाड़ी पर? कुछ भी हो, जनाना आखिर जनाना ही है। कोई जरूरत ही पड़ जाए!'

यह बात सभी को अच्छी लगी। हिरामन ने कहा, 'बात ठीक है। पलट, तुम लौट जाओ, गाड़ी के पास ही रहना और देखो, गपशप जरा होशियारी से करना। हाँ!'

हिरामन की देह से अतर-गुलाब की खुशबू निकलती है। हिरामन करमसाँड़ है। उस बार महीनों तक उसकी देह से बघाइन गंध नहीं गई। लालमोहर ने हिरामन की गमछी सूँघ ली- 'ए-ह!'

हिरामन चलते-चलते रुक गया- 'क्या करें लालमोहर भाई, जरा कहो तो! बड़ी जिद्द करती है, कहती है, नौटंकी देखना ही होगा।'

'फोकट में ही?'

'और गाँव नहीं पहुँचेगी यह बात?'

हिरामन बोला, 'नहीं जी! एक रात नौटंकी देख कर जिंदगी-भर बोली-ठोली कौन सुने? ...देसी मुर्गी विलायती चाल!'

धुन्नीराम ने पूछा, 'फोकट में देखने पर भी तुम्हारी भौजाई बात सुनाएगी?' लालमोहर के बासा के बगल में, एक लकड़ी की दुकान लाद कर आए हुए गाड़ीवानों का बासा है। बासा के मीर-गाड़ीवान मियाँ जान बूढ़े ने सफरी गुड़गुड़ी पीते हुए पूछा, 'क्यों भाई, मीनाबाजार की लदनी लाद कर कौन आया है?'

मीनाबाजार! मीनाबाजार तो पतुरिया-पट्टी को कहते हैं। ...क्या बोलता है यह बूढ़ा मियाँ? लालमोहर ने हिरामन के कान में फुसफुसा कर कहा, 'तुम्हारी देह मह-मह-महकती है। सच!'

लहसनवाँ लालमोहर का नौकर-गाड़ीवान है। उम्र में सबसे छोटा है। पहली बार आया है तो क्या? बाबू-बबुआइनों के यहाँ बचपन से नौकरी कर चुका है। वह रह-रह कर वातावरण में कुछ सूँघता है, नाक सिकोड़ कर। हिरामन ने देखा, लहसनवाँ का चेहरा तमतमा गया है। कौन आ रहा है धड़धड़ाता हुआ?-'कौन, पलटदास? क्या है?'

पलटदास आ कर खड़ा हो गया चुपचाप। उसका मुँह भी तमतमाया हुआ था। हिरामन ने पूछा, 'क्या हुआ? बोलते क्यों नहीं?'

क्या जवाब दे पलटदास! हिरामन ने उसको चेतावनी दे दी थी, गपशप होशियारी से करना। वह चुपचाप गाड़ी की आसनी पर जा कर बैठ गया, हिरामन की जगह पर। हीराबाई ने पूछा, 'तुम भी हिरामन के साथ हो?' पलटदास ने गरदन हिला कर हामी भरी। हीराबाई फिर लेट गई। ...चेहरा-मोहरा और बोली-बानी देख-सुन कर, पलटदास का कलेजा काँपने लगा, न जाने क्यों। हाँ! रामलीला में सिया सुकुमारी इसी तरह थकी लेटी हुई थी। जै! सियावर रामचंद्र की जै! ...पलटदास के मन में जै-जैकार होने लगा। वह दास-वैस्नव है, कीर्तनिया है। थकी हुई सीता महारानी के चरण टीपने की इच्छा प्रकट की उसने, हाथ की उँगलियों के इशारे से, मानो हारमोनियम की पटरियों पर नचा रहा हो। हीराबाई तमक कर बैठ गई-'अरे, पागल है क्या? जाओ, भागो!...'

पलटदास को लगा, गुस्साई हुई कंपनी की औरत की आँखों से चिनगारी निकल रही है-छटक-छटक! वह भागा।

पलटदास क्या जवाब दे! वह मेला से भी भागने का उपाय सोच रहा है। बोला, 'कुछ नहीं। हमको व्यापारी मिल गया। अभी ही टीसन जा कर माल लादना है। भात में तो अभी देर है। मैं लौट आता हूँ तब तक।'

खाते समय धुन्नीराम और लहसनवाँ ने पलटदास की टोकरी-भर निंदा की। छोटा आदमी है। कमीना है। पैसे-पैसे का हिसाब जोड़ता है। खाने-पीने के बाद लालमोहर के दल ने अपना बासा तोड़ दिया। धुन्नी और लहसनवाँ गाड़ी जोत कर हिरामन के बासा पर चले, गाड़ी की लीक धर कर। हिरामन ने चलते-चलते रुक कर, लालमोहर से कहा, 'जरा मेरे इस कंधे को सूँघो तो। सूँघ कर देखो न?'

लालमोहर ने कंधा सूँघ कर आँखे मूँद लीं। मुँह से अस्फुट शब्द निकला-ए-ह!'

हिरामन ने कहा, 'जरा-सा हाथ रखने पर इतनी खुशबू! ...समझे!' लालमोहर ने हिरामन का हाथ पकड़ लिया-'कंधे पर हाथ रखा था, सच? .. सुनो हिरामन, नौटंकी देखने का ऐसा मौका फिर कभी हाथ नहीं लगेगा। हाँ!'

'तुम भी देखोगे?' लालमोहर की बत्तीसी चौराहे की रोशनी में झिलमिला उठी।

बासा पर पहुँच कर हिरामन ने देखा, टप्पर के पास खड़ा बतिया रहा है कोई, हीराबाई से। धुन्नी और लहसनवाँ ने एक ही साथ कहा, 'कहाँ रह गए पीछे? बहुत देर से खोज रही है कंपनी...!'

हिरामन ने टप्पर के पास जा कर देखा-अरे, यह तो वही बक्सा ढोने वाला नौकर, जो चंपानगर मेले में हीराबाई को गाड़ी पर बिठा कर अँधेरे में गायब हो गया था।

'आ गए हिरामन! अच्छी बात, इधर आओ। ...यह लो अपना भाड़ा और यह लो अपनी दच्छिना! पच्चीस-पच्चीस, पचास।'

हिरामन को लगा, किसी ने आसमान से धकेल कर धरती पर गिरा दिया। किसी ने क्यों, इस बक्सा ढोने वाले आदमी ने। कहाँ से आ गया? उसकी जीभ पर आई हुई बात जीभ पर ही रह गई ...इस्स! दच्छिना! वह चुपचाप खड़ा रहा।

हीराबाई बोली, 'लो पकड़ो! और सुनो, कल सुबह रौता कंपनी में आ कर मुझसे भेंट करना। पास बनवा दूँगी। ...बोलते क्यों नहीं?'

लालमोहर ने कहा, 'इलाम-बकसीस दे रही हैं मालकिन, ले लो हिरामन! हिरामन ने कट कर लालमोहर की ओर देखा। ...बोलने का जरा भी ढंग नहीं इस लालमोहरा को।'

धुन्नीराम की स्वगतोक्ति सभी ने सुनी, हीराबाई ने भी-गाड़ी-बैल छोड़ कर नौटंकी कैसे देख सकता है कोई गाड़ीवान, मेले में?

हिरामन ने रुपया लेते हुए कहा, 'क्या बोलेंगे!' उसने हँसने की चेष्टा की। कंपनी की औरत कंपनी में जा रही है। हिरामन का क्या! बक्सा ढोने वाला रास्ता दिखाता हुआ आगे बढ़ा- 'इधर से।' हीराबाई जाते-जाते रुक गई। हिरामन के बैलों को संबोधित करके बोली, 'अच्छा, मैं चली भैयन।'

बैलों ने, भैया शब्द पर कान हिलाए।

'? ? ..!'

'भा-इ-यो, आज रात! दि रौता संगीत कंपनी के स्टेज पर! गुलबदन देखिए, गुलबदन! आपको यह जान कर खुशी होगी कि मथुरामोहन कंपनी की मशहूर एक्ट्रेस मिस हीरादेवी, जिसकी एक-एक अदा पर हजार जान फिदा हैं, इस बार हमारी कंपनी में आ गई हैं। याद रखिए। आज की रात। मिस हीरादेवी गुलबदन...!'

नौटंकीवालों के इस एलान से मेले की हर पट्टी में सरगर्मी फैल रही है। ...हीराबाई? मिस हीरादेवी? लैला, गुलबदन...? फिलिम एक्ट्रेस को मात करती है।

तेरी बाँकी अदा पर मैं खुद हूँ फिदा,

तेरी चाहत को दिलबर बयाँ क्या करूँ!

यही ख्वाहिश है कि इ-इ-इ तू मुझको देखा करे

और दिलोजान मैं तुमको देखा करूँ।

...किर्र-र्र-र्र-र्र ...कडड़ड़ड़ड़ड़ड़-ई-घन-घन-धड़ाम।

हर आदमी का दिल नगाड़ा हो गया है।

लालमोहर दौड़ता-हाँफता बासा पर आया-'ऐ, ऐ हिरामन, यहाँ क्या बैठे हो, चल कर देखो जै-जैकार हो रहा है! मय बाजा-गाजा, छापी-फाहरम के साथ हीराबाई की जै-जै कर रहा हूँ।'

हिरामन हड़बड़ा कर उठा। लहसनवाँ ने कहा, 'धुन्नी काका, तुम बासा पर रहो, मैं भी देख आऊँ।'

धुन्नी की बात कौन सुनता है। तीनों जन नौटंकी कंपनी की एलानिया पार्टी के पीछे-पीछे चलने लगे। हर नुककड़ पर रुक कर, बाजा बंद कर के एलान किया जाना है। एलान के हर शब्द पर हिरामन पुलक उठता है। हीराबाई का नाम, नाम के साथ अदा-फिदा वगैरह सुन कर उसने लालमोहर की पीठ थपथपा दी-'धन्न है, धन्न है! है या नहीं?'

लालमोहर ने कहा, 'अब बोलो! अब भी नौटंकी नहीं देखोगे?' सुबह से ही धुन्नीराम और लालमोहर समझा रहे थे, समझा कर हार चुके थे—'कंपनी में जा कर भेंट कर आओ। जाते-जाते पुरसिस कर गई है।' लेकिन हिरामन की बस एक बात—'धत्त, कौन भेंट करने जाए! कंपनी की औरत, कंपनी में गई। अब उससे क्या लेना-देना! चीन्हेगी भी नहीं!'

वह मन-ही-मन रूठा हुआ था। एलान सुनने के बाद उसने लालमोहर से कहा, 'जरूर देखना चाहिए, क्यों लालमोहर?'

दोनों आपस में सलाह करके रौता कंपनी की ओर चले। खेमे के पास पहुँच कर हिरामन ने लालमोहर को इशारा किया, पूछताछ करने का भार लालमोहर के सिर। लालमोहर कचराही बोलना जानता है। लालमोहर ने एक काले कोटवाले से कहा, 'बाबू साहेब, जरा सुनिए तो!'

काले कोटवाले ने नाक-भौं चढ़ा कर कहा—'क्या है? इधर क्यों?'

लालमोहर की कचराही बोली गड़बड़ा गई—तेवर देख कर बोला, 'गुलगुल ..नहीं-नहीं ...बुल-बुल ...नहीं ...!'

हिरामन ने झट-से सम्हाल दिया—'हीरादेवी किधर रहती है, बता सकते हैं?' उस आदमी की आँखें हठात लाल हो गईं। सामने खड़े नेपाली सिपाही को पुकार कर कहा, 'इन लोगों को क्यों आने दिया इधर?'

'हिरामन!' ...वही फेनूगिलासी आवाज किधर से आई? खेमे के परदे को हटा कर हीराबाई ने बुलाया—यहाँ आ जाओ, अंदर! ...देखो, बहादुर! इसको पहचान लो। यह मेरा हिरामन है। समझे?'

नेपाली दरबान हिरामन की ओर देख कर जरा मुस्कराया और चला गया। काले कोटवाले से जा कर कहा, 'हीराबाई का आदमी है। नहीं रोकने बोला! लालमोहर पान ले आया नेपाली दरबान के लिए—'खाया जाए!'

'इस्स! एक नहीं, पाँच पास। चारों अठनिया! बोली कि जब तक मेले में हो, रोज रात में आ कर देखना। सबका ख्याल रखती है। बोली कि तुम्हारे और साथी हैं, सभी के लिए पास ले जाओ। कंपनी की औरतों की बात निराली होती है! है या नहीं?'

लालमोहर ने लाल कागज के टुकड़ों को छू कर देखा—'पा-स! वाह रे हिरामन भाई! ...लेकिन पाँच पास ले कर क्या होगा? पलटदास तो फिर पलट कर आया ही नहीं है अभी तक।'

हिरामन ने कहा, 'जाने दो अभागे को। तकदीर में लिखा नहीं। ...हाँ, पहले गुरूकसम खानी होगी सभी को, कि गाँव-घर में यह बात एक पंछी भी न जान पाए।'

लालमोहर ने उत्तेजित हो कर कहा, 'कौन साला बोलेगा, गाँव में जा कर? पलटा ने अगर बदनामी की तो दूसरी बार से फिर साथ नहीं लाऊँगा।'

हिरामन ने अपनी थैली आज हीराबाई के जिम्मे रख दी है। मेले का क्या ठिकाना! किस्म-किस्म के पाकिटकाट लोग हर साल आते हैं। अपने साथी-संगियों का भी क्या भरोसा! हीराबाई मान गई। हिरामन के कपड़े की काली थैली को उसने अपने चमड़े के बक्स में बंद कर दिया। बक्से के ऊपर भी कपड़े का खोल और अंदर भी झलमल रेशमी अस्तर! मन का मान-अभिमान दूर हो गया।

लालमोहर और धुन्नीराम ने मिल कर हिरामन की बुद्धि की तारीफ की, उसके भाग्य को सराहा बार-बार। उसके भाई और भाभी की निंदा की, दबी जबान से। हिरामन के जैसा हीरा भाई मिला है, इसीलिए! कोई दूसरा भाई होता तो...।'

लहसनवाँ का मुँह लटका हुआ है। एलान सुनते-सुनते न जाने कहाँ चला गया कि घड़ी-भर साँझ होने के बाद लौटा है। लालमोहर ने एक मालिकाना झिड़की दी है, गाली के साथ- 'सोहदा कहीं का!'

धुन्नीराम ने चूल्हे पर खिचड़ी चढ़ाते हुए कहा, 'पहले यह फ़ैसला कर लो कि गाड़ी के पास कौन रहेगा!'

'रहेगा कौन, यह लहसनवाँ कहाँ जाएगा?'

लहसनवाँ रो पड़ा- 'ऐ-ए-ए मालिक, हाथ जोड़ते हैं। एक्को झलक! बस, एक झलक!'

हिरामन ने उदारतापूर्वक कहा, 'अच्छा-अच्छा, एक झलक क्यों, एक घंटा देखना। मैं आ जाऊँगा।'

नौटंकी शुरू होने के दो घंटे पहले ही नगाड़ा बजना शुरू हो जाता है और नगाड़ा शुरू होते ही लोग पतिंगों की तरह टूटने लगते हैं। टिकटघर के पास भीड़ देख कर हिरामन को बड़ी हँसी आई- 'लालमोहर, उधर देख, कैसी धक्कमधुक्की कर रहे हैं लोग!'

हिरामन भाय!'

'कौन, पलटदास! कहाँ की लदनी लाद आए?' लालमोहर ने पराए गाँव के आदमी की तरह पूछा।

पलटदास ने हाथ मलते हुए माफी माँगी-‘कसूरबार हैं, जो सजा दो तुम लोग, सब मंजूर है। लेकिन सच्ची बात कहें कि सिया सुकुमारी...।’

हिरामन के मन का पुरइ नगाड़े के ताल पर विकसित हो चुका है। बोला, ‘देखो पलटा, यह मत समझना कि गाँव-घर की जनाना है। देखो, तुम्हारे लिए भी पास दिया है, पास ले लो अपना, तमासा देखो।’

लालमोहर ने कहा, ‘लेकिन एक सर्त पर पास मिलेगा। बीच-बीच में लहसनवाँ को भी...।’

पलटदास को कुछ बताने की जरूरत नहीं। वह लहसनवाँ से बातचीत कर आया है अभी।

लालमोहर ने दूसरी शर्त सामने रखी-‘गाँव में अगर यह बात मालूम हुई किसी तरह...!’

‘राम-राम!’ दाँत से जीभ को काटते हुए कहा पलटदास ने।

पलटदास ने बताया-‘अठनिया फाटक इधर है!’ फाटक पर खड़े दरबान ने हाथ से पास ले कर उनके चेहरे को बारी-बारी से देखा, बोला, ‘यह तो पास है। कहाँ से मिला?’

अब लालमोहर की कचराही बोली सुने कोई! उसके तेवर देख कर दरबान घबरा गया-‘मिलेगा कहाँ से? अपनी कंपनी से पूछ लीजिए जा कर। चार ही नहीं, देखिए एक और है।’ जब से पाँचवा पास निकाल कर दिखाया लालमोहर ने।

एक रुपयावाले फाटक पर नेपाली दरबान खड़ा था। हिरामन ने पुकार कर कहा, ‘ए सिपाही दाजू, सुबह को ही पहचनवा दिया और अभी भूल गए?’

नेपाली दरबान बोला, ‘हीराबाई का आदमी है सब। जाने दो। पास हैं तो फिर काहे को रोकता है?’

अठनिया दर्जा!

तीनों ने ‘कपड़घर’ को अंदर से पहली बार देखा। सामने कुरसी-बेंचवाले दर्जे हैं। परदे पर राम-बन-गमन की तसवीर है। पलटदास पहचान गया। उसने हाथ जोड़ कर नमस्कार किया, परदे पर अंकित रामसिया सुकुमारी और लखनलला को। ‘जै हो, जै हो!’ पलटदास की आँखें भर आई।

हिरामन ने कहा, ‘लालमोहर, छापी सभी खड़े हैं या चल रहे हैं?’

लालमोहर अपने बगल में बैठे दर्शकों से जान-पहचान कर चुका है। उसने कहा, ‘खेला अभी परदा के भीतर है। अभी जमिनका दे रहा है, लोग जमाने के लिए।’

पलटदास ढोलक बजाना जानता है, इसलिए नगाड़े के ताल पर गरदन हिलाता है और दियासलाई पर ताल काटता है। बीड़ी आदान-प्रदान करके हिरामन ने भी एकाध जान-पहचान कर ली। लालमोहर के परिचित आदमी ने चादर से देह ढकते हुए कहा, 'नाच शुरू होने में अभी देर है, तब तक एक नींद ले लें। ...सब दर्जा से अच्छा अठनिया दर्जा। सबसे पीछे सबसे ऊँची जगह पर है। जमीन पर गरम पुआल! हे-हे! कुरसी-बेंच पर बैठ कर इस सरदी के मौसम में तमासा देखने वाले अभी घुच-घुच कर उठेंगे चाह पीने।'

उस आदमी ने अपने संगी से कहा, 'खेला शुरू होने पर जगा देना। नहीं-नहीं, खेला शुरू होने पर नहीं, हिरिया जब स्टेज पर उतरे, हमको जगा देना।'

हिरामन के कलेजे में जरा आँच लगी। ...हिरिया! बड़ा लटपटिया आदमी मालूम पड़ता है। उसने लालमोहर को आँख के इशारे से कहा, 'इस आदमी से बतियाने की जरूरत नहीं।'

घन-घन-घन-धड़ाम! परदा उठ गया। हे-ए, हे-ए, हीराबाई शुरू में ही उतर गई स्टेज पर! कपड़घर खचमखच भर गया है। हिरामन का मुँह अचरज में खुल गया। लालमोहर को न जाने क्यों ऐसी हँसी आ रही है। हीराबाई के गीत के हर पद पर वह हँसता है, बेवजह।

गुलबदन दरबार लगा कर बैठी है। एलान कर रही है, जो आदमी तख्तहजारा बना कर ला देगा, मुँहमाँगी चीज इनाम में दी जाएगी। ...अजी, है कोई ऐसा फनकार, तो हो जाए तैयार, बना कर लाए तख्तहजारा-आ! किड़किड़-किरि-! अलबत्त नाचती है! क्या गला है! मालूम है, यह आदमी कहता है कि हीराबाई पान-बीड़ी, सिगरेट-जर्दा कुछ नहीं खाती! ठीक कहता है। बड़ी नेमवाली रंडी है। कौन कहता है कि रंडी है! दाँत में मिस्सी कहाँ है। पौडर से दाँत धो लेती होगी। हरगिज नहीं। कौन आदमी है, बात की बेबात करता है! कंपनी की औरत को पतुरिया कहता है! तुमको बात क्यों लगी? कौन है रंडी का भड़वा? मारो साले को! मारो! तेरी...।

हो-हल्ले के बीच, हिरामन की आवाज कपड़घर को फाड़ रही है- 'आओ, एक-एक की गरदन उतार लेंगे।'

लालमोहर दुलाली से पटापट पीटता जा रहा है सामने के लोगों को। पलटदास एक आदमी की छाती पर सवार है- 'साला, सिया सुकुमारी को गाली देता है, सो भी मुसलमान हो कर?'

धुन्नीराम शुरू से ही चुप था। मारपीट शुरू होते ही वह कपड़घर से निकल कर बाहर भागा।

काले कोटवाले नौटंकी के मैनेजर नेपाली सिपाही के साथ दौड़े आए। दारोगा साहब ने हंटर से पीट-पाट शुरू की। हंटर खा कर लालमोहर तिलमिला उठा, कचराही बोली में भाषण देने लगा-‘दारोगा साहब, मारते हैं, मारिए। कोई हर्ज नहीं। लेकिन यह पास देख लीजिए, एक पास पाकिट में भी हैं। देख सकते हैं हुजूर। टिकट नहीं, पास! ...तब हम लोगों के सामने कंपनी की औरत को कोई बुरी बात करे तो कैसे छोड़ देंगे?’

कंपनी के मैनेजर की समझ में आ गई सारी बात। उसने दारोगा को समझाया-‘हुजूर, मैं समझ गया। यह सारी बदमाशी मथुरामोहन कंपनीवालों की है। तमाशे में झगड़ा खड़ा करके कंपनी को बदनाम ...नहीं हुजूर, इन लोगों को छोड़ दीजिए, हीराबाई के आदमी हैं। बेचारी की जान खतरे में हैं। हुजूर से कहा था न!’

हीराबाई का नाम सुनते ही दारोगा ने तीनों को छोड़ दिया। लेकिन तीनों की दुआली छीन ली गई। मैनेजर ने तीनों को एक रूपएवाले दरजे में कुरसी पर बिठाया - ‘आप लोग यहीं बैठिए। पान भिजवा देता हूँ।’ कपड़घर शांत हुआ और हीराबाई स्टेज पर लौट आईं।

नगाड़ा फिर घनघना उठा।

थोड़ी देर बाद तीनों को एक ही साथ धुन्नीराम का ख्याल हुआ-अरे, धुन्नीराम कहाँ गया?

‘मालिक, ओ मालिक!’ लहसनवाँ कपड़घर से बाहर चिल्ला कर पुकार रहा है, ‘ओ लालमोहर मा-लि-क...!’

लालमोहर ने तारस्वर में जवाब दिया-‘इधर से, उधर से! एकटकिया फाटक से।’ सभी दर्शकों ने लालमोहर की ओर मुड़ कर देखा। लहसनवाँ को नेपाली सिपाही लालमोहर के पास ले आया। लालमोहर ने जेब से पास निकाल कर दिखा दिया। लहसनवाँ ने आते ही पूछा, ‘मालिक, कौन आदमी क्या बोल रहा था? बोलिए तो जरा। चेहरा दिखला दीजिए, उसकी एक झलक!’

लोगों ने लहसनवाँ की चौड़ी और सपाट छाती देखी। जाड़े के मौसम में भी खाली देह! ...चले-चाटी के साथ हैं ये लोग!

लालमोहर ने लहसनवाँ को शांत किया।

तीनों-चारों से मत पूछे कोई, नौटंकी में क्या देखा। किस्सा कैसे याद रहे! हिरामन को लगता था, हीराबाई शुरू से ही उसी की ओर टकटकी लगा कर देख रही है, गा रही है, नाच रही है। लालमोहर को लगता था, हीराबाई उसी की ओर देखती है। वह समझ गई है, हिरामन से भी ज्यादा पावरवाला आदमी है लालमोहर! पलटदास किस्सा समझता है। ...किस्सा और क्या होगा, रमैन की ही बात। वही राम, वही सीता, वही लखनलाल और वही रावन! सिया सुकुमारी को राम जी से छीनने के लिए रावन तरह-तरह का रूप धर कर आता है। राम और सीता भी रूप बदल लेते हैं। यहाँ भी तख्त-हजारा बनाने वाला माली का बेटा राम है। गुलबदन मिया सुकुमारी है। माली के लड़के का दोस्त लखनलाल है और सुलतान है रावन। धुनीराम को बुखार है तेज! लहसनवाँ को सबसे अच्छा जोकर का पार्ट लगा है ...चिरैया तोंहके लेके ना जड़वै नरहट के बजरिया! वह उस जोकर से दोस्ती लगाना चाहता है। नहीं लगावेगा दोस्ती, जोकर साहब?

हिरामन को एक गीत की आधी कड़ी हाथ लगी है—'मारे गए गुलफाम!' कौन था यह गुलफाम? हीराबाई रोती हुई गा रही थी—'अजी हाँ, मारे गए गुलफाम!' टिड़िटिड़ि... बेचारा गुलफाम!

तीनों को दुआली वापस देते हुए पुलिस के सिपाही ने कहा, 'लाठी-दुआली ले कर नाच देखने आते हो?'

दूसरे दिन मेले-भर में यह बात फैल गई—मथुरामोहन कंपनी से भाग कर आई है हीराबाई, इसलिए इस बार मथुरामोहन कंपनी नहीं आई हैं। ...उसके गुंडे आए हैं। हीराबाई भी कम नहीं। बड़ी खेलाड़ औरत है। तेरह-तेरह देहाती लटैत पाल रही है। ...वाह मेरी जान भी कहे तो कोई! मजाल है!

दस दिन... दिन-रात...!

दिन-भर भाड़ा ढोता हिरामन। शाम होते ही नौटंकी का नगाड़ा बजने लगता। नगाड़े की आवाज सुनते ही हीराबाई की पुकार कानों के पास मँडराने लगती-भैया ...मीता ...हिरामन ...उस्ताद गुरु जी! हमेशा कोई-न-कोई बाजा उसके मन के कोने में बजता रहता, दिन-भर। कभी हारमोनियम, कभी नगाड़ा, कभी ढोलक और कभी हीराबाई की पैजनी। उन्हीं साजों की गत पर हिरामन उठता-बैठता, चलता-फिरता। नौटंकी कंपनी के मैनेजर से ले कर परदा खींचने वाले तक उसको पहचानते हैं। ...हीराबाई का आदमी है।

पलटदास हर रात नौटंकी शुरू होने के समय श्रद्धापूर्वक स्टेज को नमस्कार करता, हाथ जोड़ कर। लालमोहर, एक दिन अपनी कचराही बोली

सुनाने गया था हीराबाई को। हीराबाई ने पहचाना ही नहीं। तब से उसका दिल छोटा हो गया है। उसका नौकर लहसनवाँ उसके हाथ से निकल गया है, नौटंकी कंपनी में भर्ती हो गया है। जोकर से उसकी दोस्ती हो गई है। दिन-भर पानी भरता है, कपड़े धोता है। कहता है, गाँव में क्या है, जो जाएँगे! लालमोहर उदास रहता है। धुन्नीराम घर चला गया है, बीमार हो कर।

हिरामन आज सुबह से तीन बार लदनी लाद कर स्टेशन आ चुका है। आज न जाने क्यों उसको अपनी भौजाई की याद आ रही है। ...धुन्नीराम ने कुछ कह तो नहीं दिया है, बुखार की झोंक में! यहीं कितना अटर-पटर बक रहा था-गुलबदन, तख्त-हजारा! लहसनवाँ मौज में है। दिन-भर हीराबाई को देखता होगा। कल कह रहा था, हिरामन मालिक, तुम्हारे अकबाल से खूब मौज में हूँ। हीराबाई की साड़ी धोने के बाद कठौते का पानी अत्तरगुलाब हो जाता है। उसमें अपनी गमछी डुबा कर छोड़ देता हूँ। लो, सूँघोगे? हर रात, किसी-न-किसी के मुँह से सुनता है वह-हीराबाई रंडी है। कितने लोगों से लड़े वह! बिना देखे ही लोग कैसे कोई बात बोलते हैं! राजा को भी लोग पीठ-पीछे गाली देते हैं! आज वह हीराबाई से मिल कर कहेगा, नौटंकी कंपनी में रहने से बहुत बदनाम करते हैं लोग। सरकस कंपनी में क्यों नहीं काम करती? सबके सामने नाचती है, हिरामन का कलेजा दप-दप जलता रहता है उस समय। सरकस कंपनी में बाघ को ...उसके पास जाने की हिम्मत कौन करेगा! सुरक्षित रहेगी हीराबाई! किधर की गाड़ी आ रही है?

‘हिरामन, ए हिरामन भाय!’ लालमोहर की बोली सुन कर हिरामन ने गरदन मोड़ कर देखा। ...क्या लाद कर लाया है लालमोहर?

‘तुमको ढूँढ़ रही है हीराबाई, इस्टिसन पर। जा रही है।’ एक ही साँस में सुना गया। लालमोहर की गाड़ी पर ही आई है मेले से।

‘जा रही है? कहाँ? हीराबाई रेलगाड़ी से जा रही है?’

हिरामन ने गाड़ी खोल दी। मालगुदाम के चौकीदार से कहा, ‘भैया, जरा गाड़ी-बैल देखते रहिए। आ रहे हैं।’

‘उस्ताद!’ जनाना मुसाफिरखाने के फाटक के पास हीराबाई ओढ़नी से मुँह-हाथ ढक कर खड़ी थी। थैली बढ़ाती हुई बोली, ‘लो! हे भगवान! भेंट हो गई, चलो, मैं तो उम्मीद खो चुकी थी। तुमसे अब भेंट नहीं हो सकेगी। मैं जा रही हूँ गुरू जी!’

बक्सा ढोने वाला आदमी आज कोट-पतलून पहन कर बाबूसाहब बन गया है। मालिकों की तरह कुलियों को हुकम दे रहा है—'जनाना दर्जा में चढ़ाना। अच्छा?'

हिरामन हाथ में थैली ले कर चुपचाप खड़ा रहा। कुरते के अंदर से थैली निकाल कर दी है हीराबाई ने। चिड़िया की देह की तरह गर्म है थैली।

'गाड़ी आ रही है।' बक्सा ढोने वाले ने मुँह बनाते हुए हीराबाई की ओर देखा। उसके चेहरे का भाव स्पष्ट है—इतना ज्यादा क्या है?

हीराबाई चंचल हो गई। बोली, 'हिरामन, इधर आओ, अंदर। मैं फिर लौट कर जा रही हूँ मथुरामोहन कंपनी में। अपने देश की कंपनी है। ...वनैली मेला आओगे न?'

हीराबाई ने हिरामन के कंधे पर हाथ रखा, ...इस बार दाहिने कंधे पर। फिर अपनी थैली से रुपया निकालते हुए बोली, 'एक गरम चादर खरीद लेना...।'

हिरामन की बोली फूटी, इतनी देर के बाद—'इस्स! हरदम रूपैया-पैसा! रखिए रूपैया! क्या करेंगे चादर?'

हीराबाई का हाथ रुक गया। उसने हिरामन के चेहरे को गौर से देखा। फिर बोली, 'तुम्हारा जी बहुत छोटा हो गया है। क्यों मीता? महुआ घटवारिन को सौदागर ने खरीद जो लिया है गुरू जी!'

गला भर आया हीराबाई का। बक्सा ढोने वाले ने बाहर से आवाज दी—'गाड़ी आ गई।' हिरामन कमरे से बाहर निकल आया। बक्सा ढोने वाले ने नौटंकी के जोकर जैसा मुँह बना कर कहा, 'लाटफारम से बाहर भागो। बिना टिकट के पकड़ेगा तो तीन महीने की हवा...।'

हिरामन चुपचाप फाटक से बाहर जा कर खड़ा हो गया। ...टीसन की बात, रेलवे का राज! नहीं तो इस बक्सा ढोने वाले का मुँह सीधा कर देता हिरामन।

हीराबाई ठीक सामने वाली कोठरी में चढ़ी। इस्स! इतना टान! गाड़ी में बैठ कर भी हिरामन की ओर देख रही है, टुकुर-टुकुर। लालमोहर को देख कर जी जल उठता है, हमेशा पीछे-पीछे, हरदम हिस्सादारी सूझती है।

गाड़ी ने सीटी दी। हिरामन को लगा, उसके अंदर से कोई आवाज निकल कर सीटी के साथ ऊपर की ओर चली गई-कू-ऊ-ऊ! इ-स्स!

-छी-ई-ई-छक्क! गाड़ी हिली। हिरामन ने अपने दाहिने पैर के अँगूठे को बाएँ पैर की एड़ी से कुचल लिया। कलेजे की धड़कन ठीक हो गई। हीराबाई हाथ की बैंगनी साफी से चेहरा पोंछती है। साफी हिला कर इशारा करती है .

..अब जाओ। आखिरी डिब्बा गुजरा, प्लेटफार्म खाली सब खाली ...खोखले ... मालगाड़ी के डिब्बे! दुनिया ही खाली हो गई मानो! हिरामन अपनी गाड़ी के पास लौट आया।

हिरामन ने लालमोहर से पूछा, 'तुम कब तक लौट रहे हो गाँव?'

लालमोहर बोला, 'अभी गाँव जा कर क्या करेंगे? यहाँ तो भाड़ा कमाने का मौका है! हीराबाई चली गई, मेला अब टूटेगा।'

—'अच्छी बात। कोई समान देना है घर?'

लालमोहर ने हिरामन को समझाने की कोशिश की। लेकिन हिरामन ने अपनी गाड़ी गाँव की ओर जाने वाली सड़क की ओर मोड़ दी। अब मेले में क्या धरा है! खोखला मेला!

रेलवे लाइन की बगल से बैलगाड़ी की कच्ची सड़क गई है दूर तक। हिरामन कभी रेल पर नहीं चढ़ा है। उसके मन में फिर पुरानी लालसा झाँकी, रेलगाड़ी पर सवार हो कर, गीत गाते हुए जगरनाथ-धाम जाने की लालसा। उलट कर अपने खाली टप्पर की ओर देखने की हिम्मत नहीं होती है। पीठ में आज भी गुदगुदी लगती है। आज भी रह-रह कर चंपा का फूल खिल उठता है, उसकी गाड़ी में। एक गीत की टूटी कड़ी पर नगाड़े का ताल कट जाता है, बार-बार!

उसने उलट कर देखा, बोरे भी नहीं, बाँस भी नहीं, बाघ भी नहीं—परी ...देवी ...मीता ...हीरादेवी ...महुआ घटवारिन—को—ई नहीं। मरे हुए मुहर्तों की गूँगी आवाजें मुखर होना चाहती है। हिरामन के होंठ हिल रहे हैं। शायद वह तीसरी कसम खा रहा है—कंपनी की औरत की लदनी...।

हिरामन ने हठात अपने दोनों बैलों को झिड़की दी, दुआली से मारते हुए बोला, 'रेलवे लाइन की ओर उलट-उलट कर क्या देखते हो?' दोनों बैलों ने कदम खोल कर चाल पकड़ी। हिरामन गुनगुनाने लगा—'अजी हाँ, मारे गए गुलफाम...!'

8

ज्ञानरंजन

ज्ञानरंजन नवंबर, 1936 से वर्तमान, हिन्दी साहित्य के एक शीर्षस्थ कहानीकार तथा हिन्दी की सुप्रसिद्ध पत्रिका पहल के संपादक हैं।

ज्ञानरंजन

परिचय

ज्ञानरंजन का जन्म 21 नवंबर 1936 को महाराष्ट्र के अकोला में हुआ था। बचपन और किशोरावस्था का अधिकांश समय अजमेर, दिल्ली एवं बनारस में बीता तथा उच्च शिक्षा इलाहाबाद में संपन्न हुई। लंबे समय से उनका स्थायी निवास मध्यप्रदेश के जबलपुर में है। आज भी उनका प्रिय शहर इलाहाबाद ही है। जबलपुर का स्थान उसके बाद ही आता है।

रचनात्मक परिचय

ज्ञानरंजन साठोत्तरी पीढ़ी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में से एक के रूप में मान्य हैं। साठोत्तरी पीढ़ी के 'चार यार' के रूप में प्रसिद्ध मंडली के चारों सदस्य —ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह एवं रवीन्द्र कालिया में से सबसे पहले सर्वाधिक प्रसिद्धि ज्ञानरंजन को ही प्राप्त हुई, हालांकि ये चारों अपने ढंग के श्रेष्ठ कहानीकार रहे हैं। प्रकाशित संग्रह के रूप में ज्ञानरंजन के छह कहानी

संग्रह प्रकाशित हुए हैं, लेकिन यह बहुचर्चित तथ्य है कि इनकी कहानियों की कुल संख्या 25 है, जो कि सपना नहीं नामक संकलन में एकत्र प्रकाशित हैं। कम लिखने के संबंध में अनेक लोगों ने अनेक तरह की बातें कही हैं। किसी ने अनुभव के चूक जाने की बात की, तो किसी ने अगली पारी से पहले का विराम माना, तो किसी ने पहल जैसी पत्रिका की संपादकीय विवशता, परंतु स्वयं ज्ञानरंजन की नजर में कहानी-लेखन बंद करने का प्रमुख कारण उनके अपने दृष्टिकोण से सर्वश्रेष्ठता की कसौटी ही रही है। जो भी लिखें या तो सर्वोत्तम हो या फिर हो ही नहीं। यही कारण है कि पुस्तक रूप में प्रकाशित 25 कहानियों में से किसी एक कहानी को भी किसी मान्य समीक्षक ने कमजोर या उपेक्षा के योग्य के रूप में विवेचित नहीं किया। ज्ञानरंजन साठोत्तरी पीढ़ी के लेखक हैं और अकहानी में शामिल लेखकों के मित्र भी। इसके बावजूद 'अकहानी' को दुःखद परिणति तक पहुँचाने वाली न्यूनताओं से उनकी कहानियाँ प्रायः मुक्त रही हैं। उनकी एक सुप्रसिद्ध कहानी 'घंटा' की समीक्षा करते हुए हिंदी कहानी के शीर्षस्थ समीक्षक सुरेन्द्र चौधरी ने लिखा था कि कथानकहीनता के सदृश्य के बावजूद 'अकहानी' के संयोजन से 'घंटा' का संयोजन अनिवार्यतः भिन्न है। घंटा में मानव-संबंधों की विडंबना प्रत्यक्ष है। मानव-संबंधों की विडंबना की यह कहानी पूरे समय की विडंबना से गुजर जाती है। चौधरी जी के इस विवेचनात्मक कथन में अनायास ही कहानी-समीक्षा का एक प्राथमिक परंतु व्यापक प्रतिमान भी झलक उठा है। ज्ञानरंजन की अधिसंख्य कहानियों में स्पष्ट दिखने वाली वैयक्तिकता रचनात्मकता के ही रास्ते जिस सफलता से सामाजिक हो जाती है, वह उनकी निजी और खास विशेषता है। 'घंटा' के अतिरिक्त संबंध, पिता, बहिर्गमन, फेंस के इधर और उधर आदि कहानियों ने भी एक तरह से अपने नाम का प्रतिमान रच डाला है।

कहानियों के अतिरिक्त अन्य विधाओं में भी ज्ञानरंजन ने जमकर नहीं लिखा है। मन की तरंगों के अनुरूप एकाध फुटकल रचनाएँ ही जब तब होती रही हैं। संस्मरण, व्याख्यान, संपादकीय, रचनात्मक निबंध, साक्षात्कार, अखबारी टिप्पणियाँ तथा एक उपन्यास-अंश आदि के साथ एक पत्र का संकलन भी उनकी पुस्तक कबाड़खाना में संकलित है। तात्पर्य यह कि संख्यात्मक रूप में तो ज्ञानरंजन की कुल जमा पूंजी दो पुस्तकों में समा गयी है, लेकिन गुणात्मक रूप में वे लंबे समय से प्रायः सभी मान्य समीक्षकों के द्वारा हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों में से एक के रूप में मान्य रहे हैं।

कहानियों के अनुवाद एवं अन्य गतिविधि

ज्ञानरंजन की कहानियाँ भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त अनेक विदेशी भाषाओं में भी अनूदित हो चुकी हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त ओसाका, लंदन, सैनफ्रांसिस्को, लेनिनग्राद और हाइडेलबर्ग आदि के अनेक अध्ययन केंद्रों के पाठ्यक्रमों में भी इनकी कहानियाँ शामिल हैं। लंदन पेंग्विनस की भारतीय साहित्य की एन्थ्रोलॉजी में भी इनकी कहानी सम्मिलित है। अमेरिका में विलेज वॉयस द्वारा फिल्म का निर्माण किया गया है तथा दूरदर्शन द्वारा भी इनकी कहानियों पर आधारित दो फिल्मों का निर्माण हुआ है।

हिंदी की बहुचर्चित पत्रिका पाखी का सितंबर 2012 में ज्ञानरंजन पर केंद्रित उम्दा अंक प्रकाशित हुआ।

संपादन

ज्ञानरंजन ने हिंदी की सर्वोत्कृष्ट पत्रिकाओं में से निर्विवाद रूप से एक पहल का लंबे समय तक कुशल संपादन किया है। 'पहल' के 90 अंक निकालने के बाद सितंबर-अक्टूबर 2008 में लगातार शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक संघर्षों से ऊब कर उन्होंने 'पहल' का संपादन बंद कर दिया था। साहित्य-जगत में तब एक बड़ा खालीपन सा महसूस किया गया था। 3 वर्ष से अधिक के अंतराल के बाद पुनः जनवरी 2013 के अंक-91 के साथ 'पहल' की दूसरी पारी भिन्न आकार एवं कुछ भिन्न रूप में पुनः आरंभ हो गयी है और अविराम रूप से जारी है।

सम्मान

सोवियत लैंड नेहरू अवार्ड

उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 'साहित्य भूषण सम्मान'

अनिल कुमार और सुभद्रा कुमारी चौहान पुरस्कार

मध्यप्रदेश शासन, संस्कृति विभाग का 'शिखर सम्मान'

सुदीर्घ कथा साधना, सृजनशीलता और बहुआयामी कार्यनिष्ठा के लिए वर्ष 2001-2002 के राष्ट्रीय 'मैथिलीशरण गुप्त सम्मान' से सम्मानित।

ज्ञानरंजन

1970 की गर्मियों का प्रारंभ था। गंगा के मैदान में गर्मियों के बारे में सभी जानते हैं। यहाँ पर मौसम का विशेष कुछ तात्पर्य नहीं है सिवाय इसके कि एक

लंबे अंतराल के बाद मैं अपने शहर में लौट आया और वह संयोग से लपटवाले दिन थे।

मैं जब पहुँचा तब अप्रैल के बावजूद कोयल बोल रही थी। एक बच्चा धूप से भरी छत पर बेखबर हाथ में डोर लिये दौड़ रहा था। ऊपर पतंग थी। नीम और पीपल के दो छोटे दरख्त आपस में गुँथे हुए लगभग एक सी हालत में थे। नीम के फूलों से नीचे की गच सजी हुई थी और पीपल के पत्ते इतने मुलायम थे कि उन्हें सीटी बजाने के लिए मोड़ा तक नहीं जा सकता था।

घर में इतनी सख्त खामोशी थी कि लगा मैं किसी आश्रम में पहुँच गया हूँ। इस तरह के आश्रमों में अब केवल असबाब रखा जा सकता है और मुँह हाथ धोने की जगहों का इस्तेमाल। बाहर निकलते ही सवाल उठता था कि इस तरह की स्पंदनहीन जगहें अब क्यों और कैसे बची हुई हैं। इन्हें तो जंगल में होना चाहिए था और वहाँ से भजन, मजीरे तथा करताल की ध्वनि निकलनी चाहिए थी।

मैं बिस्तर पर सुस्ताने लगा। सुस्ताना बहुत मुश्किल था। शहर के बारे में उत्तेजना को दबोचा नहीं जा सकता था। चेहरे और बातें इतनी तेजी के साथ चकरा रही थीं कि हृदय घबड़ाने लगा। बीच-बीच में हवा के झोंके थे और बेजान खटपट लेकिन इतने मात्र से शहर की दशा के बारे में नहीं जाना जा सकता था।

मैं शाम से पहले ही निकला और चल पड़ा। मुझे गणेश के पास जाना था। सतीश के पास भी और देवदास के पास भी। मैंने समझा कि बिना इन लोगों के पास पहुँचे मैं अपने अंतराल का पेट नहीं भर सकूँगा। मैं अपने प्रिय इलाकों और बाजारों से होकर गुजरा और शायद कुछ जल्दी ही उदास हो गया। यह एक दुखद और हैरतभरा अनुभव था कि स्थानों से निकलते हुए लगा कि उन्हें चीरना पड़ रहा है। यह एक ठंडा सुरंग जैसा अनुभव था, जिसमें से किसी गड़बड़ की गंध आई। मैंने सोचा यह सब जल्दी ही ठीक हो जायेगा, मुझे साथियों की जरूरत है। मुझे उनके पास जाना चाहिए और उन्हें आलिंगन में बाँध लेना चाहिए। मेरे सारे शरीर में असंतुलन था।

मैं महात्मा गांधी मार्ग के एक सिरे से चला। वह साफ सुथरी और लंबी सड़क थी। उसके बाहरी चेहरे पर रंग था, नमक था, रोशनी भी हो गयी थी और एक चुस्त दबदबा। ऐसा लगता था कि बड़े शहरों के बहुत से नियम यहाँ भी चालू हो गये हैं। महात्मा गांधी मार्ग पर चलते हुए यह भी लगा कि हमारी

जिंदगी की शान इस सड़क से भी कुछ न कुछ चिपकी है। महात्मा गांधी मार्ग कभी मामूली मार्ग नहीं होता, वह हर कहीं शहर का एक ऊँचा और चमकीला मार्ग होता है।

मैं बड़े चौरस्ते से मुड़ा। वहाँ पर धड़ाधड़ कोका कोला खुल रही थी। वहाँ छोटे-छोटे समूह बन गये थे जिनका उद्देश्य कोका कोला था। मेरा उद्देश्य गणेश था लेकिन जब मैं उसके पास पहुँचा तो आलिंगन नहीं हुआ। मैं बहुत पहले से सोच रहा था कि हम बाजू फ़ैलाकर बिल्कुल भिड़ जायेंगे। शरीर में तपिश भी वैसी ही थी लेकिन ऐन वक्त पर आलिंगन नहीं हुआ। मैंने महसूस किया कि गणेश जो कि पेंडुलम की तरह हमेशा रत होता था, थका हुआ है और निपोरता हुआ बड़े करुणाजनक तरीके से दया माँग रहा है। उसके घुटनों में तेज नहीं लगता था और पैर भैंस के घुटनों की तरह लग रहे थे। जवान आदमी के घुटनों जैसे नहीं।

गणेश के यहाँ से मैं किसी तरह निकला। कई वर्षों के बाद पहली झलक और पहला साक्षात्कार इतना मनहूस होगा, मैं नहीं सोचता था। मैं सदर पहुँचकर रेलिंग पर बैठ गया। काफी देर बैठा रहा। मुझे शक हो रहा था कि जरूर शहर पर कोई साया पड़ गया है और पट-परिवर्तन हो गया है। आने जाने वालों में से कुछ मुझे घूर भी लेते थे। यह चेहरा, कुछ-कुछ जैसे पहचाना लगता है, यह सोचते हुए और फिर वे दूर हो जाने के कारण दिमाग पर शायद जोर नहीं डाल पाते थे। रेलिंग पर बैठा हुआ मैं अपने बारे में बिल्कुल नहीं सोच रहा था। मैं बिछुड़ा हुआ लग रहा था और सोच रहा था कि कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय जहाँ से मैं घुसना शुरू करूँ। गणेश के पास से लौट कर मैं साथियों की फौज में से किसी के पास नहीं जाना चाहता था। शायद मैं डर गया था।

शहर में दिन खत्म हो रहा था। इतनी देर रेलिंग पर बैठा-बैठा मैं बिल्कुल ही नहीं उलझा, सपाट बना रहा। एक भी चेहरा नहीं मिला और न शहर की वे लंबी काली चंचल लड़कियाँ। दरअसल मैं गलत जगह पर बैठ कर उम्मीद कर रहा था। यहाँ तो छत्ते की तरह चिपचिपाती और गोशत का चकला हिलाती देवियों का सिलसिला खत्म नहीं होगा। मैं रेलिंग से कूदा।

शहर में शांति मालूम पड़ती थी। जैसे वह एक जमाने से बिल्कुल स्तब्ध चला जा रहा हो। क्या यह एक चालबाजी है? मैं पुल की तरफ बढ़ा। आश्रम पहुँचने का वही एकमात्र रास्ता है। शांति की चपेट बढ़ती जा रही थी। मैं अंदर से बेहद अशांत था। मैं अपनी अशांति को किसी दार्शनिक भाले से नहीं भेदना

चाहता था। शांति किसी दुरभिसंधि के एक माकूल इस्तेमाल की तरह बहुत आराम के साथ चल रही थी। मेरे बगल से लोग जब गुजरते तो मुझे लगता वे मुझे धक्का देकर नाली में फेंक जाएँगे। मैं सड़क से हटकर चलने लगा। मैं पुल की तरफ जा रहा था।

न्यायालय की इमारत के बाहर धूल में एक व्यक्ति कुछ तलाश रहा था। मैं उसे काफी दूरी से देखता हुआ उसके पास तक पहुँच गया। उसकी चवन्नी गिर गयी थी। मैंने कई काड़ियाँ जलाई और डब्बी खत्म हो गयी। वह निराश होकर कमर सीधी कर ही रहा था कि उसे चवन्नी चमक गयी। चवन्नी लेकर जब वह खड़ा हुआ तब उसे लगा कि सन्नाटा और अकेलापन है और उसकी चवन्नी खतरे से बाहर नहीं है। कृतज्ञता और भय के बीच फँसा वह तेजी से खिसक गया। मुझे बात समझ में आ गयी, फिर अच्छा लगा और तब तक खड़ा रहा जब तक वह ओझल नहीं हो गया।

गणेश कैसे टूट-फूट गया है? उसे किसने घाट से लगा दिया। क्या यह उम्र है अथवा किन्हीं व्यक्तियों का फरेब? घर पर उसने बच्चे को इस तरह गोद में लिया हुआ था जैसे उसे कोई छीन रहा हो। थोड़ी देर बाद उसने कहा मुन्ना इनसे डरो मत, ये चाचा जी हैं, इनके पास जाओ। मुझको लगा था गणेश जान गया है कि कुछ लोग जरूर ऐसे हैं जिनसे डरना चाहिए।

गणेश का उपहास सब कर लेते हैं। वह क्लर्क है और पस्त हो गया है। अधिक-से-अधिक वह डाक्टर तथा खजाने के बीच दौड़ता होगा। उसके चेहरे पर मुझे एकदम से शांति की खरोंच दिखाई पड़ने लगी। फिर उसका चेहरा उस लंबी निकली और पड़ी हुई जीभ जैसा खत्म लगा जो गर्दन नाप लेने के बाद हो जाती है। गणेश के साथियों ने उसे यह कहकर दुत्कार दिया कि तुम समय का साथ न देने के कारण सड़ गये हो। जाओ, तुम बीवी बच्चों का साथ दो, हम सदर में घूमेंगे, पान खायेंगे और कोका कोला पियेंगे और गणेश रह गया, अपने को चुपड़ नहीं सका।

मेरा आश्रम आने ही वाला था लेकिन मैंने उसकी परवाह नहीं की। गणेश का ध्यान ही प्रबल था। मुझे उस पर बार-बार दया आ रही थी। दया जैसे एक दरिया की तरह उमड़ पड़ी थी। गणेश के साथी मूर्ख मार्ग पर चल पड़े हैं, वे समझते हैं महात्मा गांधी मार्ग पर टहल रहे हैं। चादर के बाहर उनके पैर जो शान जता रहे हैं उन्हें भी शहर के अंतिम घाट पर गाड़ दिया जायेगा। शहर में सुदर्शन चक्र चल रहा है, यह मुझे घंटे भर चौरस्ते की रेलिंग पर बैठकर ही पता पड़

गया था। लेकिन यह समझ नहीं आता कि गणेश के साथी गणेश को अँधेरे में पाकर ताली बजाकर अलग कैसे हो गये?

मैं थकान अनुभव करने लगा। मैंने सोचा, जब खाट पर लेट जाऊँगा तब व्यापक रूप से कुछ विचार करूँगा। व्यापक रूप से विचार एक दुर्लभ आशा थी। मैं एक खुली जगह में लेटा। सियार नहीं बोल रहे थे। अब सैनिक बस्तियों का विस्तार दूर-दूर तक हो गया है इसलिए सियार कहाँ से बोलें। केवल आसमान था और पेड़ थे। बहुत-सी चीजों का सफाया हो गया है। घोड़ा पालने वाले और ताँगा चलाने वालों का। भालू और बंदर नचाने वालों का और ठेले वाले बिसातियों का। ये सब सौ फुट आगे के एक उजड़े कब्रिस्तान में रहते थे। अब कब्रों के ऊपर कालोनी है।

मुझे अपने शहर से इतना घातक लगाव क्यों है? मुझे लगा मैं व्यापक रूप से नहीं सोच पाऊँगा। मैं तो रोड़ों के साथ सोचता हूँ। फिर? फिर क्या। सच तो यह है कि मैं अंत तक यहीं रहने की इच्छा रखता हूँ। मुझे अब आना जाना भी पसंद नहीं। संपर्कवाद की दुनिया का भंडा फूट रहा है।

चूँकि मैं खुले आसमान के नीचे आराम से लेटा था। इसलिए मुझे लगा कि सोचते हुए मैं थोड़ा भावावेश में आ गया हूँ। बिस्तरे पर लेटकर सोने से पहले सोच-विचार करने और किसी कारखाने में यंत्र चलाते हुए अथवा रिक्शा पर पैडल मारते हुए-हाँफते हुए सोचने में फर्क है। शहर के बारे में मेरा मामला कुछ ऐसा ही असंतुलित है। शहर, शहर, शहर, अनंत बार शहर की चर्चा से मेरे अलावा किसी का भी बौखला जाना या वीतराग हो जाना मुमकिन है, लेकिन शहर के बारे में यह चर्चा किसी प्रकार से उर्दू गजल नहीं है। एक सीमा तक यह उसी तरह की स्थिति है, जैसी सामंतों में अपनी हवेली और अपनी बंदूक के प्रति हुआ करती थी। लेकिन मेरा ख्याल था कि शहर के प्रति मेरी असीम लालसा को संसार की किसी भी विचारधारा की ठोकर से नहीं उड़ाया जा सकता।

मुझे आज से कुछ वर्ष पहले का जमाना याद है। तब मैं निजी पीड़ा के शौर्य में डूबा हुआ था। मैंने एक लात सामने की कुर्सी पर लगाई। घरवालों को इस प्रतीकात्मक तरीके से धमका दिया। उसके बाद मैं शिमला की शांत वादियों में अपने शौर्य की कुल्फी बनाता रहा और अंततः इस सूक्ष्मता पर पहुँचा जिसे मनुष्य का एकांत कहते हैं। इस अनुभव ने मुझे मात कर दिया। मैंने सार्वजनिकता का झंडा हटा दिया और केवल बाँस रहने दिया। मेरे एकांत अमृत का यह

स्वादिष्ट लपटा जो मुझे बेहद आधुनिक लगता था, आश्चर्यजनक रूप से उस आध्यात्मिक धारणा के काफी करीब था जिसमें कहा जाता है, आदमी आया है अकेला और जायेगा अकेला।

कुछ अच्छी बातें भी हुईं। निजी पीड़ा बिल्कुल ही बेकार नहीं थी। लेकिन एक अर्से के बाद यह अनुभव हासिल हुआ कि केवल विरुद्ध होकर मैं अपनी कोई सेवा नहीं कर रहा था।

उस समय मैं उत्तर से पश्चिम चला गया। मैं समझता था कि यह मनुष्य का विस्तार है कि वह जहाँ पैदा हो, वहीं न मर जाए। इसे मैंने तब आर्थिक बात नहीं समझा। मैं झूठ को सच बनाने पर आमादा था। तब मैं बाहर से प्यार करते-करते घबरा उठा था। शहर मेरी दुनिया बनता जा रहा था। मेरा घर, मेरे दोस्तों का घर, मेरी प्रेमिका का घर, यहाँ सारे घर इकट्ठा हो गये थे। यहाँ की सड़कें यहाँ के अमरूद यहाँ की आकाश-रेखा और क्या-क्या नहीं। सब कुछ अच्छा था। इस अच्छे पर जकड़ तगड़ी होती जा रही थी। ऐसा डर था कि यह जकड़ एक दिन जंग से खदबदा जावेगी और कभी नहीं खुलेगी।

पीड़ा टपकती रही। निर्माण-प्रक्रिया चलती रही। मैंने बिस्तर पर करवट ली। अब हालत ऐसी है, जैसे धम्म से काफी नीचे गिरकर सँभला हूँ और शुक्र मना रहा हूँ कि बिल्कुल बेकार नहीं हुए। कुछ दिन में ठीक हो जायेंगे।

उन दिनों जब मैं शहर से गया था आर-पार खुशी-ही-खुशी थी। बाहर जाने पर लोग विस्फारित होते थे। अन्य जगहें गैर होती हैं। कोई दुर्घटना हो जाय और अकस्मात घर आना हो तो दूरियों को लाँघने में ही सारा समय और धन खर्च हो जाये। फिर बच्चों की शादी-ब्याह, दूसरी भाषा, दूसरा खान-पान और अपरिचित समाज। लोग जितना कहते उतनी ही खुशी होती। यहाँ तक कि खुशी जाहिल हो गयी।

जब मैं नयी जगह में पहुँचा तो क्रांतिकारिता चालू थी और निजी हादसे का पुराना नशा पूरे दमखम से रूढ़ियों और मामूली लोगों पर हमला करता रहा।

एक बार रेल के सफर में कुछ लोग मिले और पता चला कि वे लोग मेरे ही शहर के रहने वाले हैं। तो आप लोग सब वहीं के रहने वाले हैं। मैं भी वहीं का रहने वाला हूँ। डाट के पुल के पास रहता हूँ। वहाँ की क्या बात। पूर्व जन्म का कोई पाप था जो हम इधर लुढ़क आये हैं। असलियत तो यह है, जनाब कि अपने शहर की मिट्टी और यहाँ का पेड़ा एक बराबर है। पूरे रास्ते खूब वाहवाह होता रहा। तब पहली बार मुझे पता चला कि मेरी असलियत क्या है।

उस जगह में जब भी कोई अपने शहर का व्यक्ति मिला हमेशा ऐसी खुशी हुई जैसे अँधेरे जंगल में भटकते हुए एक लालटेन मिल गयी हो।

जैसा कि मैंने पहले भी बताया मैं अपने शहर पर धम्म से गिरा। मेरी वापसी, गिरे हुए उस आदमी जैसी थी जो चुटीला होकर अपने उद्देश्य के कहीं आस-पास पड़ा हुआ था।

दूसरे दिन सिविल लाइन्स के मध्य में मुझे गणेश मिल गया। मैं चिंता में नहीं वरन् किसी छोटे से मनोरंजक इरादे में था। लेकिन गणेश से मिलते मानो मैं बिल्कुल मनहूस हो गया। मैंने कई तरह से प्रयत्न किया लेकिन मनहूसी टस से मस नहीं हुई। यह एक कारुणिक बात थी कि मैं मान बैठा था कि गणेश अब हँस नहीं सकता, खुश नहीं हो सकता। मैं उससे इस तरह से मिला जैसे उसके किसी प्रिय की गमी हो गयी हो।

गणेश ने बताया कि वह इधर दवा लेने आया था। मैंने कहा चलो कॉफी पियें। उसने कहा, चलो मुझे तो तीन वर्ष हो गया कॉफी हाउस गये हुए। कॉफी पीने के बाद वह तब तक अपने दाहिने हाथ को कुरते की जेब पर रगड़ता रहा, जब तक कि मैंने पैसे नहीं दे दिये। फिर वह हँस पड़ा जो कि हँसी से अधिक एक कराह थी और कहा, 'चलें।' मैंने कहा, 'हाँ।' उसने कहा, 'बात यह है कि मेरे पास दवा है और इसलिए जल्दी है।' गणेश के जाने के बाद मैं परेशान हो गया। मैंने सोचा कि गणेश मुझे न याद आये, न दिखे। फिर भी मैं प्रसन्न नहीं हुआ। मैंने सोचा, मैं गणेश से बचूँगा। वह उधर से आयेगा तो मैं इधर से निकल जाऊँगा लेकिन मैं तब भी प्रसन्न नहीं हुआ। मैं निर्णय कर के भी मनहूस का मनहूस रहा।

मैं बाहर निकलने के बाद वापस फिर कॉफी हाउस पहुँचा और बैठ गया। तब से मैं ये समझिये कि वहीँ बैठा हूँ। यहीं सतीश से मेरा पुनर्मिलन हुआ। सतीश मेरे बचपन का सबसे पहला साथी है और सबसे लंबा समय उसके साथ बीता है। लेकिन दो वजहों से मेरी उसकी खटक गयी। एक तो वह आयकर अधिकारी हो गया था और दूसरे अपनी पीड़ा के दिनों में जब मैं दुनिया से थोड़ा ऊपर उठ गया था, मैंने अकस्मात एक दिन उससे कह दिया था, 'तुमसे मेरी नहीं पटेगी। तुम अंडरवीयर छोड़ कर सब चीजें मुफ्त वसूलते हो। तुम घूसखोर हो, भ्रष्टाचारी हो। तुम जाओ।'

पुनर्मिलन के बाद सतीश हर रोज मेरी वजह से दो-चार मिनट को जरूर आता। वह मेरा उद्धार करना चाहता है। वह कहता, 'कहाँ सनीचर में

फँसे हो। मुझे माफ करो। अब मैंने सब कुछ छोड़ दिया। घूस का पैसा फलता नहीं।’

सतीश जा चुका है। लेकिन रेलगाड़ी के चले जाने के बाद भी जैसे उसकी छुक-छुक बनी रही है उसी तरह सतीश अभी बना हुआ है। दिमाग में काटपीट मची है। तभी शोर का एक तेज रेला आया और मुझे अधिक बेचारगी के साथ महसूस हुआ कि अकेला हूँ। इस छोटी-सी कहवा पीने की जगह में जितने हैं सब धुरंधर हैं। सबके सब सहूलियत से आ गए हैं। सब अपने-अपने फन टेबुलों पर पटक रहे हैं। मैं अकेला हूँ नहीं तो अपना फन भी पटकता।

तो चलें बाहर नीम के दरख्त के नीचे बैठें या रेलिंग पर टिक जायें। या किसी पुष्पवाटिका में घूमें, गायें, गुनगुनायें अथवा किसी को पकड़कर उससे बकवास करें। परसों सोचा था व्यापक विचार करेंगे और दिमाग है कि सामने वाले फव्वारे की तरह टूट रहा है। फव्वारा सुंदर लग रहा है। उसने सिविल लाइन्स में चार चाँद लगा दिये हैं। रिक्शे वाले पसीने से नहा लेने के बाद हवा से बदन पुँछ जाने की उम्मीद में उधारे बैठे हैं। भद्र और कोमल लोग रूमाल को नाक पर दबाकर रिक्शे वालों से बात कर रहे हैं।

उफ ये उमस, उफ ये उमस, कुछ हवाखोर बस यही गजल गा रहे हैं। उनके अंदर फव्वारों को छूने की तबियत उठती है पर कंटीले तारों और भीगने के डर से लाचार आगे बढ़ जाते हैं। ‘कोक्स’ के खुलने की आवाजें आ रही हैं। सोच रहा हूँ, इसी शहर पर मतवाले थे। इसी शहर को चाटते फिरते थे। इसी शहर के लिए हर जगह से लौट आये। मैं पुराने रईसजादों की तरह इस शहर का बाशिंदा बनना चाहता था। मैं जब होता कॉफी हाउस में जाकर बैठ जाता। यह शहर की सबसे आसान जगह थी। यह एक झरोखा था जहाँ बैठकर कॉफी पियो और बाहरवालों का मुजरा करो। उन्हें उँगली दिखाओ। यहाँ बैठे हुए लगता कि हम दर्शक की तरह शहर की जिंदगी की नुमाइश देख रहे हैं।

बड़े चौरस्ते से सौ कदम बढ़ने पर दाहिनी तरफ एक तिर्माजिला इमारत खिंच गयी थी। वह वास्तु कला का शहर में एक नया नमूना थी। उसमें लगे वातानुकूलित यंत्रों की वजह से बाहर भी कुछ ठंडक निकल आई थी। कुछ लोग इमारत को देख रहे थे। उनका कहना था शहर काफी सुंदर होता जा रहा है। जबकि पिछले बीस सालों में यहाँ वही खपरैल छाया रहा। अब जरूर कुछ अच्छी अमेरिकन पैटर्न की इमारतें बन गयी हैं।

एक सुंदर नौजवान कह रहा था, 'मैं तो पुराने शहर की तरफ जाता ही नहीं। वहाँ मेरा दम घुटता है। वहाँ भीड़-ही-भीड़ होती है और भीड़ में जीवन की उत्तेजना नष्ट हो जाती है।'

'चौक की बात छोड़ो, यहाँ सिविल लाइन्स में देखो डंडा चला-चला कर इतना काम हुआ है, लेकिन शाम होते ही तुम देखो साली कोई गली ऐसी नहीं जहाँ बच्चे पाखाना नहीं करने बैठे हों। इस तरह से शहर नहीं बनता। बंबई में कोलाबा में तुम मजाल है कहीं पेशाब कर लो।'

'अंग्रेजों के समय में अच्छा था, जब सिविल लाइन्स में हिंदुस्तानी घुसने नहीं पाते थे। असली बात यह है कि इन लोगों को ज्यादा आजादी दो तो ये इतने असभ्य हैं कि बीच सड़क पर ही हगने लगे।'

बातें इससे भी अधिक मनोरंजक हो सकती थीं लेकिन मैं वापस हुआ। मुझे भूख लग रही थी तभी मुझे लगा कि एक जीप, बीच सड़क छोड़कर मेरे ऊपर चढ़ी आ रही है। हेड लाइट से मेरी आँखें चुँधिया गईं। मुझको लगा कि मार दिया गया पर कुचला नहीं गया। गाड़ी खड़ी करके उसका चलाने वाला जब बाहर आया, उतरा तो वह मोईत्रा था। थोड़ा गाली-गलौज हुआ। फिर मैंने कहा, 'कहो कहाँ से आ रहे हो, यह जीप कहाँ से कबाड़ ली।' मोईत्रा नशे में था। बोला, 'मर्डर करके आ रहा हूँ। फतेहपुर में एक को जीप से चाक कर दिया। बहुत दिन से परेशान कर रहा था, बेरी...ने।'

मोईत्रा को उसके साथी, ईसा मसीह का कुत्ता कहते थे। मैंने कहा, 'कुत्ते, तुम क्या मर्डर करोगे।' उसने पूछा, 'नशा करोगे, मेरे पास थोड़ी रम है।' मुझे उस पर भरोसा नहीं हो रहा था। न रम पर न हत्या पर। मुझे पशोपेश में देख कर जेब से निकाल उसने बची हुई रम फटाफट चढ़ा ली और बोतल में पास के नल से पानी भरने चला गया। गाड़ी में अपने उतना ही पानी डाला और स्टीयरिंग पर बैठ गया। गाड़ी स्टार्ट करतु हुए उसने कहा, 'तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है, शुद्ध घी (वह मुझे हमेशा शुद्ध घी कहता था।) इधर आओ।' उसने इसके बाद लंबा हाथ बढ़ाकर जीप के पिछले हिस्से से एक कुचला हुआ मुंड उठाया और वापस गिरा दिया। 'कल ईसा मसीह ने चाहा तो इसी महात्मा गांधी मार्ग पर मिलेंगे। उसके यह कहने के साथ-साथ जीप स्टेनली रोड पर मुड़ गयी।

मैं कुछ देर थरथराता रहा और फिर हिचकी बँध गयी। मैंने कभी हत्या नहीं देखी थी। मृत्यु एक दो बार देखी थी। मेरे होश गायब थे। फिर मैंने पास के नल पर सर लगा दिया। मैं हत्याकांड में शामिल व्यक्ति की तरह डर गया

था और घबड़ाहट के बाद भी फूँक-फूँक कर चलने की सावधानी बरतता रहा।

मैं रिक्शा करके सीधा आश्रम पहुँचा और सर में तेल मलवा कर लेट गया। रात भर नींद नहीं आई। गणेश, मोईत्रा तथा सतीश के चेहरे विकराल रूप से नृत्य करते रहे। तीनों चेहरों में एक अजीब ताल था और वे पूरी रात में एक बार भी आपस में नहीं टकराये।

मैं अंतिम रूप से निराशा का अनुभव करने लगा। लगा चक्की के पाट में पिस जाऊँगा। शहर से अपने प्यार का मामला अस्त होने लगा। यही ऐसा समय होता है, जब कोई अपना रास्ता बदलता है और उसके तर्क सीखता है।

आज अजीब बात है, लेटे-लेटे मैंने सोचा। सियार भी बोल रहे हैं, उल्लू भी बोल रहे हैं, कुत्ते भी बोल रहे हैं। मैं डर कर और नीचे हो गया। जैसे एक कब्र में लेट गया। लेटे-लेटे लगा कोई लिफ्ट नीचे पहुँच कर ऊपर लौट गयी है। चुप्पी, चारों तरफ अभूतपूर्व चुप्पी। सोचा कुछ पुकारूँ, शायद कोई कराह उठे। लेकिन पुकारा नहीं। डर लगा कहीं पुकारते ही गणेश का मनहूस चेहरा सामने न आ जाय या मोईत्रा की हत्यारी जीप आवाज न करने लगे।

धीरे-धीरे सुकून मिला। नीचे बड़ा पुरलुप्त ख्वाब है। कोई नहीं बोलता, खुद ही बोलते जाओ, जितना बकना है, जैसा बकना हो। मैं कभी कटी हुई गोजर की पूँछ की तरह छटपटाया था और ठंडा पड़ गया। कुछ समय सन्निपात अवस्था भी रही और अब धीरे-धीरे राह खुलती जा रही है। घाट की राह।

ज्यों-ज्यों सुबह करीब आती गयी पिछली शाम का खूँखारपन खत्म होता गया। लमहा-लमहा एक रमणीक सपने को तैयार होना था। मैंने सोचा अगर मैं दर्शक हूँ तो मुझे जल में कमल जैसा होना है। सारी तकलीफ यह है कि मैं, अपने को गणेश और मोईत्रा से जोड़ने की कोशिश कर रहा हूँ। जुड़ोगे तो भोगोगे। लोगों को पहचानने में व्यर्थ वक्त जाया न करो। केवल अपना काम करो।

शहर की सतह पर अगणित रश्मियाँ फूट रही हैं। एक से बचो तो दूसरी से फँसो। मान लिया दूसरी से भी बच गये और तीसरे से भी तो चौथी, पाँचवीं, छठवीं और इसी तरह सौ से कैसे बचोगे। इससे यह शिक्षा मिलती है कि बचने का प्रयत्न खत्म करो। उद्योग और वाणिज्य बढ़े बहुरंगी उत्पादन पेश कर रहे हैं। उनकी मदहोशी को तिलिस्मी लखलखा भी नहीं उड़ा सकता। अच्छा-खासा साढ़े पाँच फुटा आदमी ऐसी नींद ले रहा है, जैसे-गर्भाशय में पिंड। इसलिए तुम भी मदहोश रहो। आलोचकों को भाड़ में जाने दो। उनकी खोपड़ी लजीज

आलोचनाओं से लबालब भरी है। वे उसी में डूबें उतराएँ, व्यस्त रहें। अजीब जाति है इनकी। ये समय को चाल रहे हैं, लोगों को चाल रहे हैं, इतिहास को चाल रहे हैं, विद्वान हैं, चलनी बन गए हैं।

अब आप कल्पना करें कि जिस आदमी का दिमाग भटकता हुआ इस अवस्था पर पहुँचा हो, उसे रात के तीन बजे जब नींद आएगी तो वह कितनी गहरी और मस्त होगी।

मैं कुछ दिन बाहर नहीं निकला। मैं अधूरा कायाकल्प का हामी नहीं था। मोईत्रा से मुझे बचना था। वह महात्मा गांधी मार्ग, कॉफी हाउस और पेट्रोला का चक्कर मार रहा होगा। उसके बारे में अखबार में कुछ नहीं आया और इधर-उधर से भी कुछ भनक नहीं पड़ी। संभव है वह बच गया हो। लेकिन मुझे भी तो उससे बचना है। आज मैं कई दिन बाद आश्रम से निकला। यद्यपि किसी को कुछ भी मतलब नहीं था और मेरा अंदरूनी परिवर्तन भी एक गुप्त रोग जैसा था, फिर मेरे साथ-साथ मेरा चोर भी चल रहा था। मुझे अपने समर्थन के लिए उदाहरणों का चुनाव करते रहना था। दो-तीन रात पहले मैंने कुछ उदाहरण चुने थे लेकिन अभी कुछ दिन यह सिलसिला चलाना था। नैतिक बल भी कुछ चीज है।

मैंने देखा कि हर व्यक्ति प्रसन्न-वदन है। हर आदमी खुश है। एक आदमी अंडे और गुब्बारे खरीद कर खुश है और एक व्यक्ति 'वीकली' खरीद कर। तीन-चार व्यक्ति, एक उग्र जुलूस के चले जाने के बाद भी बेहद खुश हैं। दरअसल वे काफी खिलखिला रहे हैं। यहाँ तक कि वह व्यक्ति, जो सड़क के बाजू पेशाब कर रहा था, खड़े होते ही प्रसन्न हो उठा है—इसलिए कि काम बिना बाधा के पूरा हो गया या कि किडनी ठीक काम कर रही है।

पूरी शाम मैं अपने पिछले उदास जीवन को धिक्कारता रहा और उदाहरण खोजता रहा। उदाहरणों की कमी नहीं थी।

मैंने एक मार्ग पकड़ा। यद्यपि मेरी मनहूसी पूरी तरह से गायब नहीं हुई पर वह काफी दब गयी। मैंने सोचा, चूँकि मुझमें जोखिम उठाने की संभावना दूर-दूर तक नदारत है इसलिए मुझे सतीश से कन्नी नहीं काटनी चाहिए। सतीश शहर का बड़ी पहुँच वाला मनुष्य था। इसी बीच मुझे यह रहस्य भी ज्ञात हुआ कि मैं बहुत से मामलों में हूबहू अपने पिता सरीखा निकल आया हूँ। हममें कई बातें आश्चर्यजनक रूप से एक थीं। शायद उग्र ने भेद को खोल दिया। यह एक मार थी और इस मार को खाकर मैंने कहा अब जैसा भी घटे लेकिन बागडोर का प्रयोग खत्म।

सतीश लगभग रोज ही मिलता था। मैं भी पुनर्मिलन के लिए तैयार बैठा था लेकिन इसके पहले मान-मनउव्वल की आवश्यकता थी। वह खींचे, मैं अडूँ, नहीं-नहीं और चलता चलाँ। यह सब जरूरी था। इस तरह से कुछ दिन पाखंड चला।

एक दिन मेरी सतीश से मामूली भिड़ंत हुई। नोक-झोंक हुआ लेकिन वह एक मिली-जुली कुश्ती के मानिंद था।

मैंने उससे कहा, 'क्या तुम रुक कर कभी नहीं सोचते?'

'क्या तुम्हें कभी यह ध्यान आया है कि शहर अपनी कब्र में बिदा ले रहा है? बगीचे, सड़कें और इमारतें अब एक भूत की तरह हिल रही हैं।' सतीश इस सवाल पर बेहद हँसा। मुझे भी अपनी बात मूर्खतापूर्ण लगी। मेरे अंदर अंदरूनी जोर नहीं था। मैं तो खुद, एक चुनचुना देने वाली आभा की उम्मीद में तैयार बैठा था।

फिर भी उसने कुछ मेरी ही मुद्रा और भाषा में जवाब दिया- 'तुम पुराने वाशिंदों की बात कर रहे हो। क्या तुम्हें उनमें से परिपक्वता की सड़ाँध नहीं आ रही है! वे अपना हाथ उठा चुके हैं और अब दिन भर में सिर्फ कई हजार धड़-धड़ाती साँसें लेते हैं।'

'छोड़ो, इन बातों को गोली मारो। मुझे तुम्हारी मनहूसी अकारण लगती है। यह सही है कि तुम विचारवान हो और विचारवानों में आत्महत्या की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से जोर मारती रहती है। मुझे इसमें भी कोई आपत्ति नहीं लेकिन थोड़ा दुनिया देखकर मरो तो ज्यादा अच्छा है।'

सतीश बहुत दिन से भरा हुआ था। मेरे मिजाज में शहर की जो छाया थी वह उस पर भी पिल पड़ा। मुझे सब कुछ बेहद अच्छा लग रहा था लेकिन मैंने मुंडी हिलाकर नापसंदी भी दिखाई।

उसने एक प्रश्न पूछा और कहा इसको आज ही हल करो।

प्रश्न था: तुम्हें मुसीबत घेर ले और तुम्हें रुपयों की जरूरत पड़ जाय तो शहर से तुम्हें कितनी मदद मिलेगी।

मैंने उससे कहा, 'बाहर आओ, यहाँ नहीं।' मुझे ताव भी आ गया था। हम बिल चुका कर बाहर आये।

मैंने उत्तर दिया, 'शर्म की बात है, तुम मेरी व्यक्तिगत स्थिति को ध्यान में रखकर प्रश्न कर रहे हो। फिर भी मैं केवल आर्थिक तरीके से नहीं सोच सकता। शहर केवल एक इमारत नहीं है। तुम्हारे पास बस पैसे की गर्मी है।

‘डोंट बी सिली, जिस तरह एक टोकरी होती है, एक दरबा होता है या एक हौज होती है वैसे ही शहर होता है। यह निचोड़ है। लेकिन तुम्हें जब देखो तब इस शहर की खुजली होती रहती है। मेरे दोस्त, ईश्वर के लिए न तो गाने गुनगुनाने और बक-बक की छूट पर जाओ और सड़कों, वृक्षों की कतारों और जाला लगी गाँथिक इमारतों पर न्यौछावर हो। यह शुद्ध दलदल है। अपने को बरबाद मत करो।’

‘धक्का लगाने पर शहर तुम्हें उदास करता है या प्रबल, कृपया इसको सोचो।’ और इसके बाद माहिर तरीके से उसने मेरी एक खास नस पकड़ी। ‘तुम्हें याद होगा, हालाँकि यह एक कठोर उदाहरण है, एक बार प्यार मुहब्बत की बाजी हार कर तुम इसी शहर से भगे थे। याद है ना।’

इसके बाद सड़क इतनी अँधेरी थी कि हम बिना एक दूसरे का चेहरा देखे चल रहे थे। केवल चल रहे थे।

सतीश से पुनर्मिलन के बाद मैं आश्रम में कम रहता था। वहाँ कभी-कभी सोता था। सतीश ने कहा, ‘मैं प्रयत्न करूँगा कि तुम्हें शेरों के क्लब का सदस्य बना सकूँ। उसमें वकील, अमीर, डॉक्टर, व्यवसायी, दलाल, क्लास वन सब तरह के लोग हैं, लेकिन कोई भी बुद्धिजीवी नहीं है। अच्छा शगल रहेगा।’

मैं अभी तक उस क्लब का सदस्य नहीं बन सका हूँ। उस क्लब के लिए मैं अटपटा भी हूँ पर मेरी आकांक्षा जरूर बढ़ गयी है। यूँ सतीश की वजह से शेरों के क्लब के बहुत से सदस्यों से मेरी मुलाकात और बैठक हो गयी है।

इन्हीं लोगों के बीच मुझे पता चला, कि शहर में सात मिलीमीटर के प्रोजेक्टर्स की बिल्कुल कमी नहीं है। प्रोजेक्टर्स के खेल के बारे में मैंने खूब सुना था। अब मेरा दिल धड़कने लगा, शायद मैं आस-पास पहुँच गया हूँ।

शेरों के समाज में मैं अपने को अनुभवहीन नहीं प्रदर्शित करता था। बरा-बरी देता था। सूचनाओं के मामले में मेरी पहुँच कमजोर नहीं थी। मैंने बिना जाने तीर छोड़ा, ‘सुना है कि जस्टिस बोथरा के यहाँ हर शनिवार को शो होता है।’

लोगों को नयी सूचना पर गुदगुदी हुई। एक महाशय ने तो यहाँ तक कहा, ‘हाँ आप ठीक फरमाते हैं मुझे भी भनक पड़ी थी।’ सतीश नहीं था, उसकी अनुपस्थिति में मैं काफी चढ़ा रहता था, उसके सामने पोला अनुभव करता। मैंने कहा, ‘दिल्ली, बंबई और कलकत्ते के बाद पता लगाया जाय तो यहीं का नंबर होगा।’

शनिवार का दिन, बड़ा सुस्त था। शाम को ही गणेश मिल गया। असगुन वहीं से शुरू हुआ। आज वह जैसे फुरसत में था। आज उसने साथ नहीं छोड़ा। 'आज कॉफी हाउस नहीं चलोगे', उसने कहा। शायद उसे कुछ एरियर्स मिले थे। इसलिए कॉफी हाउस चले आये। मैंने तो सोच लिया था, कि आज का दिन कुर्बान करना ही पड़ेगा और फिर महीने भर की फुरसत मिल जायेगी गणेश से।

पीली-पीली रोशनी थी। काठ-सरीखा मैं बैठा था। बड़ी देर से न बदन में कहीं खुजली हुई न शरीर में मरोड़। तभी सतीश का आगमन हुआ। एक पल में उसने मुझे खोजा और एक रेले की तरह मेरी टेबल पर आया। यूँ तो उसे मैं सतीश ही कहने और सोचने लगा हूँ लेकिन उस समय मैंने मन में सोचा, 'सतीश द लंबू' पंद्रह वर्ष पहले हम सतीश को 'सतीश द लंबू' कहते थे।

'आओ तुम्हें फुर्ती से भर दूँ।' सतीश मेरे कान में फुसफुसा रहा था। 'मैंने डॉ* मंगलू को पटाया है। डाक्टर शेरोंवाले क्लब का सदस्य है। उसके गेस्ट हाउस में ब्लू फिल्म का शो है। गेस्ट हाउस महात्मा गांधी मार्ग पर है। नौ नंबर पेट्रोल पंप के सामने। एक बार तुम उसमें धँस जाओगे तो तुम्हारा चान्स बराबर बना रहेगा।'

मेरे नखरे पर उसने चोट की। मैंने तुम्हें कहा था, 'आदमी को हर प्रकार का अनुभव करना चाहिए। सेक्स को गौण मत समझो। कम-से-कम इसे तीसरा स्थान मत दो।' सतीश अब तक खड़ा था।

'कॉफी मँगाओ,' सतीश ने इतमीनान से बैठते हुए कहा। मैं उसके अनुभव सूत्र की चपेट में तो काफी पहले आ गया था और ऐसा भी नहीं कि मैं चाहता नहीं था। एक बार तो अनुभव हर चीज का होना चाहिए, यह आज की जिंदगी का ब्रह्म सूत्र है।

कॉफी पीते-पीते पता नहीं किस पल सतीश कुछ चिढ़ सा गया। उसे लगा मैं कुछ ढोंग कर रहा हूँ। 'चौबीस घंटे कविता कहानी करते-करते भी तुम लोग उकताते नहीं। अपने को शहर का बाप समझते हो। अभी तुम जानते ही क्या हो? चर्च के चारों तरफ घूमते हो। कुछ सुनसान बेजान सड़कों की जानकारी के अलावा तुम्हारे पास थोड़ी सी किताबें हैं। बस।'

कॉफी समाप्त करके उसने एक टेबुल के गिर्द बैठे लोगों के बारे में पूछा, 'क्या वे सब एस.एस.पी. के लोग हैं?' उसके प्रश्न से लगता था कि वह अब जायेगा। मैंने कहा, नहीं।

उसने कहा, 'सूरत, कपड़ों और अदाओं से तो समाजवादी लगते हैं।' और वह चलने को उठ खड़ा हुआ। इसके पहले कि अलविदा होती, सतीश ने पुनः एक बौद्धिक अदाकारी की। 'आदमी सबसे भिन्न है। इसको कभी मत भूलो। उसका लोक आश्चर्यों से भरा है। मन को अनुभवों के विराट में दौड़ने दो, भटकने दो।'

सात बजे हम गेस्ट हाउस में मिले। अंदर तैयारी हो रही थी। पता चला कि फिल्म का नाम है, 'लव गेम फ्राम कोपेनहेगन।' शेरोंवाले क्लब के बहुत से लोग वहाँ जुड़वाँ उपस्थित थे। सबसे अधिक उत्सुक और वाचाल अधेड़ लोग थे। पिता जैसे लोग भी आए थे। बड़ी जिंदादिली थी। जवान और अधेड़ का मिलन आश्चर्यजनक था। उनमें कभी-कभार संवाद भी हो जाते थे।

अंदर जब कि प्रोजेक्टर तैयार हो रहा था और दो-एक लोगों का इंतजार था उस गैप टाइम का अनुभव नवीन, अद्भुत और रोमांचक था। मेरी अवस्था यह थी कि मुझे मूलक के भविष्य का अफसोस भी हो रहा था और यह प्रसन्नता भी कि अनुभव के पुस्तकालय में कोई हैरतअंगेज पुस्तक आने वाली है। वहाँ जो बीवियाँ थीं, वे पुरलुप्त मजाक कर करके अपने को तैयार कर रही थीं। हममें से कुछ बीच-बीच में सड़क पर से गुजरते अपने परिचितों को बदनसीब समझ कर हमला कर रहे थे। गेस्ट हाउस सड़क पर था। बस बीच में एक हेज और एक पतली लॉन थी पट्टी की। एक ने आवाज लगाई वो देखो रिक्षा पर 'मामा' को, काँफी हाउस जा रहा है और लोग खिस्स से हँस पड़े। इसके बाद सुब्रतो जब अपनी बीवी को स्कूटर पर बैठाये गुजरा तो एक श्रीमती जी बोली, 'हाय शी इज गोइंग इन हर पिट फार द सेम बोरे नाईट कोर्स' और हा-हा-हा-हा। उसकी साथिन जो किसी पुतली की तरह ठै-ठै के बोलती थी, कहने लगी, 'शी लुक्स ए केस ऑफ वन मैन हैंडलिंग' और हा-हा-हा-हा।

एक बार तो तबियत हुई पेशाब, सिगरेट या किसी और बहाने खिसक लूँ। लेकिन यह वास्तविक इच्छा नहीं थी। नंगे चित्र कैसे होते हैं, अनुभव का लोभ मारे डाल रहा था। बातूनी और समय बहार में पगी महिलाएँ बार-बार मेरी अविवाहित अवस्था पर दया चिपका रही थीं। श्रीमती नथानी सर्वाधिक चपल हैं। कहने लगीं, 'स्वामी, (काफी लोग मुझे स्वामी नाम से संबोधित करने लगे थे। लेकिन जब महिलाएँ स्वामी कहतीं तो चिढ़ नहीं होती थी) फिलहाल, आई कैन मैनेज माई आया।' इसके बाद वे पूरे समूह को बताने लगीं, 'अपने तकलीफ के दिनों में जै के लिए मैं उसी से कहती हूँ। जै को चाहिए रोज। बाबा मैं तो

उससे परेशान आ गयी हूँ।' फिर वे मेरी तरफ खास तौर पर मुखातिब हुईं, 'स्वामी, आया इज ब्यूटीफूल टू।'

फन आधे घंटे में समाप्त हुआ। कुछ लोग पूरी तरह से समाप्त होने के पहले ही बीवियों को लेकर भागे। कुछ चीत्कार करने लगे थे क्योंकि कमरे में अंधकार था और महिलाएँ आपस में दर्दनाक चिकोटियों का आदान-प्रदान करती रहीं।

सतीश ने पूछा, 'कहो स्वामी कैसा रहा।'

मैंने कहा, 'हाँ, असमय बूढ़े हो जाने वालों के लिए उपयोगी है।'

'फिर वही तुरी,' सतीश बमकता हुआ बोला, 'कृतज्ञ होइए महाराज कृतज्ञ। क्या अद्भुत कैमरा आर्ट है और यौन क्रियाओं को कविता में बदल देने वाली उन औरतों को धन्यवाद दीजिये स्वामी जी, जिन्हें आप केवल नंगी समझ रहे हैं।'

वहाँ से मैं सिविल लाइन्स के मुख्य बाजार में आ गया। बाजार में चहल-पहल थी और वह अधिक रंगीन लग रहा था। सुंदरियाँ चिक की तरह हवादार कपड़ों में सैर कर रही थीं। मैं भावुक होता जा रहा था। किधर जा रहा हूँ, सभ्यता किधर जा रही है। मैंने पाया कि मैं खुश होने की जगह अनमना हूँ। मैंने 'फन' तबियत से देखा और उसके बाद भी उखड़ा हुआ हूँ। मैं रेलिंग पर बैठ गया। मुझे अपने व्यक्तित्व के इस चार सौ बीस की संगति नहीं मिल रही थी। मैं सचमुच परेशान हो गया।

यकायक मैंने इस बात पर गौर किया कि महात्मा गांधी मार्ग के इस हिस्से में बच्चे और बूढ़े नहीं हैं। क्या वे इस क्षेत्र से बहिष्कृत हैं? बच्चों का सिलसिला प्रसूति-गृह के बाहर जितना दिखाई देता है, यहाँ पहुँच कर वह गुम कैसे हो जाता है? बच्चे शायद दाइयों के पास चाकलेट की लालच में मुरझा रहे होंगे और बूढ़े यहाँ नहीं आते। 'बूढ़ो, तुम पुल पर बैठो, बासी अखबार पढ़ो, चुरुट बीड़ी पियो और खखारो,' मैं बुदबुदाया।

इस तरह से अनुभव का एक महत्वपूर्ण दिन खत्म हुआ। दिन का अंत कितना ही भावुक क्यों न हो अगली सुबह पर उसका कोई भी निशान नहीं रहता। अनुभवी बन जाने के सूत्र ने जादू-मंत्र जैसा काम किया। देखते-देखते मैं अनुभव की पूरी चपेट में आ गया। शिकारी, पशुओं को जंगलों में जिस तरह घेर लेते हैं, उसी प्रकार मेरा जीवन अनुभव-चक्र के अंदर रह गया। अनुभव की उत्तेजना और माँग मेरे अंदर छूत की तरह फैलती गयी। बोतल से निकले जिन की तरह मुझसे हर समय कोई माँगता रहता, 'अनुभव लाओ, अनुभव लाओ।'

मैं भी माँग और पूर्ति के नियम का संतुलन करता रहा। चकलों की यात्रा, गाँजा मंडलियाँ, नदियों के किनारे मेले, खूँखार जंगल और भाँति-भाँति की शराबों का स्वाद, कुछ भी नहीं छूटा। जहाँ भभका लगता है, वहाँ बैठकर पीना। कभी-कभी जमुना पार करके अरैल पहुँचते और हमेशा इस रोमांचकारी अनुभूति से युक्त रहते कि एक खोज है, जो जारी है।

तकरीबन रोज ही जब लौटता हूँ, मेरा मन किसी-न-किसी मानवीय स्थिति पर इसी तरह द्रवीभूत हो जाता है। इसी तरह किसी-न-किसी मानवीय स्थिति पर एक दर्द भरी डकार उठती है और डकार लेने के बाद मेरी तबियत आगामी कल के लिए दुरुस्त हो जाती है। उदाहरण के लिए मैं अगली सुबह की बात बताता हूँ। मैं तरोताजा और गुनगुनाते हुए दैनिक चर्चा को पूरा करने लगा। आज शाम को मद्यपान का एक तरीके का कार्यक्रम था। इसमें कई ऐसे शरीफ लोग शामिल होने वाले थे, जिन्हे शराब पीते हुए देखना अपने में अनूठी कल्पना लगती थी। शाम तक का यह दिन बिल्कुल बेदाग निकल गया, एक भी रोड़ा नहीं आया।

और शाम हो गयी। लोग बातें ज्यादा कर रहे थे। मैंने तो केवल पीने का ही सोचा था। शराब तेज थी और असरदार। आजकल मिलावट है या कुछ और बात, शराब न जाने कैसी हो गयी है, पुराने दिनों जैसी हलचल नहीं होती। वह बस शरीर पर असर करती है, दिमाग पर नहीं। न प्रेमिका की याद आती है और न समाज की, न मुल्क की। सबसे ज्यादा खुशी इस बात की थी कि आज शराब पिछले दिनों जैसा काम कर रही थी। मैंने महसूस किया कि मेरी प्रेमिका शराब में पड़ी खौल रही है और मैंने महफिल में दो दर्जन से अधिक शेर सुना दिये। शेर न मालूम कहाँ से चींटों की तरह एक के बाद एक निकले चले आ रहे थे। महफिल में कोहराम मचा हुआ था। लोगों ने कहा आज का कार्यक्रम बहुत सफल रहा।

रात के बारह बजे के बाद का सन्नाटा था। मैं झूमता-झामता लौट रहा था। कुहराम सो चुका था। मेरे साथी मुझे आश्रम से तीन चार फर्लांग पर छोड़कर इधर-उधर हो गये थे। यहाँ से आश्रम तक मुझे सब पहचानते हैं। कुत्ते भी मुझे देखकर नहीं भौंकते। कुम्हारों का एक छोटा-सा मोहल्ला है, जहाँ से गुजर कर मैं अपने आश्रम तक पहुँचता हूँ।

सड़क के किनारे, कोठरियों के बाहर सोने वालों की कतारें थीं। एक कतार सोने वालों की उस नल से भी निकली थी जिसमें सुबह पानी आने वाला

था। ये अधिकांश बच्चे-बच्चियाँ थे। हाथ-गाड़ी पर दिन भर सामान बेचने वालों ने अपनी गाड़ियों को रात में खाट बना लिया था। दूर तक फुटपाथ ऐसा लगता था, जैसे दुर्घटना के बाद अस्त-व्यस्त लाशें पड़ी हों।

मैं बीच सड़क पर बैठ गया। यह सब देखकर मुझ पर भीषण असर हुआ था। आज मेरा सीना यह सब देखकर भरभरा उठा। मैं रोज देखता था पर आज जैसे मेरा काबू नष्ट हो गया। मैंने पाया कि मैं सिसकने लगा हूँ और मेरी तबियत फूट-फूट कर रने की हो रही है। मैं अपना नाम लेकर अपने को पुकार रहा था। 'थू है तुम्हारी जिंदगी को, तुम पत्थर हो गये हो। ये देखो, ये असली शहर है, असली हिंदुस्तान, इनके लिए तुम्हारा दिल हमेशा क्यों नहीं रोता है।' फिर मैंने खड़े होकर अपने गालों पर तमाचे मारने शुरू कर दिये। जब मैं तमाचे जड़ रहा था तभी सोये हुए व्यक्तियों में से एक पलकें मलता हुआ उठा और पूछने लगा, 'क्या बात है बाबूजी।' वह मोहन कुम्हार था। मैंने उससे कहा, 'कुछ नहीं, कुछ नहीं। सो जाओ मोहन, मेरे पेट में बड़े जोर से शूल उठा था, इसलिए बैठ गया था। अब ठीक है।'

अमरूद का पेड़

ज्ञानरंजन

घर के सामने अपने आप ही उगते और फिर बढ़ते हुए एक अमरूद के पेड़ को मैं काफी दिनों से देखता हूँ। केवल देखता ही नहीं, इस देखने में और भी चीजें शुमार हैं। तीन-चार साल में बड़े हो जाने, फूलने और फल देने के बाद भी उसकी ऊँचाई गंधराज या हरसिंगार के पेड़ से ज्यादा नहीं बढ़ी। शुरू-शुरू में तो परिवार के सभी लोगों ने उसके प्रति उदासीनता ही रखी या कहूँ लापरवाही बरती तो गलत नहीं होगा। राम-भरोसे पेड़ जब बड़ा हो गया और हमारे मकान का फ्रंट जब भरा-भरा लगने लगा तो सबसे पहले बाबू कन्हैयालाल की बूढ़ी पत्नी ने एक दिन टोका कि पश्चिम की तरफ अगर मकान का मुखड़ा हो और सामने अमरूद का पेड़ तो 'राम-राम बड़ा अशुभ होता है।' अम्मा के चेहरे पर थोड़ा-सा भय अपने कुनबे के लिए आया पर मुझे विश्वास था कि इन सब पिछड़े खयालातों का हमारे घर में गुजर नहीं हो सकेगा।

माँ अजमेर में जेल कर चुकी हैं—लंबा जेल। सत्याग्रह के दिनों में। पिता जी खुद राजनैतिक-सामाजिक उदारतावाले आदमी हैं। हमारी एक बुआ ने विवाह

नहीं किया और पढ़ने-लिखने में ही उन्होंने अपनी जिंदगी डुबो दी ओर समाज उन्हें कोई चुनौती देने का साहस नहीं कर सका। एक को छोड़कर हम सभी भाईयों में खिलाड़ीपन है। चचेरे ने अंतर्जातीय विवाह किया है और मुझे तरस आ गया कि कन्हैयालाल की बूढ़ी पत्नी कैसी बेहूदा-फूहड़ बात कहती है। खैर, यह तो ऊपरी बात हुई लेकिन मैं अक्सर पाता कि अंदरूनी तौर पर भी हम सभी लोगों में कहीं पिछड़ेपन की भर्त्सना का भाव अँकुरा रहा है। वैसे अम्मा की प्रीतिकर, सुंदर, गोरी मुखाकृति पर अमरूद के प्रसंग में हमेशा भय की व्याप्ति हो आती थी।

सत्तावन की बरसात में अकस्मात एक दिन मिहू ने सबको दौड़-दौड़कर बताया कि अमरूद में तीन-चार सफेद फूल आ गए हैं। मिहू की उमर बढ़ रही थी, उसकी आकृति पर वय का ओप चढ़ रहा था। अमरूद बढ़ने में कहीं उसे अपने विकास की-सी संतुष्टि अनुभव हुई होगी। वह खुश थी। बरामदे की खिड़की पर तेज बारिश में हम लोग छोटे-से पप्पू को खड़ा कर यह बताते कि 'वो देखो पप्पू बेटे, अमरूद का फूल।' 'अमरूद ता फूल।' मैं सोचता कि कहीं पानी के झोंकों में नरम फूल टूट न जाएँ। बहुतेरे फूल टूटे भी, लेकिन उनकी जगह नए फूल आते गए और फिर जल्दी से बीत जाने वाले सुखद दिनों में, छोटे-छोटे अमरूदों में बदल गए।

मुझे लगा कि हमारे घर के सामने का यह अमरूद हमारी जिंदगी का एक घरेलू हिस्सेदार होता जा रहा है। घोष बाबू के माली ने माँ को बताया कि पहली फसल के फल तोड़कर फेंक देने से दूसरी बारी में फल खूब अच्छे आते हैं। अमरूद और नींबू के साथ यह बात खास लागू होती है। माँ ने विजय से कहकर अमरूद की पहली फसल बड़ी दिलचस्पी से पूरी बाढ़ के पहले ही तुड़वाकर फिंकवा दी थी। यह बात आसानी से महसूस की जा सकती थी कि माँ में विराट मातृत्व है और वह भविष्य के लिए प्रतीक्षा कर सकती हैं, उसी तरह जैसे हर माँ अपनी संतान के लिए दीर्घ प्रतीक्षा किया करती है और फिर भी उसको अपना स्वप्न अधूरा लगता है। जो भी हो, मुझे प्रसन्नता हुई कि अपशकुनी विश्वासों की जहरीली छाया हमारे कोमल मीठे अमरूद तरु पर नहीं पड़ी।

तोते का पिंजरा सुबह दरवाजा खुलने के साथ ही अमरूद की एक छोटी-सी टहनी पर टँगा जाने लगा था। वह दोपहरी तक उस पर टँगा रहता। चुन्नु, मिहू और पप्पू ने फुर्ती से नाजुक फुनगियों तक चढ़ने की माहिरी इसी पेड़ से प्राप्त की। दशहरा, दीवाली, तीज-त्यौहार पर दादी की जीभ जब सूरन खाने

को ललचाती तो अमरूद की पत्तियों में सूरन को पकाकर स्वादिष्ट बनाने वाली जरूरत की पूर्ति भी वही पेड़ करता था। कहते हैं कि अमरूद की पत्तियों में सूरन को पकाने से सूरन गले में काटता नहीं है। लगने लगा था कि अमरूद का पेड़ ज्यों हमारी एक बड़ी सुविधा है या हमारे अंदर आत्मीयता को निरंतर धनिक बनाने वाला कोष।

दूसरे बरस के जाड़े में पेड़ खूब लदा-फदा था। अमरूद गोल, छोटे मगर ललछर चित्तियोंवाली जात के थे। ढैपियाँ मुलायम होते ही लोग उन्हें तोड़ लेते और पूरे जाड़े जी-भरकर घर में टमाटर और अमरूद का सलाद खाया गया। सुगमे के लिए कई महीन खूब पके अमरूद उपलब्ध होते रहे और बाहर के मेहमान हमारे घर के अमरूदों में इलाहाबाद के अमरूदों की प्रसिद्धि का इत्मीनान कर लेते थे।

यह बात मुझे बहुत रोमांचित करती थी कि हमारे घर तथा निकटतम संबंधियों के यहाँ नई पीढ़ी काफी अनुपात में आधुनिक हो चली है। मुझे मनःस्थितियों और वातावरण की इस तब्दीली का अध्ययन बड़ा सुखद लगा। हममें दृष्टिकोण की उदारता परिलक्षित होती और किसी भी घटना या आकस्मिकता या एक संपूर्ण परिस्थिति को हम लोग अनहोनी नहीं मानते थे। जीवन में सब सहज है, सब संभव। अमरूद की छाया में बेंत की कुर्सियों पर बैठ चर्चाएँ कर-करके हम तीन-चार भाई-बहनों ने अपने उम्र के फर्क को दोस्ताना हरकतों से भर दिया। प्रायः बैठकर, नए-नए विषयों को कुरेदकर, कभी ताप और उग्रता के वशीभूत होकर भी बातचीत करना, तेजी से हम लोगों के मनोरंजन और दैनिक निर्वाह का एक अंग होता जा रहा था। मैंने महसूस किया कि घर के बुजुर्गों के बारे में हम लोग अक्सर तुर्श भी हो उठते हैं, लेकिन हमें इस बात की निश्चिंतता थी कि ऐसा होने में अवांछनीय कुछ भी नहीं है, अपितु यह अच्छी बात है। नई चीजें यँ ही बनती हैं। जैसे अमरूद का पेड़ हम लोगों के बीच अपशकुन के आरोपों को नष्ट करता हुआ धीरे-धीरे बना और वह अब पूरे परिवार का एक खूबसूरत हिस्सा हो गया है।

अमरूद फलता-फूलता रहा और अब पप्पू ने एक निहायत छोटा-सा झूला भी उस पर डाल लिया। इधर हम भाई लोग धीरे-धीरे अलग-अलग शहरों के भूगोल में जुदा तरीकों की नौकरी के लिए बँटने लगे। यह कोई असामान्य बात नहीं थी, सिवाय इसके कि घर से अलग होने में थोड़ा-बहुत मानसिक क्लेश सबको होता था। जिस दिन मैं नौकरी पर जा रहा था, माँ रो रही थीं, इसलिए

मैं शीघ्रातिशीघ्र घर छोड़कर निकल जाने को तत्पर था। जमुना-पुल डूबी हुई साँझ में नदी पर से भारी मन से गुजरते हुए सबसे ज्यादा माँ और अमरूद के पेड़ की याद आई। माँ की याद इसलिए क्योंकि वह दुर्बल हैं और हम लोगों को न समझ पाकर क्रमशः जड़ होती जा रही हैं और अमरूद की याद इसलिए कि उसके माध्यम से मैं अपने अंदर एक जागृति का भान करता रहा। अमरूद का पेड़ मुझमें प्रतीकों का निर्माण किया करता है और फिर एक नए संसार की कल्पना में डूबकर शक्ति और आत्मसंतुष्टि पाता रहा हूँ।

अमरूद के पेड़ के प्रति समर्थन और राग मेरे मन में यूँ भी एकत्र हो आया क्योंकि बाद में कई लोगों ने घर के सामने अमरूद होने को अशुभ बताया और पेड़ को तुरंत कटवा देने की सलाह दी। माँ पर छा जाने वाला स्वाभाविक भय हमें नागवार गुजरता क्योंकि ऐसा लगता जैसे माँ हम लोगों के अंदर पैदा होने वाले नए और बलिष्ठ खयालों के प्रति असहयोग कर रही हैं। जब-जब अशुभ के ठेकेदारों ने अमरूद की बाबत कुछ कहा, घर के हम सब बच्चे क्षुब्ध हो उठते थे। वस्तुतः यह गुण हमें हमारे बुजुर्गों से ही मिला था। इस निर्णय पर हम लोग तब पहुँचे जब एक समाजशास्त्रीय बोध हमें स्पर्श करने लगा था।

जीवन नए अनुभवों में गुजरने में व्यतीत होता रहा। मिट्टू ने राखाल के साथ अमरूद भिजवाए थे और खत लिखा था कि 'इस बरस जबकि अमरूद भरपूर आया है, घर पर कोई नहीं है।' तथा नम कर देने वाली जज्बाती बातचीत के कई नाजुक टुकड़े। पिता जी की चिट्ठियाँ हमेशा ही कुछ दूसरे प्रकार की रही हैं। उनमें एहसास की चादर ओढ़ने का प्रयत्न या दबाव रहता है। मैं देखता हूँ कि थोड़े समय में ही दुनिया में बहुत परिवर्तन हो गया है और यह परिवर्तन तेजी से दूसरे परिवर्तन की भूमिका बनता हा रहा है। बड़े-बड़े घातक शरीर दुख मामूली और अचिंतनीय हो गए हैं और पिता जी लिखते हैं कि 'माँ के बाएँ फेफड़े में जो धब्बा था वह पुनः उभर आया है, यह सब किसी अशुभ ग्रह-नक्षत्र का दुष्परिणाम है। शायद हम लोगों के बुरे दिन आ गए हैं।' लेकिन मैं जानता हूँ कि अब यक्ष्मा बहुत आसान है और कहानियों में भी पात्रों का यक्ष्मा से ग्रसित होना, लोगों को द्रवीभूत नहीं कर पाता। अच्छे संपादक ऐसी कहानियों से ऊब गए हैं और उन्हें लौटाना ही श्रेयस्कर समझते हैं। फिर मृत्यु भी आज उतनी असह्य नहीं रह गई है। दुख शरीर से मन पर सिमट आया है। पिताजी ने एक बार यह भी लिखा कि 'सबसे बड़े भाई चूल्हा-चौका अलग करने के लिए एक तनाव पैदा कर रहे हैं। बड़ी चखचख है। बहू ताजी रोटियाँ तो खुद खा जाती है

और बासी हम लोगों के लिए रख देती है। तुम क्या जानो, हम लोगों का जीना मुहाल हो गया है। इधर तुम्हारी माँ अमरूद का पेड़ काटने को कहती हैं। सब लोग उसे अशुभ बता रहे हैं' आदि-आदि। यह एक दुखद प्रसंग था। हालाँकि मैंने अमरूद न काटने की अपनी बात पर ही जोर देने वाली एक चिट्ठी माँ को लिख दी थी।

राखाल हमारे पेड़ के जो अमरूद लाया था वे बाजारू अमरूदों की सुंदरता से बहुत भिन्न होकर भी स्वादिष्ट थे। अमरूदों के और दोस्तों के बीच अच्छा समय गुजारते हुए मैं किंचित भावुक हो आया। मुझे वे दिन याद आने लगे जब हम छोटे-छोटे थे और सुबह, दिन-दोपहरी दूसरे बँगलों की चारदीवारियाँ कूदकर अमरूदों की चोरी करते और पकड़े जाने पर बुरी तरह गिड़गिड़ाया करते। आज हमारे घर में भी अमरूद का पेड़ है तो एक अजीब-सा गौरव होता है—यह कि जिनके घर अमरूद नहीं होंगे, वे बच्चे ईर्ष्यालु हो गए होंगे, हमारी चारदीवारी कूदते होंगे। अमरूद के इस पेड़ की वजह रफता-रफता पप्पू के बहुत-से नन्हें-मुन्ने दोस्त हो गए हैं, ऐसा अम्मा ने लिखा था और भौजाई से उसे इस बात की बहुत डाँट पड़ती है कि वह क्यों अपनी तबीयत का राजा हो गया है, जिसे चाहे अमरूद लुटाया करता है।

